विश्वविद्यालय-स्वर्णजयन्ती-वर्ष में प्रस्फुटित

योगविद्या-विमर्श

(संस्कृतवाङ्मयाधारित योगानुशासन)

कुलपति प्रो. अशोक कुमार कालिया जी की प्रस्तावना से विभूषित

लेखिका एवं सम्पादिका

प्रो० (सुश्री) विमला कर्नाटक

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

LIGHTS OF UNIVERSITY GOLDENJUBILEE YEAR

UNIVERSITY-SILVERJUBILEE-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 50]

YOGAVIDYĀ-VIMARŚA

FOREWORD BY

PROF. ASHOK KUMAR KALIA

VICE-CHANCELLOR

WRITTEN & EDITED BY

PROF. VIMALĀ KARNĀṬAKA

Head, Sanskrit Department, Mahila Mahavidyalaya
Banaras Hindu University, Varanasi

VARANASI
2007

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

ISBN : 81-7270-201-9

❑

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221002.

❑

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❑

First Edition, 500 Copies
Price : Rs. 300.00

❑

Printed by—
GAURI SHANKAR PRESS
Madhyameshwar, Varanasi.

विश्वविद्यालय-स्वर्णजयन्ती-वर्ष में प्रस्फुटित

विश्वविद्यालय-रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला
[५०]

योगविद्या-विमर्श

[संस्कृतवाङ्मयाधारित योगानुशासन]

कुलपति प्रो. अशोक कुमार कालिया जी की प्रस्तावना से विभूषित

लेखिका एवं सम्पादिका
प्रो. (सुश्री) विमला कर्नाटक
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, महिला महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वाराणसी

२०६४ वैक्रमाब्द | १९२९ शकाब्द | २००७ खैस्ताब्द

प्रस्तावना

मैं अत्यन्त हर्षानुभूति के साथ **प्रो० विमला कर्णाटक** द्वारा प्रणीत **'योगविद्या-विमर्श'** नामक ग्रन्थ पर अपनी प्रस्तावना लिख रहा हूँ। प्रो० विमला कर्णाटक ने अपनी लगभग ३७५ पृष्ठ की पुस्तक में योगदर्शन की सभी शाखाओं के सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि योगदर्शन हमारी अनादि विद्या है। इस विद्या ने महर्षि व्यास, वाल्मीकि, कपिल, कणाद, गौतम बनाये और भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, शंकराचार्य जैसे दार्शनिक-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक आचार्य बनाये, साथ ही कबीर, सूरदास, तुलसीदास, गुरुनानकदेव, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, महात्मा गाँधी, महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय, माता आनन्दमयी एवं म०म० गोपीनाथ कविराज जैसे योगी और साधक भी निर्मित किये।

आज भी इस योग-विद्या का अवलम्ब लेकर **स्वामी रामदेव जी महाराज** भारत का गौरववर्द्धन कर रहे हैं। प्रायः सभी शास्त्रों के मूल में योगविद्या अनुस्यूत रही है। भारत का सङ्गीतशास्त्र बिना योगी बने सध नहीं सकता। इसीलिए स्कन्दमहापुराण के **'काशीखण्ड'** में यह प्रतिपादित है कि कभी ऐसा युग था, जब हर माता-पिता यह कामना करता था कि हमारे कुल में मुक्ति दिलाने वाला योगी उत्पन्न हो—

मा भूत् त्रैपुरुषी विद्या मा भूत् त्रैपुरुषं धनम् ।
मा भूत् त्रैपुरुषी मुक्तिः काशीं व्यासोऽशपन्निति ।।

(का० ख० ९६/१२५)

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में योगविद्या की परम्परा नष्ट होने तथा उनके द्वारा भगवान् सूर्य को प्रदान करने और भगवान् सूर्य के द्वारा भगवान् मनु और इक्ष्वाकु राजा को प्रदान करने की बात कही गई है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।

(गीता-४/१-३)

इस प्रकार योग-विद्याओं से सारा ब्रह्माण्ड ओत-प्रोत है। योग-विद्या को क्षुरिकोपनिषद् में **'मधु-विद्या'** भी कहा गया है। योग-विद्या के सिद्धान्त और प्रयोग मानव को मधुमती भूमिका में प्रतिष्ठापित करते हैं।

स्कन्दमहापुराण के काशीखण्ड में कहा गया है कि **योग की, तप की, व्रत की, मन्त्र की तथा तीर्थ की** सिद्धियाँ **'काशी'** में अवश्य ही साधक को शीघ्र प्राप्त हो जाती हैं—

योगसिद्धिरिहास्त्येव तपःसिद्धिरिहैव हि ।
व्रतसिद्धिर्मन्त्रसिद्धिस्तीर्थसिद्धिः सुनिश्चितम् ।।

(का० ख० ९४/४३)

यही योग जब सिद्ध होकर परिणामोन्मुख होता हुआ आत्मा को शरीर-बन्ध से मुक्त कराता है, तो महर्षि व्यास ने विह्वल होकर काशीखण्ड में प्रतिपादित किया है कि 'मैं समस्त वाङ्मय का मन्थन करने के अनन्तर घोषणा करता हूँ कि काशी में शरीर छोड़नेवालों की मुक्ति ध्रुव है'—

निर्मथ्य विष्वग्वाग्जालं सारभूतमिदं परम् ।
ब्रह्मणोदीरितं पूर्वं काश्यां मुक्तिस्तनुत्यजाम् ।।

(का० ख० ७९/३२)

ऐसी **'योग-विद्या'** की साधिका **प्रो० विमला कर्णाटक** ने अपना जीवन योग-विद्या के पुनरुज्जीवन में लगाया है और राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से इस विद्या को जन-जन तक पहुँचाया है। भारत की नयी पीढ़ियाँ उनकी आभारी रहेंगी।

निरन्तर योगानुसन्धान में तल्लीन परमविदुषी लेखिका का मैं हार्दिक मङ्गलाभिनन्दन करता हूँ।

यह ग्रन्थ प्रकाशन-संस्थान के निदेशक **डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी,** वहाँ के कर्मठ सहयोगी **डॉ० हरिवंश कुमार पाण्डेय, डॉ० ददन उपाध्याय, श्री कन्हई सिंह कुशवाहा** के समर्पित आत्मदान का फल है। अत: इन कर्मवीरों को शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

इस ग्रन्थ के मुद्रक **श्री शिवप्रसाद रस्तोगी** एवं हृदयावर्जक निबन्धनकार **श्री रमेश कुमार** को स्वस्तिवाक् प्रदान करता हूँ।

अन्तत: योगाग्नि से दीप्त इस ग्रन्थ को साम्बशिव योगपति के श्रीचरणों में समर्पित करता हूँ।

वाराणसी
अक्षय-तृतीया,
वि०सं० २०६५

(प्रो० अशोक कुमार कालिया)
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

प्रकाशकीय

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय का प्रकाशन-संस्थान संस्कृत-वाङ्मय के सेवकों तथा सेविकाओं के लिए एक ऐसा मञ्च प्रदान करता रहा है, जिस पर आरूढ़ होकर अनाम लेखकों और लेखिकाओं ने यश, सौख्य, गौरव तथा प्रतिष्ठा पायी है। इस विश्वविद्यालय के प्रकाशन-संस्थान द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों को आधार बनाकर विद्वानों एवं विदुषियों ने पद्मभूषण, पद्मश्री, राष्ट्रपति पुरस्कार, बिरला फाउण्डेशन के पुरस्कार तथा उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान के नाना पुरस्कारों के साथ विश्वभारती पुरस्कार भी प्राप्त किये हैं। मेरे स्मृति-पटल पर कुछ ऐसी संस्कृत-वाङ्मय की विभूतियाँ कौंध रही हैं, जो विश्वविद्यालय के प्रकाशन-संस्थान से प्रकाशित अपनी पुस्तकों को पाथेय बनाकर इस विश्वविद्यालय के कुलपति पद को प्राप्त करने के लिए धावमान रही हैं।

मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि यहाँ से प्रकाशित अपनी पुस्तकों तथा अनुसन्धानपूर्ण लेखों के प्रतिमुद्रणों को लेकर सहस्राधिक संस्कृत-सेवक जीविकार्जन कर सके हैं। **धन्य है यह विश्वविद्यालय तथा इसका प्रकाशन-संस्थान, जिसे आज की तिथि में राष्ट्रीय स्तर पर एवं अन्ताराष्ट्रिय स्तर पर विश्वविद्यालय की सारस्वत-क्रियाशीलता का प्रतिनिधि होने का गौरव प्राप्त हुआ है।**

यह तो रही गौरव-गाथा। इस गाथा से इतर एक और गाथा की ओर विद्वानों, आचार्यों, विश्लेषकों एवं मनीषियों का ध्यान आकृष्ट कराना अपना परम कर्त्तव्य मानता हूँ। **इस विश्वविद्यालय के सरस्वतीभवन-पुस्तकालय में अरबों पृष्ठ हस्तलिखित-पाण्डुलिपियाँ ऐसी हैं, जिनका स्वातन्त्र्योत्तर भारत में अवलोकन, विलोकन, वाचन, विश्लेषण, ज्ञानाविष्करण तथा अनुसन्धान नहीं हो पाया है, जो वर्तमान एवं भावी पीढ़ियों के लिए शुभ सङ्केत नहीं है।**

परम विदुषी प्रो० विमला कर्णाटक वर्तमान समय में वह मील का पत्थर हैं, जिन्होंने अपनी तपस्या एवं रचनाओं से बराबर वर्तमान एवं भावी पीढ़ी के लिए अङ्गुलि-निर्देश किया है। वे निरन्तर इस प्रकार के सारस्वत-यज्ञ की यजमान रही हैं और उनकी सारस्वत आहुतियों का धूम एवं सुगन्धि विद्वज्जगत् द्वारा अनुभूत की जाती रही है।

ऐसी तपोनिष्ठ, ज्ञाननिष्ठ, योगनिष्ठ, प्रयोगनिष्ठ विदुषी को मैं शिरसा नमन करता हूँ।

यह महनीय ग्रन्थ जिनके पुण्य-प्रभाव, तप:प्रभाव एवं ज्ञान-प्रभाव से मूर्त्तरूप ग्रहण कर सका है, ऐसे ऋषिकल्प माननीय कुलपति **प्रो० अशोक कुमार कालिया जी** को शिरसा प्रणाम करता हूँ।

वाराणसी
रामनवमी,
वि०सं० २०६५

(डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी)
निदेशक
प्रकाशन-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

कृतज्ञता-ज्ञापन

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतवर्ष का गौरवपूर्ण प्रतिष्ठित राष्ट्रीय ज्ञानपीठ है। स्व-स्व-शास्त्र के निष्णात लब्धकीर्ति आचार्यों का यह अद्भुत सङ्गमस्थल है। आचार्यों की तेजस्विता का परिचायक इस विश्वविद्यालय का महत्त्वपूर्ण प्रकाशन-संस्थान है। यह महिमामण्डित आचार्यों की ज्ञानरश्मियों की संरक्षित प्रयोग-शाला है। यह ग्रन्थ-लेखकों की मान-मर्यादा का मानदण्ड है । मत्सदृशा लेखिका की लघुता को प्रभुता में परिवर्तित कराने में इसका गौरवपूर्ण इतिहास रहा है। यहाँ के बहु-आयामी-प्रतिभा के धनी कुलपतियों की शृङ्खला में वर्तमान कुलपति **प्रो० अशोक कुमार कालिया** का प्रबुद्ध नेतृत्व अविस्मरणीय है।

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय के प्रकाशन-संस्थान के सम्माननीय दूरद्रष्टा निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी जी** की विशेषतया आभारी हूँ, जिन्होंने अपने संस्थान से **'योगविद्याविमर्श'** नामक ग्रन्थ को मुद्रित एवं प्रकाशित कराकर लेखिका का उत्साहवर्धन किया है। एतदर्थ विश्वविद्यालयीय समस्त औपचारिकताओं को संस्तुत कराने में उन्होंने जो दक्षता प्रदर्शित की है, वह उनके महनीय प्रशासनिक व्यक्तित्व की परिचायिका है । आपमें सत्यप्रतिज्ञता, सद्‌गुणधारकता, कृपालुता, सहनशीलता तथा ज्ञान-विज्ञान-गभीरता का मञ्जुल समन्वय है । **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी जी** के व्यक्तित्व के ये विशेषणमात्र नहीं, अपितु उनमें स्वतः विशेष्यरूप में पुञ्जीभूत हैं । लेखिका को दूरभाष से ही आपमें सन्निहित इन सात्त्विक गुणों की अनुकरणीय अनुभूति हुई है । आपके प्रति हृदय से नतमस्तक हूँ । भवत्सदृश महनीय व्यक्तित्व के प्रति कृतज्ञताज्ञापन तो औपचारिकतामात्र है, लेखिका तो सर्वदा आशीर्वाद की आकाङ्क्षिणी है । आप वकारपञ्चक के मूर्तिमान् हैं—

विद्यया वपुषा वाचा वेषेण विनयेन च ।
वकारैः पञ्चभिर्युक्तो नरः कीर्तिमवाप्नुयात् ।।

'वाद' की परिधि को सीमित न कर लेखिका विश्वविद्यालय के प्रकाशनमण्डल एवं परामर्शदातृमण्डल के प्रति भी **'धन्य'** है । प्रूफरीडिङ्ग में सम्भावित त्रुटियों का दायित्ववहन करती है लेखिका ।

इति विदुषां वशंवदा
विमला कर्णाटका

आश्विनशुक्लनवमी तिथि
विक्रम संवत् २०६४
अक्टूबर २०, २००७

उपस्थानिका

योग आध्यात्मिकः पुंसामतो निःश्रेयसाय मे ।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य सुखस्य च ।।

श्रीमद्भागवत ३/२५/१३

भगवती जगदम्बिका की अनुकम्पामयी दृष्टि से उत्प्रेरित होकर मैं विद्यार्थी जीवन से विद्याप्रकल्प के योगयज्ञ में शब्दमयी आहुति प्रदान करने के लिये दर्शनशास्त्र की योगविधा पर विशेषत: लेखनकार्य द्वारा यथाशक्ति समर्पित रही हूँ। सर्वदा लघु प्रयास यही रहा कि संस्कृतवाङ्मय में समाच्छादित अध्यात्मप्रधान योगविद्या का विमर्शात्मक आलोडन कर उससे सम्बन्धित वाङ्मय का संवर्द्धन एवं परिवर्धन किया जा सके । इस अभ्यास-क्रम में दशाधिक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। विद्योद्यान का यह अग्रिम ग्रन्थपुष्प योगमय ज्ञानयज्ञ में आहुति के लिये तत्पर है। भगवद्गीता का वचन है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽऽत्मनि विन्दति ।।

भगवद्गीता ४/३८

प्रस्ताविक लघुप्रयास की ओर यह सत्प्रवृत्ति तब उदित हुई जब यह शुभेच्छा बलवती हुई कि क्यों न पातञ्जलयोगदर्शन को ध्रुवीकृत कर वैदिक युग से लेकर दर्शनयुग तक समस्त शास्त्रों में अवच्छिन्न सम्प्रदायपुरस्सर योगविद्या के अनुदान का जीवन्त अनुशीलन किया जाय और तत्-तत् शास्त्रों में योगविद्या के प्रतिपादित सुरभिमय सिद्धान्तों का तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक अध्ययन कर उसे एक पुष्प-ग्रन्थ में ग्रथित किया जाय।

एतदर्थ उपनिषद्वाङ्मय, श्रीमद्भागवत, योगवासिष्ठ, भगवद्गीता, घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिकासहित जैनदर्शन, बौद्धदर्शन, सांख्य-योगदर्शन, न्याय-वैशेषिकदर्शन, मीमांसा-वेदान्तदर्शन, शिवयोग, वामतन्त्रयोग, पातिव्रत-योग नादानुसन्धानयोग, प्रस्तरकलाप्रधानयोग, आधुनिक प्राकृतिक-यौगिक

चिकित्सा-पद्धति से सम्बन्धित ग्रन्थों का समाश्रयण कर 'योगविद्या' को एक स्थल पर उद्भावित करने का प्रयास किया गया है । ईश्वर, मोक्ष, जगत् आदि महनीय विषयों का भी समावेश कर उसे वैषयिक सर्वाङ्गीणता प्रदान करने की दिशा में भी लेखिका का यह अपने ढंग का अनूठा प्रयोग है । मेरे इस प्रयास को विशेष बल तब प्राप्त हुआ जब योगशास्त्र के अधिकृत अध्येताओं की इस दिशा में मुझे पूर्ण सहमति प्राप्त हुई । अतः इस ग्रन्थ के लेखनकार्य के समय जिज्ञासु सुधीजन की सहावस्थिति का अवबोध मुझे होता रहा है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ पटलत्रय में विभाजित है । प्रथम पटल में 'विभिन्न शास्त्रों में प्रतिपादित योग का स्वरूप', द्वितीय पटल में 'योगविद्या का तुलनात्मक अध्ययन' तथा तृतीय पटल में 'योगविद्या के विविध आयाम' शीर्षक को दृष्टिपथ में रखकर द्वात्रिंशत् विषयों की गवेषणापूर्ण ज्ञानमञ्जूषा शास्त्रोद्धरणसहित सुसज्जित है । उपसंहाररूप में महर्षि पतञ्जलि के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्रों की आशयानुसारी पद्यमयी प्रस्तुति भी हुई है ।

'योगविद्याविमर्श' नाम से अङ्कित लेखिका का यह सुदीर्घकालिक अध्यवसाय सुधीजन के समक्ष प्रस्तुत है । कर्तव्य की यह इतिश्री अध्येताओं के आलोचनाधिकार को उन्मुक्त करती है । गीतोक्त वचन है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।

भगवद्गीता ५/५

अश्विनशुक्लनवमी तिथि
विक्रमसंवत् २०६४
अक्टूबर २०, २००७

इति विदुषां वशंवदा
विमला कर्णाटका

विषयानुक्रमणी

प्रथम पटल : विभिन्न शास्त्रों में प्रतिपादित योग

द्वितीय पटल : योगविद्या का तुलनात्मक अध्ययन

तृतीय पटल : योगविद्या के विविध आयाम

●

प्रथम पटल : विभिन्न शास्त्रों में प्रतिपादित योग

- उपनिषदों में योगचर्चा
- श्रीमद्भागवत में योगचर्या : एक दार्शनिक पक्ष
- योगवासिष्ठ में योग
- भगवद्गीतान्तर्गत अष्टादशाङ्गयोग : एक विमर्श
- तन्त्र में योग
- वाम-कौल-तान्त्रिक योग
- शिवयोग विमर्श
- लययोग का स्वरूप एक यौगिक दृष्टि
- नादानुसन्धान
- पातिव्रतयोग : एक परिशीलन

योगविद्याविमर्श

उपनिषदों में योग-चर्चा

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्धते ।
योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते ।।

'योग' भारतीय अध्यात्म एवं संस्कृति की सर्वप्राचीन तथा अमूल्य निधि है। भारतीय वाङ्मय में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी महत्ता न केवल वैचारिक गम्भीरता के कारण है, अपितु मानव जीवन के ऐहिक एवं पारलौकिक उपलब्धियों के प्रमुख साधन होने के कारण भी है। भौतिकता से अनासक्त होकर मनुष्य अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिये एवं अभिनव आशाओं तथा उमंगों से परिपूर्ण करने के प्रयास में अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाता है। अन्तर्निहित चेतना को स्वस्वरूप में स्थित करना चाहता है। इस दुर्लभ लक्ष्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन योग है। यह भारतीय अध्यात्मविद्या एवं तत्त्वज्ञान के गूढ रहस्यों के रसास्वादन की कुञ्जी है। योगबल के द्वारा ही ईश्वर विश्व का सृजन, नियमन एवं पालन करते हैं। योग के द्वारा ही प्राचीन ऋषियों को अपूर्व अन्तर्दृष्टि एवं प्रातिभज्ञान की प्राप्ति हुई थी। ऋषियों ने मन्त्रों का साक्षत्कार एवं आर्ष ग्रन्थों का प्रणयन भी योग द्वारा ही किया था। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व का निर्माण योगबल से हुआ है।

आर्ष ग्रन्थ : योग की गङ्गोत्री

समस्त उपनिषदों में प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से योग का वर्णन अवश्य हुआ है। उपनिषदों में योगविषय पर्याप्तरूप में प्राप्त होता है। किन्तु योग की गङ्गोत्री वैदिक संहिताएँ ही हैं। क्योंकि वैदिक संहिताओं में ही योग की आदिम रूपरेखा प्रस्फुटित हो चुकी थी। उपनिषदों में यह रूपरेखा पल्लवित एवं पुष्पित होकर अत्यन्त सुव्यक्तरूप में अपनी परिपूर्णावस्था को प्राप्त होती है। पुराण, महाभारत, तन्त्र तथा धर्मशास्त्र में योग की यह धारा गङ्गा की

जलधारा में समाहित असंख्य औषधीय गुणों की भाँति, अविरल गति से प्रवृद्ध होती हुई कालान्तर में; मध्याह्नकालिक सूर्य की प्रखर रश्मियों की भाँति, पतञ्जलि के योगदर्शन के रूप में हम अध्येताओं के समक्ष आती है। योग की यह धारा यहीं अवरुद्ध नहीं हुई, अपितु व्यास, वाचस्पति, भोज, विज्ञानभिक्षु, नागेशभट्ट, सदाशिवेन्द्रसरस्वती आदि ग्रन्थकारों की रचनाओं से परिपुष्ट होती हुई सम्प्रति भी पुण्यसलिला भगवती भागीरथी की विमल धारा की भाँति श्रद्धा एवं भक्ति का भाजन बनी है। योगार्णव में अवगाहन कर प्रत्येक सम्प्रदाय के आचार्यों ने स्वकीय ग्रन्थमञ्जूषा में वैचारिक योगमणियों को संरक्षित किया है। सर्वत्र योगविद्या प्रतिभासित हो रही है।

योग प्रायोगिक विद्या

योग सर्वोपरि प्रायोगिक विद्या है, अतः आधुनिक शब्दावली में 'विज्ञान' की संज्ञा 'योग' को प्राप्त है। इसे अध्यात्मविज्ञान कहते हैं। यह परम कल्याण का प्रशस्त मार्ग है। यह मानवजीवन के ऐहिक एवं पारलौकिक उपलब्धियों को प्राप्त कराने का मुख्य साधन है। भारतीय दर्शन में वर्णित मानवजीवन के चार पुरुषार्थ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सम्यक् प्राप्ति योग के माध्यम से ही सम्भव है। विभिन्न दर्शनों में इनकी प्राप्ति के लिये ज्ञान की व्याख्या की गई है। किन्तु जिस प्रकार मात्र औषधि के नामोच्चारण से रोगी रोगमुक्त नहीं हो सकता है, उसी प्रकार केवल क्रियाहीन ज्ञान से हमें कदापि लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। सैद्धान्तिक तत्त्वज्ञान का व्यावहारिक जीवन में उपयोग करने का विधान योग में बतलाया गया है। अर्थात् योग में मानव जीवन के समस्त पक्षों पर विचार कर सात्त्विक जीवन व्यतीत करने का उपाय बतलाया गया है। जिसके अनुसार आचरण कर मनुष्य मानवोचित उत्कर्ष को प्राप्त कर चरम लक्ष्य की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। प्राचीन काल में लोगों ने इसी के अनुसार आचरण कर उत्कृष्टता को प्राप्त किया। सर्वाङ्गग्राह्य योगविद्या के आसन एवं प्राणायाम के अभ्यास से मनुष्य के जीवन में सम्प्रति चमत्कारी परिवर्तन आया है। योगविद्या के भूमण्डलीकरण ने इस विज्ञान के प्रति आस्था जागरित की है। वे नतमस्तक हैं—योगविज्ञान के प्रति।

उपनिषद्-वाङ्मयादर्श

भारतीय संस्कृति का मूलग्रन्थ वेद है एवं वेद की अन्तिम शब्दराशि उपनिषद् नाम से विख्यात है। इस कारण उपनिषदों की महिमा भारतीय

संस्कृति तथा दर्शन के पोषक ग्रन्थ के रूप में है। उपनिषद् वेद का ज्ञानकाण्ड है। यह चिरप्रदीप्त वह ज्ञान-दीपक है जो सृष्टि के आदि से प्रकाश देता आ रहा है और लयपर्यन्त यथावत् प्रकाशित होता रहेगा। इसके प्रकाश में वह अमरत्व है, जिसके द्वारा सनातन धर्म का मूल सिञ्चित हुआ है।

उपनिषदें समय की दृष्टि से हमसे सुदूर होते हुए भी अपने चिन्तन से सुदूर नहीं हैं। वे जाति और भौगोलिक स्थिति के भेदों से ऊपर उठने वाली मानवीय आत्मा की प्रारम्भिक अन्त:प्रेरणाओं की क्रिया को विकसित करती हैं। वे जीवन की समस्त दिशाओं में प्रकाश देने वाली अखण्ड परमज्योति हैं। परमात्मा के पुनीत मार्ग की पथप्रदर्शिका हैं और परमात्मा के विभिन्न रूपों के निर्भ्रान्त और समन्वयात्मक स्वरूप का साक्षात्कार कराने वाली हैं।

विद्वानों ने उपनिषद् शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की है, जिसके विवेचन से ही इस शब्द के अर्थ को सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय लगाने पर स्त्रीलिङ्ग में उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। षदॢ विशरणगत्यवसादनेषु अर्थ वाली षद् (सद्) धातु के अनुसार विशरण (हिंसन), गति (प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना) अर्थ हैं। तदनुसार उपनिषद् शब्द का अर्थ है—वह विद्या जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले सांसारिक क्रिया-कलापों अर्थात् अविद्या का नाश करे। इससे संसार की कारणभूता अविद्या का बन्धन समाप्त हो जाता है और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के सम्बन्धभाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं—

सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषच्छब्दवाच्या तत्पराणां स हेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात् । उपनिपूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात् ।

बृहदारण्यकोपनिषद्, सम्बन्धभाष्य पृ. ३०

सद् धातु के तीनों अर्थों की व्याख्या करते हुए शङ्कराचार्य कहते हैं—"अविद्या आदि संसार के बीज का विनाश करती है, ब्रह्म की प्राप्ति कराती है और स्वर्गलोकरूप फल की प्राप्ति के कारणरूप से लोकान्तरों में बारम्बार प्राप्त होने वाले गर्भवास, जन्म, वृद्धावस्था एवं मरण आदि उपद्रवों का अवसादन करने वाली है, अर्थात् इनको शिथिल करती है।"

उपनिषद् शब्द का दूसरा अर्थ है—उप = समीप, निषद् = बैठना। गुरु के समीप में बैठना अर्थात् गुरु के समीप श्रद्धापूर्वक बैठकर ज्ञान प्राप्त करना। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को समीप बैठाकर रहस्य का ज्ञान कराते हैं एवं अज्ञान का विनाश कर परमानन्द का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

यहाँ शङ्का होती है कि 'विद्या' पढाई नहीं जाती है अपितु ग्रन्थ पढ़ाया जाता है। तो इस स्थिति में **उपनिषदं भो ब्रूहि** (केनोप. ४/७) प्रयोग क्यों हुआ है? इसका उत्तर है कि ब्रह्मविद्या जिन ग्रन्थों में उपनिषद् की गई है वे ग्रन्थ भी उपनिषद् कहलाते हैं।

वेद का अन्तिम भाग होने से उपनिषद् को वेदान्त भी कहते हैं अथवा वेद का चरम तात्पर्य उपनिषद् में वर्णित होने के कारण भी इसे वेदान्त कहते हैं—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः ।

मुण्डकोपनिषद् ३/२/६

वेदान्तसार में **वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणम्** कहा गया है। वेदान्त से अतिरिक्त श्रुतिशिखा (**श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरः**, अद्वैतमञ्जरी) तथा श्रुतिशिरः (**श्रुतिशिरोवचनेषु संक्षेपः**, शारीरक १/१०३) आदि शब्दों का प्रयोग भी उपनिषद् के लिये हुआ है। उपनिषद् शब्द का प्रयोग 'रहस्य' के अर्थ में भी होता है। यथा—**गुह्या आदेशा** (छान्दोग्य उप. ३/५/२) एवं **परमं गुह्यम्** (कठ उप. १/३/१७)। रहस्य का तात्पर्य उपनिषदों में वर्णित उन विचारों से है, जो अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होते हैं। रहस्य को द्योतित करने वाला सर्वाधिक गूढतत्त्व ब्रह्म है। उपनिषद् सत्य के विज्ञान को ग्रहण करती है। इसलिये यह उपनिषद् पराविद्या, अध्यात्मविद्या तथा ब्रह्मविद्या कहलाती है।

उपनिषद् वेद के शिरोभाग के नाम से जानी जाती हैं। वेद अपौरुषेय हैं। इस दृष्टि से उपनिषदों के रचनाकाल का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। फिर भी तुष्यतुदुर्जनन्याय से यह मानना उचित ही होगा कि जो उपनिषद् जिस वेद का अन्तिम भाग है, उसका रचनाकाल वही होगा जो उससे सम्बद्ध वेद का है।

वर्तमान समय में उपलब्ध उपनिषदों की संख्या में भी मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों के अनुसार उपलब्ध उपनिषदों की संख्या दो सौ से भी

अधिक है। भारतीय परम्परा में उपनिषदों की संख्या एक सौ आठ बतलाई गई है। मुक्तिकोपनिषद् में एक सौ आठ उपनिषदों का नाम भी गिनाया गया है। वे सभी निर्णय सागर प्रेस मुम्बई से मूल गुटका के रूप में प्रकाशित हैं। इक्हत्तर उपनिषदों का एक संग्रह सन् १९३३ में अडियार लाइब्रेरी मद्रास से प्रकाशित हुआ है। कोलबुक के संग्रह में बावन उपनिषदें थीं। गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बम्बई से प्रकाशित उपनिषद्वाक्यमहाकोष में दो सौ तेईस उपनिषदों का नाम आया है। निष्कर्ष रूप में प्रधान उपनिषदों की संख्या ग्यारह अथवा तेरह है। ज्ञातव्य है कि शङ्कराचार्य ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डुक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर तथा बृहदारण्यक इन ग्यारह उपनिषदों पर भाष्य लिखा है।

दर्शनसिद्धान्तादर्श

भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों पर औपनिषद विचारधारा का प्रतिबिम्ब स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि सभी आस्तिक सम्प्रदाय अपने-अपने सिद्धान्तों का आदि स्रोत उपनिषदों को ही मानते हैं एवम् अपने पक्ष की पुष्टि के लिये उपनिषद् मन्त्रों एवं श्रुति को ही प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं। यह कहा जा सकता है कि उपनिषद् भारतीय दर्शन का एक ऐसा उद्गम स्थल है, जहाँ से सभी दार्शनिक सम्प्रदाय अनेक सरिताओं की भाँति प्रवाहित हुए हैं। उपनिषदों में ही सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के मूलभूत आधार निहित हैं, चाहे वे सम्प्रदाय आस्तिक हों अथवा नास्तिक। जडवाद के समर्थक चार्वाक ने भी तैत्तिरीयोपनिषद् के मन्त्र को उद्धृत किया है—

स वा एषः पुरुषो अन्नरसमयः ।

तैत्तिरीयोपनिषद् २/१/१

शून्यवाद के समर्थक बौद्ध दार्शनिक भी उपनिषद् के मन्त्र को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं, जिसका अर्थ है—पहले यह असत् ही था।

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत ।

तैत्तिरीयोपनिषद् १/७

यह मन्त्र बौद्धदर्शन में प्रमाण के रूप में प्राप्त होता है। कुमारिल भट्ट ने यह सिद्ध किया है कि बौद्धदर्शन के विज्ञानवाद, क्षणभङ्गवाद, आत्मवाद तथा वैराग्यवाद सभी उपनिषद् से ही निकले हैं—

विज्ञानमात्रक्षणभङ्गनैरात्म्यवादानामपि उपनिषत्प्रभवत्वम्।
विषयेषु आत्यन्तिकं रागं विनिवर्तयितुमिति उपपन्नं सर्वेषां प्रामाण्यम्।

तन्त्रवार्त्तिक १

सांख्य के आचार्य सत्कार्यवाद को प्रमाणित करने के लिये छान्दोग्योपनिषद् का मन्त्र उद्धृत करते हैं—

सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।

छान्दोग्योपनिषद् ६/२/१

सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीनों गुणों को प्रमाणित करने के लिये भी उपनिषद् का मन्त्र ही उद्धृत करते हैं—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/५

उपनिषदों में पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, पञ्चमहाभूत आदि का भी वर्णन है—

ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहंकारः। अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि। पञ्चभूतेभ्योऽखिलं जगत्।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १

इन सभी विषयों का स्पष्टीकरण सांख्यदर्शन में भी प्राप्त होता है। योगदर्शन के मूल आधार भी उपनिषद् में ही मिलते हैं। उपनिषदों में भी योग का विशद विवेचन प्राप्त होता है। उपनिषद् में जिस योग के लक्षण एवं अष्टाङ्गयोग का वर्णन है, वही योगदर्शन में भी वर्णित है। उपनिषदों में वेदान्त के **अहं ब्रह्मास्मि** एवं **तत्त्वमसि** महावाक्यों का सार समझाया गया है। विवर्तवाद, माया एवं अविद्या आदि का प्रतिपादन भी उपनिषदों में हुआ है। पैङ्गलोपनिषद् में सृष्टिक्रम में पञ्चीकरण की प्रक्रिया का भी वर्णन है। जीवन्मुक्त एवं विदेहमुक्त का वर्णन भी कई स्थानों पर दृष्टिगोचर होता है। निष्कर्षरूप में सभी दर्शनों का बीज उपनिषद् ही है।

प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी उपनिषदों के विषयों में मुख्य विषय योग ही है। उपनिषदों में योग की साधन-प्रणाली एवं उसके भेद-प्रभेद की व्याख्या हुई है, किन्तु दर्शनयुग को ही योग के पूर्ण विकास का स्वर्णकाल

कहा जा सकता है। दर्शनकाल में ही साधन-प्रधान इस विद्या ने स्वतन्त्र दर्शन का रूप धारण किया। योग को दर्शनरूप में विभूषित करने का महनीय कार्य महर्षि पतञ्जलि ने ही किया है। इन्होंने योग को सूत्रात्मक शैली में निबन्धित कर उसे चार पादों में विभक्त किया है। पतञ्जलि का योग चित्तवृत्तिनिरोध की भूमि पर प्रतिष्ठित है। पतञ्जलि के न्यायरूपलक्षण, युक्तिशृंखला, प्राञ्जलता एवं उनके सिद्धान्तों की व्यावहारिकता तथा अकाट्यता सभी कुछ अतुलनीय हैं। उपनिषदों में यत्र-तत्र प्राप्त अशृंखलित योगतत्त्वों को पतञ्जलि ने एकत्रित कर उसे योगदर्शनशास्त्र का रूप प्रदान किया है।

सम्प्रति, योगविद्या के अनुसन्धित्सुओं के लिये औपनिषद योग एवं पातञ्जलयोग का तुलनात्मक अनुशीलन करने के लिये उपनिषदों में वर्णित योगचर्चा को यथासम्भव संस्पर्श किया जा रहा है।

औपनिषद-योगविद्यादर्श

अद्वयतारकोपनिषद् में तारकयोग के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भेद करते हुए उसे अमनस्कफलप्रद बतलाया है—

तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः ।
पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति ।।

अद्वयतारकोपनिषद् १

अमृतनादोपनिषद् में षडङ्गयोग का वर्णन है। ये योग के प्रसिद्ध षडङ्ग से भिन्न हैं। इसमें प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि— ये छः योग के अङ्ग वर्णित हैं—

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा ।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ।।

अमृतनादोपनिषद् ६

आगम से अविरुद्ध अनुमान को 'तर्क' कहा गया है—

आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते ।।

अमृतनादोपनिषद् १७ पूर्वार्द्ध

यद्यपि षडङ्गों में आसन का उल्लेख नहीं है किन्तु समाधि सिद्धि के

उपाय के रूप में पद्मक, स्वस्तिक, भद्रासन और योगासन को मान्यता प्राप्त है—

पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा ।

बद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखस्थितः ।।

अमृतनादोपनिषद् १९

अमृतबिन्दूपनिषद् में विषयात्मक मन बन्ध का तथा निर्विषयक मन मुक्ति का कारण कहा गया है। अर्थात् विषयासक्ति से मुक्त और हृदय में निरुद्ध मन जब अपने अभाव को प्राप्त होता है, तब उसे परमपद प्राप्त होता है—

निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि ।

यदा यात्यात्मनोऽभावं तदा तत्परमं पदम् ।।

अमृतबिन्दूपनिषद् ४

तब तक हृदय में मन का निरोध करना चाहिए जब तक उसका क्षय न हो जाय। इसी को ज्ञान कहते हैं और ध्यान कहते हैं, शेष न्यायविस्तर है—

तावदेव निरोद्धव्यं यावद् हृदिगतं क्षयम् ।

एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायस्य विस्तरः ।।

अमृतबिन्दूपनिषद् ५

इसके पश्चात् ज्ञान का स्वरूप तथा ध्यान का प्रकार कहा गया है।

क्षुरिकोपनिषद् में प्रसिद्ध षडङ्ग-आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि—संक्षेपतः कहे गये हैं। **आसनमवस्थितः** कहकर छोड़ दिया है। किसी आसनविशेष का नाम नहीं लिया है।

तेजोबिन्दूपनिषद् उपरिवर्णित उपनिषदों से विस्तृत उपनिषद् है। इसमें छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में परब्रह्मस्वरूप तथा परब्रह्मावगतिसाधन रूप पञ्चदशाङ्गयोग कहा गया है। यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि—योग के ये पञ्चदश अङ्ग क्रमशः बतलाये गये हैं—

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः ।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ।।
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि क्रमात् ।।

तेजबिन्दूपनिषद् १/१५-१६

'यम' आदि का स्वरूप भी भिन्न प्रकार से कहा गया है। इसमें यम का लक्षण करते हुए उपनिषदकार ने लिखा है कि यह सब ब्रह्मरूप है, इस ज्ञान से इन्द्रियों का संयम करना ही 'यम' कहलाता है। इसी का पुंनः-पुनः अभ्यास करना चाहिए। वचन है—

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ।।

तेजबिन्दूपनिषद् १/१७

इसके द्वितीय अध्याय में अखण्डैकरसत्व तथा चिन्मात्रत्व-भावना द्वारा सबका एकरूप प्रतिपादन किया गया है। तृतीय अध्याय में ब्रह्मानुभव का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति आदि का वर्णन है। शेष दो अध्यायों में वेदान्तप्रतिपाद्य तत्पदार्थ एवं त्वं पदार्थ के अभेद का निरूपण है।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—अवर्गीकृत शुक्लयजुर्वेदीय इस उपनिषद् का प्रारम्भ सृष्टिक्रम से हुआ है। इसके अनुसार योग के दो प्रकार हैं—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग।

१. विहित कर्मों में इस बुद्धि का होना कि 'यह कर्तव्य कर्म है,' मन का ऐसा नित्य बन्धन कर्मयोग कहलाता है—

कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ।
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते ।।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २५उ.-२६पू.

२. श्रेयोऽर्थ में चित्त का सदा बद्ध रहना ज्ञानयोग है, ऐसा समझना चाहिए। यह ज्ञानयोग सब सिद्धियों को देने वाला और मंगलकारक है—

यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम् ।
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ।।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २६ पू.-२७ उ.

इसके अनन्तर अष्टाङ्गयोग को निर्विशेष ब्रह्मज्ञानोपाय बतलाया है। इसमें योग के प्रसिद्ध अष्टाङ्ग वर्णित हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। यम के दश भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार तथा शौच—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ।।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् ३२-३३

नियम के भी दश भेद हैं—तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, हरि-जप, वेदान्तश्रवण, ह्री, मति, जप तथा व्रत—

तपः सन्तुष्टिरास्तिक्यं दानमाराधनं हरेः ।
वेदान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ।।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् ३३-३४

इसमें कुछ प्रमुख आसनों का वर्णन मिलता है। आसनों के नाम हैं—स्वस्तिक, गोमुख, वीर, योग, पद्म, बद्धपद्म, कुक्कुट, उत्तानकूर्मक, धनु, सिंह, भद्र, मुक्त, मयूर, सिद्ध, मत्स्य पश्चिमतान तथा सुख ।

प्राणायाम का वर्णन करने से पहले इस उपनिषद् में अग्निस्थान, नाभिस्थान, नाडीचक्र, कुण्डलिनी, नाडीकन्द, नाडीचर वायु का विशद प्रतिपादन किया गया है। केवलकुम्भक, सहितकुम्भक और नाडीशोधक प्राणायाम, प्राणायाम का फल तथा प्राणधारण से रोगनाश आदि इसके अनन्तर कहे गये हैं। वचन है—

सर्वरोगैर्विनिर्मुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः ।
कुक्षिरोगविनाशः स्यान्नाभिकन्देषु धारणात् ।।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १०९

प्रत्याहार, अष्टादश मर्मस्थानों में से प्रत्येक स्थान में मन के द्वारा परमात्मा को धारण करने का नाम है—

यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम् ।
स्थानात् स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते ।।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १२८-१२९

अष्टादश मर्मस्थानों के नाम हैं—पादाङ्गुष्ठ, गुल्फ, जंघामध्य, ऊरुमध्य, ऊरुमूल, पायु, हृदय, शिश्न, देहमध्य, नाभि, गलकूर्पर, तालुमध्य, घ्राणमूल, नेत्रमण्डल, भ्रूमध्य, ऊर्ध्वमूल, जानुद्वय तथा करमूल।

धारणा; पाञ्चभौतिक देह के पांचों भूतों में यमादि से युक्त मन को धारित करना है। धारणा संसार-सागर से तारने वाली है—

पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु ।।
मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य च यमादिभिः ।
धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम् ।।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १३२ उ.-१३३

ध्यान; स्वरूपव्याप्तरूप परम परमात्मा वासुदेव का ही चिन्तन करना है। ध्यान कैवल्यसिद्धि को देने वाला है। इसके दो भेद हैं—सगुणध्यान तथा निर्गुणध्यान। ध्यान का लक्षण है—

चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः ।
स्वरूपव्याप्तरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम् ।।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १४६-१४७

समाधि; चित्त की वह निर्वृत्त्यवस्था है जिसमें मैं ही परब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं हूँ ऐसी सम्यक् स्थिति बनती है। श्रुति है—

अहमेव परं ब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ।
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ।।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १६०-१६१

इस अवस्था में सोया हुआ सा जो चलता है, स्वभाव से ही जो सदा सर्वत्र निश्चल है, ऐसा योगी निर्वाणपद का आश्रय करके कैवल्य प्राप्त करता है—

सुषुप्तिवद्यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः ।
निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्नुते ।।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १६४

दर्शनोपनिषद् में गुरु दत्तात्रेय सांकृति नामक शिष्य को पूर्वोक्त अष्टाङ्गयोग का उपदेश करते हैं। इसमें यम और नियम के दश-दश भेद लक्षणसहित वर्णित हैं। नौ आसनों का वर्णन करने के पश्चात् 'देह' के विषय में बतलाया है। नाडी, वायु, नाडी-देवता, नाडियों में संवत्सरात्मपूर्ण सूर्यसञ्चार, अन्तस्तीर्थ आदि का बहुत उत्तम वर्णन है। प्राणायामादि सब अङ्गों का भी बहुत अच्छा प्रतिपादन है। यह योगोपनिषदों में एक उत्तम उपनिषद् है।

ध्यानबिन्दूपनिषद् में ब्रह्मध्यानयोग प्रणवध्यान, सविशेष ब्रह्मध्यान, त्रिमूर्तिध्यान का सर्वप्रथम वर्णन मिलता है। इसमें षडङ्गयोग की चर्चा है। इसमें सिंह, पद्म, भद्र तथा सिद्ध चार आसन ही कहे गये हैं। अन्त में नादानुसन्धान द्वारा आत्मदर्शन बतलाया गया है।

नादबिन्दूपनिषद् में प्रणवोपासना तथा नादानुसन्धान कहा गया है।

पाशुपतब्राह्मणोपनिषद् में ज्ञानयोग प्रतिपादित है। परमात्मा की हंसत्वेन भावना, अन्तर्याग, ज्ञानयज्ञरूप अश्वमेध इत्यादि अनेक विषय इसमें वर्णित हैं।

ब्रह्मविद्योपनिषद् में प्रणव की चारों मात्राओं का वर्णन किया गया है—

तिस्रो मात्रार्धमात्रा च त्र्यक्षरस्य शिवस्य तु ।
तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याग्निरूपिणः ।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ।

ब्रह्मविद्योपनिषद् ३-८-९

इसके पश्चात् सुषुम्ना नाडी के विषय में बतलाया है कि यह नाडी मृणालतन्तु के समान सूक्ष्म, ज्वाला सी उज्ज्वल और सूर्यसदृश प्रकाशमान वह परा नाडी सूर्य को भेद कर परम को प्राप्त होती है और मूर्धा में बहत्तर हजार नाडियों को भेद कर सबको व्याप्त कर रहती है। इस उपनिषद् में नाद

के द्वारा मोक्षप्राप्ति, जीवस्वरूपनिरूपण, हंसविद्या, हंसयोगी के द्वारा अनुसन्धेय आत्मस्वरूप इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं।

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में कुल पांच ब्राह्मणखण्ड हैं। इसमें सर्वप्रथम अष्टाङ्गयोग कहा गया है—

ज्ञानयुक्तयमाद्यष्टाङ्गयोग उच्यते ।

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १/१

इसमें यम के चार भेद किये हैं—

शीतोष्णाहारनिद्राविजयः सर्वदा
शान्तिर्निश्चलत्वं विषयेन्द्रियनिग्रहश्चैते यमाः ।

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १/१

तदनन्तर नियम के दश भेद बतलाये हैं—

गुरुभक्तिः सत्यमार्गानुरक्तिः सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिर्निःसङ्गता एकान्तवासो मनोनिवृत्तिः फलानभिलाषो वैराग्यभावश्च नियमाः ।

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १/१

इसमें योग के तारकयोग तथा अमनस्कयोग दो भेद किये हैं—

तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविभागतः ।
पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति ।

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १/३

अर्थात् वह योग पूर्वोत्तर विधान से दो प्रकार का है। पूर्व का तारकयोग है और उत्तर का अमनस्कयोग है। तारकयोग भी द्विविध है— मूर्तितारकयोग तथा अमूर्तितारकयोग। दोनों का ही मनोयोग से अभ्यास करना चाहिए—

उभयमपि मनोयुक्तमभ्यसेत् ।

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १/३

महावाक्योपनिषद् नामक लघुतम उपनिषद् में हंसविद्या के ध्यान से सच्चिदानन्द परमात्मा के आविर्भाव का प्रतिपादन हुआ है। तदनुसार

ज्योतिर्मण्डलस्वरूप जो आदित्य है, वही आदित्य ब्रह्म है। जिसका **'हंसः सोऽहम्'** इस अजपा मन्त्र से निर्देश किया जाता है। प्राणापान की अनुलोम-प्रतिलोम गति से वह विद्या जानी जाती है। दीर्घकाल के अभ्यास से वह विद्या लाभकर जब त्रिवृत् आत्मा = ब्रह्म का ध्यान किया जाता है, तब सच्चिदानन्द परमात्मा आविर्भूत होते हैं—

प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिध्यायमाने सच्चिदानन्दः परमात्माविर्भवति ।

महावाक्योपनिषद् १

योगकुण्डल्युपनिषद् तीन अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में आसन, प्राणायामादि द्वारा कुण्डलिनी योग के साधने की बात करते हुए बतलाया है कि चित्त के दो हेतु हैं—वासना और प्राण। इनमें से किसी एक के नष्ट होने से दोनों का नाश होता है। इनमें से प्रथम सदा प्राण विजित करना चाहिए, तदनन्तर मिताहार होकर आसन और अन्त में शक्तिचालन करे—

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः ।।
तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा ।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः ।।

योगकुण्डल्युपनिषद् १/१-२

द्वितीय अध्याय में खेचरिविद्या के प्रयोग की विधि बतलाते हुए अभ्यासी को अजर-अमर कहा है—

अथाहं संप्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम् ।
यथा विज्ञानवानस्या लोकेऽस्मिन्नजरोऽमरः ।।

योगकुण्डल्युपनिषद् २/१

तृतीय अध्याय में ब्रह्म, जीव, मुक्ति आदि का स्वरूप वर्णित है।

योगचूडामण्युपनिषद् का प्रतिज्ञावाक्य है कि योगियों के हित की कामना से इस उपनिषद् को बतलाया जा रहा है—

योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया ।
कैवल्यसिद्धिदं गूढं सेवितं योगवित्तमैः ।।

योगचूडामण्युपनिषद् १

इसमें अध्यायों में अविभक्त एक सौ इक्कीस मन्त्र हैं। उपनिषद् का प्रारम्भ योग के षडङ्ग से हुआ है—

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ।।

योगचूडामण्युपनिषद् २

इसमें चक्र, नाडी, वायु आदि तत्त्वों के प्रतिपादन के पश्चात् प्रणवाभ्यास पर बल दिया है। प्रणवाभ्यासी को भी नाडीशोधन के लिये प्राणजय करना आवश्यक बतलाया है। जैसे सिंह, गज, व्याघ्र आदि को शनैः-शनैः वश में किया जाता है उसी प्रकार प्राणवायु को क्रमशः सेवित किया जाता है, अन्यथा अनियन्त्रित वायु साधक को नष्ट कर देता है—

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ।।

योगचूडामण्युपनिषद् ११८

योगतत्त्वोपनिषद् में कुल एक सौ बयालीस मन्त्र हैं। इसमें अष्टाङ्गसंयुक्त योग का विवेचन हुआ है। मोक्षप्राप्ति के लिये ज्ञान और योग दोनों को आवश्यक बतलाया गया है। जिस प्रकार योग के विना ज्ञान मोक्ष को प्राप्त कराने वाला नहीं हो सकता है, उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्षकर्म में असमर्थ है—

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ।
योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ।।

योगतत्त्वोपनिषद् उ. १४-१५

इसमें प्रकारान्तर से योग के चार भेद किये हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग तथा राजयोग। वचन है—

योगो हि बहुधा ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारतः ।

मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः ।।

योगतत्त्वोपनिषद् १९

ज्ञातव्य है कि योगसूत्र के प्रामाणिक टीकाकार श्रीनारायणतीर्थ ने योगसिद्धान्तचन्द्रिका में योग के उक्त चार भेदों को योगसूत्र में अन्वेषित किया है।

योगशिखोपनिषद् में छः अध्याय हैं। उपरिवर्णित उपनिषदों की तुलना में यह बृहद् उपनिषद है। इस उपनिषद् के विषय योगतत्त्वोपनिषद् से साम्य रखते हैं, किन्तु विषयों की प्रतिपादन-शैली उससे पृथक् है। कुछ नवीन विषयों का विवेचन भी इसमें उपलब्ध है। योगतत्त्वोपनिषद् में मन्त्रयोग आदि चारों योग स्वतन्त्ररूपेण कहे गये हैं, किन्तु यहाँ वे क्रमिक भूमिका माने गये हैं। तदनुसार मन्त्र, लय, हठ तथा राज—ये चार योग यथाक्रम चार भूमिकान्त हैं और सम्मिलित रूप से ये चारों एक ही योग हैं, जिसे महायोग कहते हैं। वचन है—

मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात् ।

एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ।।

योगशिखोपनिषद् १/१२९उ.-१३०

इतना ही नहीं, मन्त्रादि चार योगों का स्वरूप भी इसमें भिन्न प्रकार से मिलता है। उदाहरण के लिये राजयोग को लीजिए—

रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृतिः ।

योगशिखोपनिषद् १/१३७ उ.

अर्थात् रज और रेत के योग से राजयोग होता है। योग का सामान्य स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम् ।

योगशिखोपनिषद् १/१३८उ.

अर्थात् प्राणापान को समान करना योगचतुष्टय है। यह उपनिषद् योगदृष्ट्या अत्यन्त उपयोगी है।

वराहोपनिषद् पांच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम चार अध्यायों में ज्ञान की चर्चा की गई है तथा अन्तिम पञ्चम अध्याय में योग कहा गया है। इसमें अष्टाङ्गसंयुत योग के लय, मन्त्र तथा हठ तीन भेद हैं—

लयमन्त्रहठा योगा योगो ह्यष्टाङ्गसंयुतः ।

वराहोपनिषद् ५/१०३.

इसमें यम और नियम के दश-दश भेद कहे गये हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ।।
तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ।
एते हि नियमाः प्रोक्ता दशधैव महामते ।।

वराहोपनिषद् ५/१२-१४

इस उपनिषद् में अन्त में योग के कुछ विशेष प्रकार दिये गये हैं, जैसे—कालवञ्चनोपायभूतयोग, कायदार्ढ्यबलादिसाधनयोग, सम्पुटयोग आदि।

शाण्डिल्योपनिषद् में अथर्वा ऋषि शाण्डिल्य के प्रति अष्टाङ्गयोग का उपदेश करते हैं। तीन अध्यायों में विभक्त इस उपनिषद् के द्वितीय एवं तृतीय अध्याय अत्यन्त संक्षिप्त हैं। यह उपनिषद् प्रसिद्ध अष्टाङ्गयोग का समर्थन करती है—

स होवाचाथर्वा यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि ।

शाण्डिल्योपनिषद् १/१

इसमें यम के दश, नियम के दश, आसन आठ, प्राणायाम के तीन, प्रत्याहार के पांच, धारणा के दो तथा ध्यान के दो भेद बतलाये हैं। अन्त में दत्तात्रेय का माहात्म्य प्रतिपादित है।

हंसोपनिषद् में हंसविद्या संक्षेप से प्रतिपादित है। अजपाजप, नादानुसन्धान आदि तदुपायत्वेन कहे गये हैं। यह अथर्ववेदीय संक्षिप्त उपनिषद् है। अनाख्येय गुह्य हंसविद्या को जानकर साधक मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है—

हंसहंसेति सदाऽयं सर्वेषु देहेषु व्याप्तो वर्तते ।
यथा ह्यग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव तं विदित्वा न मृत्युमत्येति ।

हंसोपनिषद् १

योगराजोपनिषद् का प्रारम्भ योग के चार भेदों से होता है—

योगराजं प्रवक्ष्यामि योगिनां योगसिद्धये ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ।।
योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।

योगराजोपनिषद् १/२

इसमें लययोग के प्रसङ्ग में नव चक्रों का वर्णन किया गया है। हठ और राजयोग के विषय में विस्तार नहीं मिलता है। नवचक्रध्यान की फलश्रुति बतलाते हुए कहा है—

एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुनेः ।
सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्था स्युर्दिने दिने ।।

योगराजोपनिषद् १९

अभी तक योगविद्याप्रधान इक्कीस उपनिषदों के अनुशीलन से विदित होता है कि योगपरम्परा किस प्रकार उपनिषद्वाङ्मय में संरक्षित रही। सर्वाङ्गयोग का सम्पूर्ण स्वरूप इनमें स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

सम्प्रति, पूर्ववर्ती उन प्रमुख उपनिषदों में वर्णित योगविद्या की चर्चा विषयविस्तार के रूप में की जायेगी, जिनपर आचार्य शङ्कर का प्रामाणिक भाष्य मिलता है।

कठोपनिषद् में 'युज्' धातु का प्रयोग मनस् के साथ करते हुए 'योग' विद्या को व्याख्यायित किया गया है। तदनुसार जब पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मनसहित आत्मा में स्थिर होकर बैठती हैं, बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, तब उस अवस्था को परमगति कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रियधारणा को योग कहते हैं। उस अवस्था में साधक प्रमादरहित होता है। उत्पत्ति और नाश योग ही है। वचन है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।।

कठोपनिषद् २/३/१०-११

संहिता एवं ब्राह्मणग्रन्थों में योग अनेक प्रकार के क्रिया-कलापों के साथ मिला हुआ मिलता है तथा सिद्धियाँ ही उसकी लक्ष्य रहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि मोक्षप्राप्ति के लिये जब योग का प्रयोग होने लगा तब उसको अध्यात्मयोग कहने लगे। उपनिषदों में योग 'अध्यात्मयोग' कहा गया है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि वह देव अर्थात् आत्मा जो इतना तेजस्वी है कि देख नहीं सकते, जो गूढगहन स्थान में प्रवेश किये हुए है, गुहा में बैठा हुआ और गह्वर में रहने वाला है, उसको अध्यात्मयोगाधिगम के द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष और शोक को त्याग देता है—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।

कठोपनिषद् १/२/१२

'योग' शब्द का प्रयोग दर्शनविशेष के लिये होता है या क्रियात्मक योग के लिये? उत्तर है कि उपनिषदों में दोनों अर्थों में योग शब्द प्रयुक्त मिलता है। कठोपनिषद् के उक्त उद्धरण इसके प्रमाणस्वरूप हैं।

श्वेताश्वतरोपषिद् में क्रियात्मक योग के भी रूप, प्रकार, भेद आदि मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के द्वितीय अध्याय में षडङ्गयोग का वर्णन प्राप्त है। अत: जो लोग योग का षडङ्गत्व नाथसम्प्रदाय की देन समझते हैं, उन्हें यह उपनिषद् अपने मत पर विचार करने के लिये बाध्य करती है। श्वेताश्वतर में लिखा है—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।।
प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् २/८-९

ध्याननिर्मथनादभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् १/१४ उ.

अभिप्राय यह है कि शरीर को त्रिरुन्नत अर्थात् वक्षस्थल, गर्दन और सिर उन्नत तथा सम करके, मनसहित इन्द्रियों को हृदय में नियत कर ब्रह्मरूप नौका से विद्वान् समस्त भयानक प्रवाहों को तर जाय। इस शरीर में प्राणों का सम्यक् रीति से निरोध करके युक्तचेष्ट हो और प्राण के क्षीण होने पर नासिका द्वारों से श्वास छोड़े और इन दुष्ट अश्वों के लगामरूप मन को विद्वान् अप्रमत्त होकर धारण करे। ध्यानरूप से अत्यन्त गूढ सा जो आत्मा है, उसे देखे।

इस उपनिषद् में योग विस्तार से कहा गया है। यजुर्वेद संहिता आदि में आये कुछ योगविषयक मन्त्रों का पूरा भाष्य इसमें दिखलाई पड़ता है। किन्तु आसन का वर्णन इस उपनिषद् में नहीं है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीता में **'समं कायशिरोग्रीवम्'** मिलता है वैसा ही यहाँ त्रिरुन्नत दिखलाई पड़ता है। ध्यानादि के लिये सिद्धासन तथा पद्मासन को छोड़ अन्य आसन अनुपयुक्त एवं अनावश्यक हैं। गोरक्षनाथ ने गोरक्षपद्धति में इसी कारण ये ही दो आसन बतलाये हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में समाधि का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवति वीतशोकः ।।
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् २/१४-१५

अर्थात् जिस प्रकार कोई तेजोमय बिम्ब धूल से धूसरित हुआ हो और पीछे स्वच्छ करने पर वह चमकने लगता है, उसी प्रकार उस आत्मतत्त्व को देखकर देही एकावस्था को प्राप्त होकर कृतार्थ एवं वीतशोक होता है। परन्तु जो देही आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व को परप्रकाशक दीप की रीति से देखता है, वह आत्मदेव को अज, ध्रुव, सर्वतत्त्वविशुद्ध जानकर सब पाशों से मुक्त हो जाता है। वैदिक ग्रन्थों में प्राणविद्या का उच्च स्थान है। उपनिषदों में भी प्राणोपासना अनेक भावनाओं के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से कही गई है।

प्रत्यक्ष सम्बन्ध योग से प्राणों का प्राणायाम के सम्बन्ध में है। उपनिषद्वाङ्मय में मोक्ष के दो उपाय बताये गये हैं—मनोमय तथा प्राणमय। मनोमय वासनाओं के क्षीण होने से होता है, किन्तु प्राणजय हो जाने से मनोजय अनायास सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि योग में प्राणजय पर इतना बल दिया गया है। प्राणजय प्राणायाम द्वारा होता है। अत एव योग में प्राणायाम का महत्त्व प्रतिपादित है। श्वेताश्वतर का वचन है—

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ।।
पञ्चस्त्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् १/४-५

मुण्डकोपनिषद् के तीन मुण्डकों में दो-दो अध्याय हैं। इसमें योग का महत्त्व बतलाते हुए कहा है कि वे धीर युक्तात्मा योगी सर्वत्र सर्वव्यापी ब्रह्म को पाकर उस सर्व में ही प्रवेश करते हैं। वेदान्तविज्ञान का अर्थ परमात्मा जिनके चित्त में सुनिश्चित हो चुका है, जो संन्यासयोग से यत्नवान् और शुद्धसत्त्व हो गये हैं, वे सब ब्रह्मलोक में परान्तकाल में परमामृत होकर मुक्त होते हैं—

ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ।
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।।

मुण्डकोपनिषद् २/३/५उ.-६

आगे कहा है कि प्रजाओं के प्राणसह सम्पूर्ण चित्त में वह आत्मा व्याप्त है और विशुद्ध चित्त में ही विशेषरूप से प्रकट होता है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ।।

मुण्डकोपनिषद् ३/१९

छान्दोग्योपनिषद् को बृहदारण्यकोपनिषद् की भाँति बृहत्तम उपनिषदों

में परिगणित किया जाता है। योगविद्या का ऐसा कोई पक्ष नहीं है, जो इस उपनिषद् में वर्णित न हुआ हो। इसके अष्टम अध्याय के चतुर्थ खण्ड में ब्रह्मचर्य धारण करने से ही ब्रह्मप्राप्ति का निर्णय करती हुई श्रुति भगवती यह कहती है—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।

छान्दोग्योपनिषद् ८/४/३

अर्थात् जो इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्यसाधन द्वारा प्राप्त करते हैं उनकी सब जगह अव्याहतरूप से इच्छानुसार गति होती है। तात्पर्य यह है कि योग का एक अङ्ग ब्रह्मचर्य भी है। यह ब्रह्मचर्य पांच प्रकार के यमों में परिगणित है। इसके पालन से वेदान्तवेद्य फल की प्राप्ति इस छान्दोग्योपनिषद् में बतलाई है। इस प्रकार इस अष्टम अध्याय के अन्त में—

आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि प्रतिष्ठाप्य ।

छान्दोग्योपनिषद् ८/१५/१

यह वाक्य मिलता है। इसका अर्थ है कि 'सब इन्द्रियों को वशीकृत करके ब्रह्म-ध्यान-परायण हो जाय।' इन्द्रियों का वशीकार यौगिक उपायों के विना होना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। इस प्रकार छान्दोग्य का हृदय भी योग से पूर्ण सम्बन्ध रखता है।

छान्दोग्योपनिषद् में प्राणायाम के अन्तर्गत प्राणविद्या का महत्त्व भी प्रतिपादित है। इस उपनिषद् के प्रथम, चतुर्थ, पञ्चम तथा सप्तम अध्याय में यथावसर प्राणतत्त्व की चर्चा हुई है—

प्राण इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युजिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यन्तथोक्तस्य मयेति ।

छान्दोग्योपनिषद् १/११/५

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृक्त इति ।।

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ।

छान्दोग्योपनिषद् ४/३/३-४

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी योग का विशद वर्णन पाया जाता है—

तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति ।

बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/२३

अर्थात् इस प्रकार जानने वाला इन्द्रियों और मन को संयमित करके उपरामवृत्ति धारणकर तितिक्षु होकर समाधिपरायण हो अपने अन्दर आत्मा को देखता है ऐसा स्पष्ट विधान किया गया है।

फलाभिसन्धि

उपनिषदों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विना यौगिक साधनों के हमारी पारमार्थिक प्रवृत्ति अपूर्ण ही रहती है। समस्त उपनिषदों में किसी न किसी रूप में योग का समर्थन करते हुए उसको उपादेय बतलाया है। 'योग' एक शब्दसामान्य है। वह पदविशेष के समीप होने पर अनेक अर्थों का बोधक है। उपनिषदों में साधनरूप से ग्राह्य जो अनेक सिद्धान्त हैं, उनको किसी न किसी रूप में योग कहा जा सकता है। जैसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, लययोग, क्रियायोग, ध्यानयोग, जपयोग, समाधियोग आदि। योगप्राप्ति ही भगवत्प्राप्ति का एक मार्ग है, क्योंकि यौगिक प्रक्रिया के अनुसार ही मनोनिरोध हो सकता है और सब प्रकार के साधनों में मन का स्थैर्य पूर्णतया अपेक्षित है। अतः उपनिषदों का तात्पर्य योगानुष्ठानपूर्वक ही मुक्ति की प्राप्ति से है। ऐसा कोई मार्ग योगसाधना का नहीं है, जिस मार्ग में योगाङ्गों की आवश्यकता न पड़ती हो। इसलिये जिस प्रकार दुग्ध में घृत समाहित है और मातृश्री के उपदेशों में शिशु का हित अनुप्रविष्ट है, उसी प्रकार योग उपनिषदों में व्यवहृत किया गया है। सबका तात्पर्य मुक्तिसाधनस्वरूप से एक ही है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि योग और उपनिषदों का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावसम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है।

●

श्रीमद्भागवत में योगचर्या : एक दार्शनिक पक्ष

श्रीमद्भागवत संस्कृत के आध्यात्मिक वाङ्मय का एक अनुपम रत्न है। यह अष्टादश पुराणों में सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। महर्षि वेदव्यास ने नदियों में गङ्गा, देवताओं में विष्णु, वैष्णवों में शिव के समान पुराणों में श्रीमद्भागवत को शिरोमणि बतलाकर इसकी प्रधानता और श्रेष्ठता को स्पष्टरूप से अभिव्यक्त किया है—

निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा ।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ।।

श्रीमद्भागवत १२/१३/१६

उपनिषदों में योगविद्या प्रचुर मात्रा में वर्णित है, यह सुविज्ञ है तथापि संहिताओं में विशेषत: ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की संहिताओं में भी योग के अल्प या अधिक, गौणत: या मुख्यत: अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं। अत: वैदिक संहिताओं में ही योग की आदिम रूपरेखा हमें मिलती है। उपनिषदों में आकर योग की यह रूपरेखा अत्यन्त सुव्यक्त रूप धारण कर शनैः-शनैः परिपूर्णावस्था को प्राप्त करती हुई लक्षित होती है। महाभारत, पुराण, तन्त्र तथा धर्मशास्त्र में योग की यह धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती हुई कालान्तर में महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन के रूप में हमारे समक्ष आती है। योग की यह विद्या-धारा यहीं नहीं अवरुद्ध होती, अपितु पतञ्जलिसूत्र के भाष्यकार, टीकाकार वृत्तिकार—व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, भोजदेव, नागेशभट्ट, भावागणेश, नारायणतीर्थ, रामानन्दयति, सदाशिवेन्द्रसरस्वती, अनन्तदेव पण्डित, बलदेव मिश्र आदि माननीय ग्रन्थकारों—की रचनाओं से परिपुष्ट होती हुई अद्यावधि भी हमारी श्रद्धा और भक्ति का भाजन उसी प्रकार बनी हुई है, जिस प्रकार पुण्यसलिला भगवती भागीरथी की विमलधारा। योगविद्या के उद्गम तथा विकास के इस साङ्केतिक वर्णन से श्रीमद्भागवतवर्णित योग का स्थान पाठकों को स्पष्ट अनुभव होने लगेगा। श्रीमद्भागवत का योग पौराणिक योग का एक अंशमात्र है और

योगशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से उसका स्थान औपनिषदयोग और पातञ्जलयोग के मध्यकाल में आता है।

श्रीमद्भागवत में भक्ति के साथ अष्टाङ्गयोग का भी प्रचुर वर्णन है। यह वर्णन दो प्रकार से किया गया है। कई स्थानों पर योगसाधन की क्रियाओं का अप्रत्यक्षरूप से संकेतमात्र किया गया है। परन्तु अन्य स्थानों पर योग का प्रत्यक्षरूप से विशद विवेचन किया गया है।

योग के अप्रत्यक्ष संकेत

श्रीमद्भागवत में योग के अप्रत्यक्ष संकेत प्राय: दो प्रसंङ्गों में किये गये मिलते हैं। किसी व्यक्तिविशेष की तपश्चर्या के वर्णन के अवसर पर योग का आश्रय लिये जाने का संकेत मिलता है तथा किसी महान् व्यक्ति के इस भौतिक शरीर के त्यागने का जहाँ वर्णन है, वहाँ भी योगमार्ग का आलम्बन कर प्राणत्याग की घटना का संक्षिप्त परन्तु मार्मिक उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार महापुरुषों के तपश्चरण तथा शरीरत्याग के दोनों अवसरों पर विशेषरूप से योग की ओर संकेत किया गया मिलता है। ऐसे प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत में अनेक आये हैं।

अप्रत्यक्ष संकेतों में नितान्त महत्त्वपूर्ण संकेतों का ही; स्कन्धक्रम से, स्थानाभाव के कारण स्वल्प विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. नारदमुनि और योग

(क) नारद मुनि जब बालक थे तब उन्हें अध्यात्मवेत्ता मुनियों के संसर्ग में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। किशोरावस्था में ही उनकी माता का देहपात हो गया। तब नारद जी ने उत्तरदिशा में जाकर मुनियों के मुख से श्रुत भगवान् के साक्षात्कार का निश्चय किया। तब निर्जन स्थान में उन्होंने भगवान् के चरणकमलों में मन को एकाग्रकर ध्यान लगाया। जिससे भगवान् ने प्रसन्न होकर अपना दर्शन दिया। इस प्रसंग में 'मन:प्रणिधान' जैसे पारिभाषिक शब्द का उल्लेख मिलता है। वचन है—

दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि ।
वीक्षमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः ।।

श्रीमद्भागवत १/६/२०

(ख) नारद जी के उपदेश से व्यास जी ने भगवान् की विविध लीलाओं का वर्णन करने का विचार किया। तदनुसार उन्होंने सरस्वती नदी के पश्चिम तट पर स्थित शम्याप्रास नामक आश्रम में आसन लगाकर भगवान् में अपना मन लगाकर भक्तिपूर्वक ध्यान किया। उनका निर्मल मन इतनी अच्छी पद्धति से समाहित हुआ कि उन्होंने भगवान् का साक्षात्कार कर लिया। यहाँ आसन और मन:प्रणिधान का उल्लेख स्पष्ट हुआ है। वचन है—

तस्मिन्स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते ।
आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम् ।।
भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले ।
अपश्यत्पुरुषं पूर्वं मायां च तदपाश्रयाम् ।।

श्रीमद्भागवत १/७/३-४

२. भीष्मपितामह और योग

भीष्मपितामह के देहत्याग के अवसर पर व्यास जी ने ऋषि, मुनियों के अतिरिक्त पाण्डवों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण को भी उस स्थान पर उपस्थित किया है। अन्तिम अवसर पर सब लोग भीष्म को देखने के लिये एकत्रित हुए, श्रीकृष्ण भी पधारे। भीष्मपितामह सच्चे पारखी थे, भावुक भक्त थे। उन्होंने श्रीकृष्ण की ललित स्तुति की और अन्त समय में मन-वचन-दृष्टि की वृत्तियों से अपनी आत्मा को भगवान् में केन्द्रित कर अन्त:श्वास लिया और शान्त हो गये। इस प्रसंग में भीष्म ने अपने शरीर को योगक्रिया से परित्यक्त किया, यह बात स्पष्ट ही है। अन्तिम बार श्वास को भीतर खींचकर ब्रह्मरन्ध्र से प्राणत्याग करना योग की महत्त्वपूर्ण क्रिया समझी जाती है। सूत कहते हैं—

कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः ।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोन्तःश्वास उपारमत् ।।

श्रीमद्भागवत १/९/४३

३. माता देवहूति और योग

देवहूति सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल मुनि की माताश्री थीं। पुत्र ने उन्हें योग की शिक्षा दी। परिणाम यह हुआ कि माता देवहूति ने अपना देहत्याग समाधिस्थ होकर किया। वचन है—

नित्यारूढसमाधित्वात्परावृत्तगुणभ्रमा ।
न सस्मार तदात्मानं स्वप्ने दृष्टमिवोत्थितः ।।

श्रीमद्भागवत ३/३३/२७

४. दक्षपुत्री सती और योग

भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में सती के शरीरदाह की कथा वर्णित है। अपने पिता दक्ष प्रजापति के द्वारा किये गये शिव जी के निरादर के कारण सती ने अपने शरीर को भस्म कर दिया था। गोस्वामी तुलसीदास जी 'योग अगिन तनु जारा' लिखकर योगाग्नि में सती के भस्म होने की बात बताकर मौन हैं; परन्तु व्यास जी ने एक श्लोक में सती की समग्र योगक्रिया का यथार्थ वर्णन किया है—

कृत्वा समानावनिलौ जितासना सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः ।
शनैर्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं कण्ठाद्भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत् ।।
एवं स्वदेहं महतां महीयसा मुहुः समारोपितमङ्कमादरात् ।
जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी दधार गात्रेष्वनिलाग्निधारणाम् ।।

श्रीमद्भागवत ४/४/२५-२६

इस पद्य का शुकदेवकृत सिद्धान्तप्रदीप तथा विजयराघवकृत भागवत-चन्द्रिका व्याख्या में अत्यन्त मार्मिक प्रतिपादन हुआ है। तदनुसार सती ने सर्वप्रथम आसनजय किया। आसन लगाकर इस प्रकार बैठ गईं कि प्राणसञ्चारजनित अङ्गसञ्चालन पूर्वतया अवरुद्ध हो गया। तब प्राण और अपान का निरोध कर उसे एकवृत्ति बना नाभिचक्र (मणिपूर) में स्थापित किया। तदनन्तर नाभिचक्र से उदानवायु को उठाकर हृदय (अनाहत) में ले आयीं। निश्चयबुद्धि के साथ वहाँ से भी वायु को कण्ठमार्ग (विशुद्धचक्र) से भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र) में ले आयीं। उदानवायु को वहीं स्थापित कर सती ने अपने अङ्गों में वायु तथा अग्नि की धारणा की। परिणाम स्पष्ट दिखलाई पड़ा कि देहयष्टि एकाएक भस्म हो गयी। इस वर्णन में शरीर के विभिन्न चक्रों तथा तद्द्वारा वायु को ऊर्ध्वगति प्रदान करने की क्रिया का उल्लेख नितान्त स्पष्ट है।

५. बालक ध्रुव और योग

नारद जी ने ध्रुव को आसन में स्थित होकर प्राणायाम के द्वारा प्राण, इन्द्रिय तथा मन के मल को दूरकर समाहित मन से भगवान् का ध्यान करने का उपदेश किया था। वचन है—

प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम् ।
शनैर्व्युदस्याभिध्यानेन्मनसा गुरुणा गुरुम् ।।

श्रीमद्भागवत ४/८/४४

ध्रुव ने उसी मार्ग का अवलम्बन किया और अल्प समय में ही वह बालक भगवान् का साक्षात्कार करने में समर्थ हो गया। वचन है—

सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम् ।
ध्यायन्भगवतो रूपं नाद्राक्षीत्किञ्चनापरम् ।।

श्रीमद्भागवत ४/८/७७

नारद मुनि ने बालक ध्रुव को अष्टाङ्गयोग का ही उपदेश किया था। इसके लिये अधोलिखित पद्य प्रमाण है—

स्नात्वानुसवनं तस्मिन्कालिन्द्याः सलिले शिवे ।
कृत्वोचितानि निवसन्नात्मनः कल्पितासनः ।।
प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम् ।
शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणा गुरुम् ।।

श्रीमद्भागवत ४/८/४३-४४

यह तथ्य उक्त उद्धरणद्वय की भागवतचन्द्रिका टीका के अनुशीलन से स्पष्ट होता है। तदनुसार **'उचितानि कृत्वा'** में यम-नियम का, **'कल्पितासनः'** में आसन का, **'मलं व्युदस्य'** में प्राणायाम-प्रत्याहार का, **'ध्यायेत्'** में ध्यान के धारणापूर्वक होने के कारण धारणा-ध्यान का विधान किया गया है। इससे सम्पूर्ण अष्टाङ्गयोग का उपदेश प्राप्त है।

६. ऋषि दधीचि एवं योग

दधीचि ऋषि से देवताओं ने वज्र बनाने के लिये उनकी अस्थियाँ प्रार्थित कीं। लोकोपकार की उन्नत भावना से प्रेरित होकर ऋषि ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार किया तथा इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि का नियमन कर परमयोग का आश्रय लिया। उस समय उन्हें इस बात का आभास भी न हो सका, कि कब उनका शरीरपात हो गया। वचन है—

वृतो देवगणैः सर्वैर्गजेन्द्रोपर्यशोभत ।
स्तूयमानो मुनिगणैस्त्रैलोक्यं हर्षयन्निव ।।

श्रीमद्भागवत ६/१०/१४

७. वृत्रासुर एवं योग

वृत्रासुर ने भी अपनी मृत्यु के समय भगवान् के चरणकमलों में मन लगाकर समाधि के द्वारा अपने प्राणों का परित्याग किया। वचन है—

सत्रं समाधाय मनो यथाह सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्दे ।
त्वद्वज्ररंहोलुलितग्राम्यपाशो गतिं मुनेर्याम्यपविद्धलोकः ।।

श्रीमद्भागवत ६/११/२१

८. महर्षि कश्यप और योग

अदिति ने पयोव्रत नामक महत्त्वपूर्ण व्रत भगवान् की प्रसन्नता के लिये किया। भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने अदिति के उदर से जन्म धारण करना स्वीकार कर लिया। इधर उन अमोघदृष्टिसम्पन्न श्रीकश्यप जी ने समाधियोग द्वारा अपने शरीर में श्रीहरि का अंश प्रविष्ट होते देखा। तब जैसे वायु घर्षण से काष्ठ में अग्नि उत्पन्न कर देता है, वैसे ही उन्होंने समाहित चित्त से अदिति के गर्भ में अपनी चिरकालीन तपस्या द्वारा सुरक्षित वीर्य स्थापित कर दिया। वचन है—

उपाधावत्पतिं भक्त्या परया कृतकृत्यवत् ।
स वै समाधियोगेन कश्यपस्तदबुध्यत ।।
प्रविष्टमात्मनि हरेरंशं ह्यवितथेक्षणः ।
सोऽदित्यां वीर्यमाधत्त तपसा चिरसंभृतम् ।।
समाहितमना राजन्दारुण्यग्निं यथानिलः ।।

श्रीमद्भागवत ८/१७/२२-२३

९. श्रीकृष्ण एवं योग

श्रीकृष्ण के जीवनचरित के अनेक प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित हैं, जिनमें योग का आश्रय लेकर उन्होंने अत्यन्त आश्चर्यजनक अलौकिक घटनाओं को घटित किया है। श्रीकृष्ण तो भगवान् के पूर्णावतार हैं—

कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

अतः अलौकिक घटनाओं को निष्पादित करना उनके लिये अत्यन्त सहज रहा। परन्तु इन सब अद्भुत की उत्पत्ति श्रीकृष्ण ने अपने योगबल से की थी, इसका उल्लेख अनेकशः मिलता है। उनको श्रीमद्भागवत में अनेकशः योगी तथा योगियों में योगेश्वर बतलाया गया है। उनके योगजन्य कतिपय प्रसंगों का निर्देशमात्र किया जा रहा है।

ब्रह्मा ने ग्वालों और गौओं को जब पर्वत की कन्दरा में गोपनीय रूप से स्तेयकर रखा हुआ था तब श्रीकृष्ण ने अपने शरीर को ही उतने ही गोपों तथा गौओं के रूप में परिवर्तित कर जो चमत्कार किया था वह योग की कायव्यूहसिद्धि का उज्ज्वल दृष्टान्त है। वचन है—

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम् ।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं सर्वं विष्णुमयं
गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ।।

श्रीमद्भागवत १०/१३/१९

श्रीकृष्ण ने प्रबल दावाग्नि से गोपबन्धुओं की जो रक्षा की थी, उसमें उनका योगवीर्य ही प्रधान कारण था। वचन है—

कृष्णस्य योगवीर्यं तद्योगमायानुभावितम् ।
दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य ते मेनिरेऽमरम् ।।

श्रीमद्भागवत १०/१९/१४

रासलीला के समय वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण ने जो अलौकिक लीलाएँ दिखायीं, उनमें उनका योगमाया का आश्रय लेना भी एक कारण रहा। प्रमाण है—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।।

श्रीमद्भागवत १०/२९/१

जब यादवों के भार से भी व्यथित इस भूमण्डल को श्रीकृष्ण ने

भारविहीन कर तथा जीवनदान देकर अपने लोक में जाने का विचार किया, उस समय भी श्रीकृष्ण ध्यान लगाकर अपने परम रमणीय शरीर को आग्नेयी योगधारणा से भस्मीभूत किये विना ज्यों के त्यों यथावत् अपने शरीर के साथ अपने लोक में चले गये। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

भगवान्पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनो विभुः ।
संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ।।
लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत्स्वकम् ।।

श्रीमद्भागवत ११/३१/५-६

साधारण योगी अग्नि धारणा से अपने शरीर को भस्म कर देता है। श्रीकृष्ण ने भी धारणा लगाई किन्तु अपने शरीर को भस्मीभूत किये विना श्रीकृष्ण सशरीर ही अपने धाम चले गये। इस प्रकार व्यास जी ने श्रीकृष्ण के जीवनचरित को आदि से अन्त तक योगसिद्धियों से परिपूर्ण प्रदर्शित किया है।

योग का प्रत्यक्ष वर्णन

अब तब जो कुछ कहा गया उससे यही प्रतीत होता है कि श्रीमद्भागवत में योगसम्बन्धी अनेक अप्रत्यक्ष संकेत विद्यमान हैं। अब श्रीमद्भागवत में अष्टाङ्गयोग का जो प्रत्यक्ष निदर्शन है, उस पर विचार किया जा रहा है। ऐसा निदर्शन एक ही स्थल पर नहीं, अपितु अनेक स्थलों में मिलता है।

श्रीमद्भागवत के तीन स्कन्धों में योग का मुख्यरूप से वर्णन मिलता है—

१. द्वितीय स्कन्ध के प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों में।

२. तृतीयस्कन्ध के पञ्चविंशतितम तथा अष्टाविंशतितम अध्यायों में कपिल जी का अपनी माता देवहूति के प्रति योग का उपदेश।

३. एकादशस्कन्ध के त्रयोदश अध्याय में सनकादियों को हंसरूपधारी भगवान् के द्वारा योग का वर्णन, चतुर्दश अध्याय में ध्यानयोग का वर्णन, पञ्चदश अध्याय में अणिमादि अठारह सिद्धियों का वर्णन, एकोनविंश

अध्याय में यम-नियमादि का वर्णन, अष्टाविंश अध्याय में ज्ञानयोग तथा एकोनत्रिंश अध्याय में भक्तियोग के साथ अष्टाङ्गयोग का वर्णन।

श्रीमद्भागवत में अष्टाङ्गयोग की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह स्वतन्त्र साधनरूप से उपस्थित किया गया है। साथ ही साथ अन्य साधनमार्गों को भी वह सहायता पहुँचाता है। योग भक्ति के लिये सर्वाधिक सहायकीभूत है, तथापि वह ज्ञान-कर्म-भक्ति के समान एक पृथक् स्वतन्त्र साधनपथ है। जिस पर चलकर साधकगण परमात्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं।

योग के भेद

श्रीमद्भागवत में योग के आठ अङ्ग बतलाये गये हैं। वे हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इनमें से यम और नियम का संक्षिप्त वर्णन भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय में मिलता है। पातञ्जलसूत्र में तो यम-नियम के पांच-पांच प्रकार बतलाये गये हैं। परन्तु श्रीमद्भागवत में प्रत्येक के बारह भेद माने गये हैं।

यम के द्वादश भेद

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असङ्ग, ह्री, असञ्चय, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य, क्षमा तथा अभय। वचन है—

अहिंसा सत्यमस्तेमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम् ।।

श्रीमद्भागवत ११/१९/३३

नियम के द्वादश भेद

बाह्यशौच, आभ्यन्तरशौच, जप, तप, होम, श्रद्धा, आतिथ्य, भगवदर्चन, तीर्थाटन, परार्थचेष्टा, सन्तोष तथा आचार्यसेवन। वचन है—

शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम् ।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ।।

श्रीमद्भागवत ११/१९/३४

यम के इन द्वादश भेदों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवत का षष्ठ असञ्चय) पातञ्जतयोगदर्शन में भी हैं, शेष सात

नवीन हैं। नियमों में उसी भाँति शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (भागवत का अष्टम भगवदर्चन) पातञ्जलयोगदर्शन में भी हैं, शेष सात भेद अतिरिक्त हैं।

आसन

यह योग का तृतीय अङ्ग है। शुद्ध, पवित्र तथा एकान्त स्थान में आसन लगाना चाहिए। आसन 'चैलाजिनकुशोत्तर' होना चाहिए। इसका 'कल्पितासन' शब्द के द्वारा भागवत में स्थान-स्थान पर संकेत है। योग में अनेक आसन बतलाये गये हैं। स्वस्तिकासन में बैठे तथा उस समय अपने शरीर को वक्र न होने दें। श्रीमद्भागवत का वचन है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।
तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ।।

श्रीमद्भागवत ३/२८/८

इस लोक में श्रीधरस्वामी ने 'स्वस्तिक' पाठ को शुद्ध माना है, जबकि अन्य टीकाकारों ने 'स्वस्ति समासीनः' पाठ ही माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासन में सुखपूर्वक बैठे, ऐसा अर्थ किया है। अतः श्रीमद्भागवत में किसी एक आसन के प्रति आदर दिखाया गया नहीं प्रतीत होता है। स्थान-स्थान पर टीकाकारों के संकेत से पद्म अथवा सिद्ध आसनों की ओर भी आग्रह दिखलाई पड़ता है। आसनस्थ होने से पूर्व धीर पुरुष को परामर्श दिया गया है, कि गृह से निकला हुआ वह धीर पुरुष पुण्य तीर्थ के जल में स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थान में विधिपूर्वक विस्तीर्ण आसन पर आसीन होवे—

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः ।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने ।।

श्रीमद्भागवत २/१/१६

ज्ञातव्य है कि श्लोक में 'कल्पितासन' शब्द से सुखपूर्वक बैठने के सभी प्रकार को शास्त्रीय मान्यता दी गई है।

प्राणायाम

प्राणों का आयाम योग का चतुर्थ अङ्ग है। पूरक, कुम्भक तथा रेचक के द्वारा प्राण के मार्ग को शुद्ध करने का उपदेश किया गया है—

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।

श्रीमद्भागवत ३/२८/९

प्राणायाम पुराणों में दो प्रकार का बतलाया गया है—अगर्भ तथा सगर्भ। अगर्भप्राणायाम वह है, जिसमें जप तथा ध्यान के विना ही मात्रा के अनुसार प्राणायाम किया जाय। सगर्भप्राणायाम में जप तथा ध्यान अवश्य करना चाहिए। अतः दोनों में सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ है। अतः पुराणों में उसी के करने का उपदेश किया है। शिवपुराण की वायवीय संहिता के उत्तरखण्ड अध्याय सैंतीस में इन दोनों के भेद तथा उपयोग का वर्णन मिलता है—

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः ।
जपं ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात् ।।

शिवपुराण

अर्थात् प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ दो प्रकार का कहा गया है। जप और ध्यान के विना जो प्राणायाम होता है वह अगर्भ है और जप-ध्यान के सहित जो है वह सगर्भ है।

विष्णुपुराण में कहा गया है—

अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः ।
तस्मात्सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ।।

विष्णुपुराण ६/७/४०

अर्थात् अगर्भ से सगर्भ प्राणायाम का गुण शताधिक है। इसलिये योगी सगर्भ प्राणायाम करते हैं। विष्णुपुराण में अगर्भ को अबीज तथा सगर्भ को सबीज प्राणायाम कहा गया है।

श्रीमद्भागवत में भी इसी सगर्भ प्राणायाम का विधान बतलाया गया है। अभ्यासी प्राणायाम करता जाय साथ ही साथ अ-उ-म् से ग्रथित ब्रह्माक्षर ॐकार की मन में आवृत्ति भी करता जाय। ॐकार को विना विस्मृत किये अपने श्वास को विजित करे—

हृद्यविच्छिन्नमोङ्कारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तथात्र पुनः संवेशयेत्स्वरम् ।।

श्रीमद्भागवत ११/१४/३४

श्रीमद्भागवत में बतलाया गया है कि इन तीन अक्षर वाले शुद्ध परम ब्रह्माक्षर मन्त्र का मन से जप करे। इस ब्रह्मबीज को विना विस्मृत किए श्वास को जीतकर मन को एकाग्र करे—

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम् ।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन् ।।

श्रीमद्भागवत २/१/१७

जो योगी इस प्रकार सगर्भ प्राणायाम के अभ्यास से श्वासजय प्राप्त कर लेता है, उसके मन से आवरक मल रज तथा तम का नाश उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि में तप्त लोह से मलिनता नष्ट हो जाती है। श्रीमद्भागवत का वचन है—

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति मलम् ।।

श्रीमद्भागवत ३/२८/१०

ऊपर पूरक, कुम्भक तथा रेचक के क्रम से प्राणायाम करने का विधान बतलाया गया है। परन्तु श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में विपरीत क्रम से भी प्राणायाम करने की विधि बतलाई गई है—

विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ।

श्रीमद्भागवत ११/१४/३३उ.

यहाँ **विपर्ययेणापि** का अर्थ श्रीधरस्वामी ने दो प्रकार से किया है। एक अर्थ तो यह हुआ—साधारण नियम का व्यतिक्रम अर्थात् रेचक, पूरक, कुम्भक। इसका आशय यह है कि प्रथम रेचक करे तदनन्तर कुम्भक तथा अन्त में पूरक। कुम्भक दो प्रकार का होता है—अन्तःकुम्भक तथा बहिःकुम्भक। श्रीमद्भागवत में इन दोनों का इस प्रकार वर्णन है तथा दोनों में किसी एक के द्वारा चित्त को स्थिर करने का उपदेश किया गया है। दूसरा अर्थ यह बतलाया गया है कि वाम नाडी से पूरक करे तथा दाहिनी नाडी से रेचक करे। दोनों ही अर्थ योगाभ्यासियों को सम्मत हैं। प्राणायाम को तीनों काल में प्रातः, मध्याह्न तथा सायं करना चाहिए और प्रत्येक बार दस प्राणायाम करना चाहिए। इस नियम से प्राणायाम किया जाय, तो एक माह के पूर्व ही साधक पवन को वश में कर लेता है—

दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः ।

श्रीमद्भागवत ११/१४/३५उ.

प्रत्याहार

इस प्रकार आसन, सङ्ग तथा श्वास को विजित कर साधक अपनी इन्द्रियों को उनके तत्तद्विषयों से प्रत्यावर्तित करे। इसमें सहायकीभूत होता है निश्चय बुद्धि वाला मन। मन के द्वारा निश्चयात्मिका बुद्धि की सहायता से मनुष्य अपनी इन्द्रियों को विषयों से खींचकर उन्हें एक स्थान में रखने का प्रयत्न करे।

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः ।

श्रीमद्भागवत २/१/१८ पू.

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः ।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ।।

श्रीमद्भागवत ११/१४/४२

धारणा

मन को एक वस्तु में स्थिर करने का नाम 'धारणा' है। श्रीमद्भागवत में दो प्रकार की धारणा बतलाई गई है। वे ही धारणाएँ अन्य पुराणों में भी नामभेद से भगवान् के दो रूप हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म। इन्हीं को विष्णुपुराण में मूर्त अर्थात् विश्व तथा अमूर्त अर्थात् सत् रूप बतलाया गया है। भगवान् के इन्हीं दो रूपों में धारणा तथा ध्यान करना चाहिए। अतः श्रीमद्भागवतविहित धारणा के दो भेद हैं—वैराजधारणा तथा अन्तर्यामिधारणा।

सर्वप्रथम भगवान् के स्थूलरूप में ही धारणा तथा ध्यान लगाना चाहिए। अर्थात् पहले भगवान् के विराट् रूप की धारणा करे। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के प्रथम अध्याय में भगवान् के विराट् रूप का इतना सुन्दर तथा साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है कि पद्यों को पढ़ते-पढ़ते भगवान् का रूप नेत्रों के समक्ष अवस्थित हो जाता है। स्थूल होने के कारण मूर्तरूप में मन सहज एकाग्र हो जाता है। इसे ही वैराज धारणा कहते हैं। जब यह धारणा साधक को सिद्ध हो जाय तब उसे अमूर्तरूप की धारणा करनी चाहिए। इसे ही अन्तर्यामिधारणा कहते हैं। श्रीमद्भागवत के अनेक स्थानों—द्वितीय

स्कन्ध, तृतीय स्कन्ध तथा एकादश स्कन्ध के अनेक अध्यायों में अन्तर्यामिधारणा का अतीव सुन्दर वर्णन मिलता है। यथा—

हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।
ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ।।
कर्णिकायां न्यसेत् सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम् ।
वह्निमध्ये स्मरेद्रूपं ममैतद्ध्यानमङ्गलम् ।।

श्रीमद्भागवत ११/१४/३६-३७

अभिप्राय यह है कि अपने शरीर के भीतर ऊर्ध्वनाल के अधोमुख हृत्पुण्डरीक को ऊर्ध्वमुख, विकसित, अष्टदल वाला कर्णिकायुक्त ध्यान करे। कर्णिका में क्रमशः सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के मण्डल को रखे। इस अग्नि के भीतर आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्र वनमालधारी की मनमोहिनी मूर्ति का ध्यान करे। भगवान् के इस मनोहारी रूप का जैसा वर्णन श्रीमद्भागवत में मिलता है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। व्यास जी ने अपनी समग्र कविताशक्ति का मानों यही समायोजन किया है। इस रूप की धारणा; जिसे अन्तर्यामिधारणा कहते हैं, तब तक करे जब तक मन निश्चल तथा स्थिर न हो जाय।

ध्यान

किसी वस्तुविशेष में अनुस्यूत रूप से धारित मन ध्यान करे। जहाँ प्रत्यय की एकतानता होती है, उसे ध्यान कहते हैं—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

योगसूत्र ३/२

श्रीमद्भागवत में ध्यान का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। सारांश यही है कि जब तक हृत्कर्णिका में भगवान् के समग्र शरीर की धारणा सम्यक् स्थिर न हो जाय, तब तक भगवान् के प्रत्येक अंग का ध्यान करना चाहिए। अङ्गों का क्रम **पादादियावत् हसितं गदाभृतः** (चरणों से लेकर हंसते हुए मुख तक) है। इसका वर्णन तीसरे स्कन्ध के अट्ठाईसवें अध्याय में द्रष्टव्य है। भगवान् के चरण का ध्यान प्रारम्भ कर ऊपर बढ़ता जाय और अन्त में मुख के स्मित हास के ऊपर ध्यान लगावे।

सञ्चिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवालज्योत्स्नाभिराहतमहद्हृदयान्धकारम् ।।

श्रीमद्भागवत ३/२८/२१

अर्थात् उत्तम प्रकार से भगवान् के उन चरण-कमल का ध्यान करे जो चरणकमल वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल के चिह्नों से युक्त हैं तथा जिन्होंने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखों की ज्योत्सना से सत्पुरुषों के हृदय के अन्धकार को अपसारित किया है।

श्रीमद्भागवत के आगे का वचन है—

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठभासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत् स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णोर्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग् दिदृक्षेत् ।।

श्रीमद्भागवत ३/२८/३३

अर्थात् हृदय में रहने वाले भगवान् के उस ध्यानायनस्वरूप हृदय का—जिस हास्य से नीचे के अधर की लालिमा अन्तस्थ कुन्दकली सदृशा दन्तपंक्ति को अरुणं आभा प्रदान कर रही है—अर्पित मन होकर सरस भक्ति से ध्यान करे, पृथक् न देखे।

समाधि

ध्यान के पश्चात् ही समाधि का स्थान है। उस समय भक्ति से द्रवीभूत हृदय, आनन्द से रोमाञ्चित होकर उत्कण्ठा से अश्रुओं की धारा में स्नान करने वाले भगवान् का भक्त अपने चित्त को भी उसी भाँति पृथक् कर देता है, जिस प्रकार मत्स्य के मारे जाने पर मछुआरा बडिश (कांटे) को पृथक् कर देता है। उस समय निर्विषय मन अर्चि की तरह गुणप्रवाह से रहित होकर भगवान् में लय प्राप्त कर लेता है अर्थात् ब्रह्माकार में परिणत हो जाता है—

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो भक्त्या द्रवद्हृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानस्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ।।
मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमुच्छति मनः सहसा यथार्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यधानमेकमन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ।।

सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्स्वात्मन्विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ।।

श्रीमद्भागवत ३/२८/३४-३६

इस प्रकार श्रीहरि में जिसका पूर्ण प्रेमभाव हो गया है, जिसका हृदय भक्ति से द्रवीभूत हो गया है, प्रेमानन्द से जो पुलकित हो उठा है, जो भूयोभूयः उत्कण्ठा से उत्पन्न हुई अश्रुधारा से स्नात रहता है, वह उस चित्तरूप बडिश (मछली पकड़ने के कांटे) को शनैः-शनै त्याग देता है। संसार का आश्रय जिसने छोड़ दिया, जो निर्विषय और पूर्ण विरक्त हो गया, वह मनरूपी वर्तिका के जल जाने पर दीपशिखा के महज्ज्योति में मिलने के समान निर्वाण पद को प्राप्त होता है। त्रिगुण का प्रवाह जिससे हट गया ऐसा वह पुरुष अपने अतिरिक्त अन्य व्यवधान न देखता हुआ अखण्ड आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है। वह पुरुष मन की इस चरम निवृत्ति से सुख-दुःख के बहिः उस महिमा में लीन रहता है। ऐसी आत्मस्थिति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ पुरुष यद्यपि अपने आप को कर्त्ता नहीं मानता तथापि सुख-दुःख का जो मूलकारण है वह अपने अन्दर देखता है।

उक्त वर्णित योग की यह महती विशेषता विदित होती है कि यह अष्टाङ्गयोग भक्ति के साथ नितान्त सम्बद्ध है। वास्तविक योगी शुष्क साधक नहीं है, प्रत्युत भगवान् की उत्तम भक्ति से आप्लावित हृदय वाला परम भागवत है। विना भक्ति के योगविहित समाधि की निष्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती। व्यास जी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा कि योग का उद्देश्य कायाकल्प नहीं है, शरीर को केवल दृढ बनाना नहीं है। परन्तु उसका प्रधान उद्देश्य भगवान् में चित्त लगाना है, भगवत्परायण होना है—

केचिद् देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् ।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ।।
न हि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः ।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ।।
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत्कल्पतामियात् ।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान्योगमुत्सृज्य मत्परः ।।

श्रीमद्भागवत ११/२८/४१-४३

अर्थात् कोई-कोई धीर इस देह का कल्प करने अथवा चिरायु होने के लिये योग के विविध उपाय किया करते हैं। परन्तु कुशल (विवेकी) पुरुष इसका आदर नहीं करते हैं। उनके अनुसार यह सारा प्रयास व्यर्थ ही जाने वाला होता है, क्योंकि वृक्ष के फल की तरह शरीर नाशवान् है। योगसाधन करने से काया यदि कल्पान्तपर्यन्त भी जीती रहे तो भी मत्परायण बुद्धिमान् पुरुष को भगवद्योग छोड़कर उसमें कभी श्रद्धा नहीं करनी चाहिए।

श्रीमद्भागवत का योग के विषय में यही परिनिष्ठित सिद्धान्त प्रतीत होता है कि योगियों के लिये जगदाधार भगवान् में भक्ति के द्वारा चित्त लगाने के अतिरिक्त ब्रह्मप्राप्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ।।

श्रीमद्भागवत ३/२५/१९

अभिप्राय यह है कि अखिल आत्मस्वरूप भगवान् में लगी हुई भक्ति के समान शिवः पन्था अर्थात् कल्याणकारी मार्ग योगियों के लिये ब्रह्मप्राप्ति में और कोई नहीं है।

योगवासिष्ठ में योग

योगवासिष्ठ महारामायण भारतवर्ष के आध्यात्मिक ग्रन्थों में बहुत उच्चकोटि का ग्रन्थ है। इसमें वसिष्ठ ऋषि द्वारा श्रीरामचन्द्र को किये गये आध्यात्मिक उपदेश का अत्यधिक सरस भाषा में वर्णन है। इसके दार्शनिक सिद्धान्त बहुत सूक्ष्म और गहन हैं।

'योग' शब्द का अर्थ

योगवासिष्ठ में योग शब्द का अर्थ है—संसार-सागर से पार होने की युक्ति—

संसारोत्तरणे युक्तिर्योग शब्देन कथ्यते ।

योगवासिष्ठ ६/१/११/३ पूर्वार्द्ध

योग का आदर्श

योग द्वारा मनुष्य अपने यथार्थ सच्चिदानन्दस्वरूप का अनुभव कर लेता है। योग का ध्येय वह तुरीय नामक परम आत्मा में स्थिति है, जिसमें जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति किसी भी अवस्था का अनुभव न हो और न ही इनके आगामी अनुभव का बीज भी रहे और जिसमें परम आनन्द का निरन्तर अनुभव होता रहे। यही योग का प्राप्य अनुभव है। इस स्थिति का अनुभव विना उस अमृत के समुद्र में जिसमें समस्त तरंगे शान्त हो गईं हैं, मन के अस्त हुए असम्भव है। वचन है—

तां विद्धि द्विप्रकारां त्वं चित्तोपशमधर्मिणीम् ।

योगवासिष्ठ ६/१/१३/३ उत्तरार्द्ध

जीवस्य च तुरीयाख्या स्थितिर्या परमात्मनि ।
अवस्थाबीजनिद्रादिनिर्मुक्ता चित्सुखात्मिका ।।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/५० पूर्वार्द्ध

योगस्य सेयं वा निष्ठा सुखं संवेदनं महत् ।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/५१ पूर्वार्द्ध

मनस्यस्तंगते पुंसां तदन्यन्नोपलभ्यते ।
प्राशान्तामृतकल्लोले केवलामृतवारिधौ ।।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/५२

योग की तीन रीतियाँ

योगवासिष्ठ में योग की तीन रीतियाँ उपवर्णित हैं। वे हैं—१. एक तत्त्व की दृढभावना, २. मन की शान्ति तथा ३. प्राणों के स्पन्दन का निरोध। इन तीनों में से किसी एक पर चलने से तीनों की ही सिद्धि हो जाती है—

एकतत्त्वघनाभ्यासः प्राणानां विलयस्तथा ।
मनोविनिग्रहश्चेति योगशब्दार्थसंग्रहः ।।

योगवासिष्ठ ३/१/६९/२७

एकार्थाभ्यसनप्राणरोधचेतःपरिक्षयाः ।
एकस्मिन्नेव संसिद्धे संसिध्यन्ति परस्परम् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/६९/४०

इन तीनों में से मन को शान्त (मनोनिग्रह) करना सबसे उत्तम है। इसके सिद्ध हो जाने पर शीघ्र ही कल्याण हो जाता है। वचन है—

त्रिष्वेतेषु प्रयोगेषु मनःप्रशमनं वरम् ।
साध्यं विद्धि तदेवाशु यथा भवति तच्छिवम् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/६९/२९

किसी को ज्ञान का अभ्यास, किसी को प्राणनिरोध और किसी को मन का शान्त करना सरल होता है। तथापि योगवासिष्ठकार कहते हैं कि प्राणों के निरोध की अपेक्षा मन को शान्त करना अथवा एक तत्त्व का दृढ अभ्यास करना अधिक सरल है। इसीलिये इस ग्रन्थ में इन दो रीतियों का ही अधिक विवरण प्राप्त है। वचन है—

असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।
मम त्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञाननिश्चयः ।।

योगवासिष्ठ ६/१/१३/८

चित्त को शान्त करने के दो उपाय हैं—एक योग और दूसरा ज्ञान। योग का अर्थ है—चित्त की वृत्तियों का निरोध करना और ज्ञान का अर्थ है—यथावस्थित वस्तु को जानना। चित्त और चित्त की वृत्ति (स्पन्दन) दोनों में से किसी एक का क्षय होने से दूसरे का भी क्षय हो जाता है। एक गुणी है दूसरा उसका गुण है। एक के नष्ट होने पर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वचन है—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ।।

योगवासिष्ठ ५/७८/८

चित्तचित्तपरिस्पन्दपक्षयोरेकसंक्षये ।
स्वयं गुणो गुणी स्थित्वा नश्यतो द्वौ न संशयः ।।

योगवासिष्ठ ५/७८/७

योगवासिष्ठानुसार योग के तीन प्रकारों का प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है—

एक तत्त्वावलम्बित दृढ अभ्यास

एक तत्त्व का दृढतापूर्वक अभ्यास करने से मन शान्त होकर विलीन हो जाता है और प्राणों का स्पन्दन स्वयं ही अवरुद्ध हो जाता है। वचन है—

एकतत्त्वघनाभ्यासाच्छान्तं शाम्यत्यलं मनः ।
तल्लीनत्वात्स्वभावस्य तेन प्राणोऽपि शाम्यति ।।

योगवासिष्ठ ६/१/६९/४८

योगवासिष्ठ में एक तत्त्व को आलम्बन बनाकर दृढाभ्यास करने की तीन रीतियाँ वर्णित हैं। वे हैं—ब्रह्मभावना, पदार्थों के अभाव की भावना तथा केवलीभावना। योगवासिष्ठकार ने विस्तारपूर्वक इन प्रभेदों का प्रतिपादन किया है—

(क) ब्रह्मभावना—प्रथमतः विचार द्वारा यह निश्चय हो जाना चाहिए कि जगत् में केवल एक ही अनन्त आत्मतत्त्व है और समस्त पदार्थ उसी तत्त्व के नाना नाम-रूप हैं। एतावता अनन्त आत्मतत्त्व का निश्चय करके मन को तन्मय बनाने का यत्न करना चाहिए। वचन है—

विचार्य यदनन्तात्मतत्त्वं तन्मयतां नय ।

मनस्ततस्तल्लयेन तदेव भवति स्थिरम् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/६९/४९

इस प्रकार का ब्रह्माभ्यास करने से मन ब्रह्माकार होकर विलीन हो जाता है और प्राणों की गति भी स्वयं ही अवरुद्ध हो जाती है। वचन है—

प्रत्याहारवतां चेतः स्वयं भोग्यक्षयादिव ।

विलीयते सह प्राणैः परमेवावशिष्यते ।।

योगवासिष्ठ ६/१/६९/५२

मन (आत्मा) जैसी-जैसी भावना करता है वह शीघ्र ही वैसा ही हो जाता है और वैसी ही शक्ति से पूर्ण हो जाता है। वचन है—

यथैव भावयत्यात्मा सततं भविष्यति स्वयम् ।

तथैवापूर्यते शक्त्या शीघ्रमेव महानपि ।।

योगवासिष्ठ ४/११/५९

लौकिक दृष्टान्त द्वारा विषय को स्पष्टता प्रदान करते हुए योगवासिष्ठकार बतलाते हैं—जैसे बरसाती नाले वृष्टि होने से बड़ी-बड़ी नदियों में परिवर्तित हो जाते हैं, वैसे ही भावना द्वारा मन आत्मरूप होकर अनन्त और सब कुछ हो जाता है। अर्थात् अपने आप को ब्रह्म समझते-समझते वह एक दिन ब्रह्म ही बन जाता है। वचन है—

भाविता शक्तिरात्मानमात्मतां नयति क्षणात् ।

अनन्तमखिलं प्रावृड् मिहिका महती यथा ।।

योगवासिष्ठ ४/११/६०

(ख) असत्पदार्थविषयिणी भावना

असत्पदार्थविषयिणी भावना अर्थात् अभावभावना का अर्थ है—पदार्थों को अत्यन्त असत् समझकर उनके पारमार्थिक अभाव की दृढभावना करना। तदनुसार जो लोग युक्ति और शास्त्र के अध्ययन द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों को अत्यन्त असत् समझने का प्रयत्न करते हैं, वे ब्रह्माभ्यासी कहलाते हैं। वचन है—

अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातृज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते ब्रह्माभ्यासिनः स्थिताः ।।

योगवासिष्ठ ३/२२/२७

असत्य दृष्टि के क्षीण हो जाने पर और सत्य दृष्टि के दृढ हो जाने पर आत्मा निर्विकल्प और शुद्ध चिति का आकार धारण कर लेता है। वचन है—

सत्यदृष्टौ प्रपन्नायामसत्ये क्षयमागते ।
निर्विकल्पचिदच्छात्मा स आत्मा समवाप्यते ।।

योगवासिष्ठ ४/२१/४३

अभिप्राय यह है कि ब्रह्म (आत्मा) के अतिरिक्त इस जगत् में और कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं और सब दृश्य पदार्थ वस्तुतः ब्रह्म ही हैं, तब उनको नाना नाम-रूप वाला और भिन्न सत्ता वाला समझना केवल भ्रम है। दृश्य जगत् के अत्यन्त अभाव की भावना के विना दूसरी और कोई शुभ गति नहीं है। वचन है—

भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अत्यन्ताभावसम्बोधे यदि रूढिरलं भवेत् ।।
तज्ज्ञातं ब्रह्मणो रूपं भवेन्नान्येन कर्मणा ।
दृश्यात्यन्ताभावतस्तु ऋते नान्या शुभा गतिः ।

योगवासिष्ठ ३/७/२७-२८

इस तथ्य को दृढतापूर्वक समझ लेना चाहिए कि जागतिक पदार्थ है ही नहीं, केवल ब्रह्म ही ब्रह्म सर्वत्र है। इस निश्चय के अभ्यास का नाम ब्रह्मभावना है। ऐसा करने से मन शान्त हो जाता है और अहंभाव और जगत् का अनुभव—दोनों का लोप होकर आत्मभाव में स्थिति हो जाती है। वचन है—

अत्यन्ताभावसम्पत्तिं विनाहन्ताजगत्स्थितेः ।
अनुत्पादमयी ह्येषा नोदेत्येव विमुक्तता ।।

योगवासिष्ठ ३/२१/१२

(ग) केवलीभाव

केवलीभाव उस निश्चय के अभ्यास का नाम है, जिसमें केवल एक आत्मतत्त्व की स्थिति मानी जाय और समस्त दृश्य पदार्थों के असत्य होने की दृढभावना होने के कारण अपने द्रष्टा होने को भी असत् समझा जाय और अपने उस आत्मस्वरूप में स्थिति हो जाय जिसमें द्वैत का कोई भाव नहीं है। वचन है—

यद्द्रष्टुरस्याद्रष्टृत्वं दृश्याभावे भवेद् बलात् ।
तद्विद्धि केवलीभावं तत एवासतः सतः ।।

योगवासिष्ठ ३/४/५३

अभिप्राय यह है कि वायु के अवरुद्ध हो जाने पर उसकी क्रियाएँ शान्त हो जाती हैं वैसे ही केवलीभाव के प्राप्त हो जाने पर राग-द्वेष आदि जन्य समस्त वासनाएँ नष्ट (शान्त) हो जाती हैं। वचन है—

तत्तामुपगते भावे रागद्वेषादिवासनाः ।
शाम्यन्त्यस्पन्दिते वाते स्पन्दनक्षुब्धता यथा ।।

योगवासिष्ठ ३/४/५४

इस अवस्था में मैं, तुम और जगत् आदि दृश्य के भ्रम के शान्त हो जाने पर और द्रष्टा के अनुभव में न आने पर केवलता का अनुभव उदय होता है—

अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे ।
स्यात् तादृशी केवलता स्थिते द्रष्टर्यवीक्षणे ।।

योगवासिष्ठ ३/४/५८

मनोलय

योगवासिष्ठ में मनोलय पर दृढतापूर्वक प्रकाश डाला गया है। क्योंकि इसमें मन को संसाररूपी चक्र का नाभिस्थान कहा गया है। तदनुसार मन ही संसार की उत्पत्ति का कारण और उसे सञ्चालित करने वाला है। मन के शान्त हो जाने पर जीवन में परम शान्ति आ जाती है और संसार का अनुभव शान्त हो जाता है। वचन है—

चित्तं नाभिः किलास्येह मायाचक्रस्य सर्वतः ।
स्थीयते चेत्तदाक्रम्य तन्न किञ्चित्प्रबाधते ।।

योगवासिष्ठ ५/४९/४०

संकल्पात्मक मन को बुद्धि द्वारा वशीभूत करने पर संसार की गति वैसे ही अवरुद्ध हो जाती है जैसे कि नाभि को पकड़ लेने पर चक्र की गति। वचन है—

तस्मिन्द्रुतमवष्टब्धे धिया पुरुषयत्नतः ।
गृहीतनाभिवहनान्मायाचक्रं निरुद्ध्यते ।।

योगवासिष्ठ ५/५०/७

चित्त और जगत् में अन्योन्याभावसम्बन्ध है। अर्थात् चित्त की सत्ता से जगत् की सत्ता है और जगत् की सत्ता से चित्त की सत्ता है। एक का नाश होने पर दोनों का अभाव हो जाता है और ऐसा प्रज्ञा, बल और युक्ति द्वारा सत्य का विचार करने पर सम्भव होता है। वचन है—

चित्तसत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तैव चित्तकम् ।
एकाभावाद् द्वयोर्नाशः स च सत्यविचारणात् ।।

योगवासिष्ठ ४/१७/१९

चित्त में संसार की स्थिति उसी प्रकार है जिस प्रकार घट में घटाकाश। चित्त के नष्ट होने पर संसार उसी प्रकार नहीं रहता है, जिस प्रकार घट के नष्ट होने पर घटाकाश। वचन है—

चित्तान्तरेव संसारः कुम्भान्तः कुम्भखं यथा ।
चित्तनाशे न संसारः कुम्भनाशे न कुम्भखम् ।।

योगवासिष्ठ ५/५०/१४

जिस प्रकार वायु का प्रवाह अवरुद्ध हो जाने पर गन्ध की अनुभवता अवरुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार मन की स्पन्दनक्रिया अवरुद्ध होने पर तदाश्रित प्राणों की गति भी शान्त हो जाती है। वचन है—

शान्ते वातपरिस्पन्दे यथा गन्धः प्रशाम्यति ।
तथा शान्ते मनःस्पन्दे शाम्यन्ति प्राणवायवः ।।

योगवासिष्ठ ६/१/६९/४४

चित्त के लीन हो जाने पर द्वैत और अद्वैत दोनों की भावनाओं का लय होकर परम शान्त आत्मतत्त्व का ही अनुभव रह जाता है। वचन है—

चित्ते त्यक्ते लयं याति द्वैतमैक्यं च सर्वतः ।
शिष्यते परमं शान्तमच्छमेकमनामयम् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/९३/४४

संसाररूपी दुःख से मुक्त होने का उपाय केवल मन को निगृहीत करना है। इसी उपाय द्वारा मनुष्य को परम शान्ति का अनुभव होता है। इस युक्ति के विना शुभ गति प्राप्त नहीं होती है। वचन है—

संसारस्यास्य दुःखस्य सर्वोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः ।।

योगवासिष्ठ ४/३५/२

मन ही स्थूल होकर परिमित जीव हो जाता है और मन सूक्ष्म और विस्तृत होकर ब्रह्म हो जाता है। जिन कारणों के द्वारा मन स्थूलता को प्राप्त होकर दुःख भोगता है, वे हैं—अनात्मवस्तु में आत्मभाव, स्थूल देह के प्रति आस्था, स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादि से ममत्व, युष्मद्-अस्मद् की भावना, जरा-मरणादि से भय, संसार से सुख की आशा, किसी वस्तु की प्राप्ति और किसी वस्तु के त्याग का यत्न, शब्द-स्पर्शादि विषयों के भोगों के प्रति तृष्णा और भोगों की संलग्नता से विषयों से बद्ध होना आदि। वचन है—

अन्यात्मन्यात्मभावेन देहमात्रास्थयानया ।
पुत्रदारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ।।
अहंकारविकारेण ममतामलहेलया ।
इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ।।
जरामरणदुःखेन व्यर्थमुन्नतिमीयुषा ।
दोषाशाविषकोशेन चेतो गच्छति पीनताम् ।।
आगमापायवपुषा विषवैषम्यशंसिना ।
भोगाभोगेन भीमेन चेतो गच्छति पीनताम् ।।

योगवासिष्ठ ५/५०/५७-५९,६३

मनोलय के उपाय

जिस प्रकार मदमस्त गज को अंकुश के विना वश में नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार मन को भी शास्त्रसम्मत युक्तियों के अभ्यास के विना वशंगत करना सम्भव नहीं है। वचन है—

अङ्कुशेन विना मत्तं यथा दुष्टं मतङ्गजम् ।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दताम् ।।

योगवासिष्ठ ५/९२/३४,३५

जो व्यक्ति शास्त्रसम्मत युक्तियों के विना मन पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, उन्हें हठधर्मी कहा जाता है क्योंकि भय और दुःख ऐसे व्यक्तियों का अनुगमन करते हैं। वचन है—

साधयन्ति समुत्सृज्य युक्तिं ये तान् हठान्विदुः ।
भयाद्भयमुपायान्ति क्लेशात्क्लेशं व्रजन्ति ते ।।

योगवासिष्ठ ५/९२/४०

अतः योगवासिष्ठकार ने चित्त के ऊपर विजय प्राप्त करने की चार प्रमुख युक्तियाँ बतलाई हैं। वे हैं—अध्यात्मप्रधान ग्रन्थों का अध्ययन, साधुओं का सत्सङ्ग, वासनाओं का परित्याग तथा प्राणों का निरोध। वचन है—

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ।

योगवासिष्ठ ५/९२/३५,३६

मनोलय के उपायों की अन्तर्संगति लगाते हुए योगवासिष्ठकार बतलाते हैं कि ज्ञान द्वारा वासनारहित हो जाने पर मन का नाश हो जाता है और प्राणों का स्पन्दन भी अवरुद्ध हो जाता है। केवल शान्ति ही रह जाती है।

ज्ञानादवासनीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः ।
प्र गस्पन्दं च नादत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते ।।

योगवासिष्ठ ६/१/६९/३५

योगवासिष्ठ में मन को शान्त करने के अनेक उपाय वर्णित हैं। उनमें से कुछ प्रमुख उपाय अधोलिखित हैं—

(क) ज्ञानयुक्ति

योगवासिष्ठकार का मत है कि ज्ञान द्वारा मन का निरोध करना उतना ही सहज और सरल है जितना नेत्रों को मीलित (बन्द) करना अथवा पुष्प को आहत करना (रौंदना)। ऐसा करने में अत्यल्प कष्ट नहीं होता है। वचन है—

अपि पुष्पावदलनादपि लोचनमीलनात् ।
सुकरोऽहंकृतेस्त्यागो न क्लेशोऽत्र मनागपि ।।

योगवसिष्ठ ६/१/१११/३१

मन की सत्ता अज्ञानमूलक होने से ज्ञान द्वारा उसकी सत्ता उसी प्रकार सरलता से नष्ट की जा सकती है जिस प्रकार रज्जु में भासित सर्प की सत्ता अथवा मरुभूमि में मृगतृष्णा के जल की सत्ता। वचन है—

यथा रज्ज्वां भुजङ्गत्वं मरावम्बुमतिर्यथा ।
मिथ्यावभासः स्फुरति तथा मिथ्याप्यहंकृतिः ।।

योगवासिष्ठ ६/१/१११/३४

नियम है कि जो वस्तु अज्ञानजन्य है वह ज्ञान द्वारा तुरन्त नष्ट हो जाती है। सत्य का ज्ञान होने पर यह भली-भाँति निश्चित हो जाता है कि वस्तुतः आत्मा के अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है और मन भी असद्रूप है। वचन है—

मननं कृत्रिमं रूपं ममैतन्न यतोऽस्म्यहम् ।
इति तत्त्यागतः शान्तं चेतो ब्रह्म सनातनम् ।।

योगवासिष्ठ ४/११/२७

(ख) संकल्पत्याग

मन के बन्धन का कारण संकल्प है, अतः संकल्प का अभाव ही मन की मुक्ति है। वचन है—

सङ्कल्पनं मनोबन्धस्तदभावो विमुक्तता ।

योगवासिष्ठ ६/२/१/२७

संकल्परहित होने पर मनुष्य चित्तरहित हो जाता है और चित्तरहित होने से मुक्ति का उदय होता है। वचन है—

अचित्तत्त्वमसङ्कल्पान्मोक्षस्तेनाभिजायते ।

योगवासिष्ठ ५/१३/८०

इस प्रकार संकल्प के शान्त होने पर संसार का समस्त दुःख मूलसहित नष्ट हो जाता है, क्योंकि संकल्प ही जगत् के मिथ्या अनुभव का कारण है। वचन है—

उपशान्ते हि संकल्पे उपशान्तमिदं भवेत् ।
संसारदुःखमखिलं मूलादपि महामते ।।

योगवासिष्ठ ४/५४/१९

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अपने अहंभाव का आरोहण करना ही संकल्प है और अहंभाव को शून्य करने का यत्न ही संकल्पत्याग कहलाता है। वचन है—

अहंभावनमेवाहुः कल्पनं कल्पनाविदः ।
नभोऽर्थभावनं तस्य संकल्पत्याग उच्यते ।।

योगवासिष्ठ ६/२/१/३

(ग) विषयभोग के प्रति अनासक्ति

योगवासिष्ठकार का मत है कि विषयभोग के प्रति लिप्सा बनी रहना ही बन्धनस्वरूप है और भोगेच्छा का परित्याग ही मोक्ष कहलाता है। वचन है—

भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते ।

योगवासिष्ठ ४/३५/३

यतो यतो विरज्यते ततस्ततो विमुच्यते ।

योगवासिष्ठ ३/६१/३५

श्रुति कहती है कि यदि प्राणी को वास्तविक रूप से भोगों से विरक्ति हो जाय तो तुरन्त ही उसे उच्च पद की प्राप्ति हो जाती है। वचन है—

जाता चेदरतिर्जन्तोः भोगान्प्रति मनागपि ।
तदसौ तावतैवोच्चैः पदं प्राप्त इति श्रुतिः ।।

योगवासिष्ठ ३/६१/३४

संसाररूपी गर्त में पड़े हुए प्राणी तब तक संसार में भटकते रहते हैं जब तक विषयों के प्रति विरक्ति उत्पन्न नहीं हो जाती है। वचन है—

तावद् भ्रमन्ति दुःखेषु संसारावटवासिनः ।
विरतिं विषयेष्वेते यावन्नायान्ति देहिनः ।।

योगवासिष्ठ ५/२४/२२

विषय को स्पष्ट करते हुए योगवासिष्ठकार आगे निवेदन करते हैं कि जैसे दीपक और उसका प्रकाश एक दूसरे से सम्बद्ध है वैसे ही परा दृष्टि प्राप्त हो जाने पर तृष्णा का क्षय हो जाता है और तृष्णा का क्षय हो जाने पर परा दृष्टि की प्राप्ति होती है। वचन है—

परदृष्टौ वितृष्णत्वं तृष्णाभावे च दृक्परा ।
एते मिथः स्थिते दृष्टौ तेजोदीपदशे यथा ।।

योगवासिष्ठ ५/२४/५३

(घ) इन्द्रियनिग्रह

विजितेन्द्रिय वह कहलाता है जो विवेकयुक्त और उदार-आत्मा होता है। ऐसा इन्द्रियनिग्रहवान् व्यक्ति संसाररूपी समुद्र में वासनारूपी तरंगों से आन्दोलित नहीं होता है। वचन है—

विवेकवानुदारात्मा विजितेन्द्रिय उच्यते ।
वासनावीचिवेगेन भवाब्धौ न स मुह्यते ।।

योगवासिष्ठ ६/२/१६३/१५

जैसे मन्त्रिगण राजा की आज्ञा का पालन करते हैं वैसे ही इन्द्रियाँ मन का अनुसरण करती हैं। सांसारिक विषयों से विरक्त मन इन्द्रियों को भी निगृहीत कर लेता है। चित्त को इन्द्रियों का नायक कहा जाता है। नायक की विजय सेना को विजयी बनाती है, जैसे जूता पहनने वाले के लिये सम्पूर्ण पृथ्वी चमड़े से ढक जाती है। अतः योगवासिष्ठकार ने इन्द्रियनिग्रह के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। वचन है—

मनो यदनुसंधत्ते तत्सर्वेन्द्रियवृत्तयः ।
क्षणात्संपादयन्त्येता राजाज्ञामिव मन्त्रिणः ।।

योगवासिष्ठ ३/११४/४७

चित्तमिन्द्रियसेनाया नायकं तज्जयाज्जयः ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः ।।

योगवासिष्ठ ६/२/१६३/६

(ङ) वासनाक्षय

वासना चित्त का स्वरूप है। वासना शब्द का अर्थ है—इच्छा। एक शब्द में वासना और चित्त पर्याय हैं। योगवासिष्ठकार ने वासनिक चित्त के क्षय का प्रतिपादन किया है। वचन है—

वासनैव महाराज ! स्वरूपं विद्धि चेतसः ।
चित्तशब्दस्तु पर्यायो वासनाया उदाहृतः ।।

योगवासिष्ठ ६/१/९४/५

वह मनुष्य जिसकी समस्त वासनाएँ क्षीण हो गईं हैं, जीवन्मुक्त कहा जाता है। किन्तु बन्धनग्रस्त व्यक्ति जीवन्मुक्त अवस्था का अनुभव नहीं कर सकता है। वचन है—

प्रक्षीणवासना येह जीवतां जीवनस्थितिः ।
अमुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्ततोच्यते ।।

योगवासिष्ठ ३/२२/८

वासनात्याग की युक्ति को बतलाते हुए वासिष्ठकार आगे लिखते हैं कि सर्वप्रथम तामसी वासनाओं का परित्याग करके मन में मैत्री आदि सात्त्विक भावनाओं का विकास करना चाहिए। वचन है—

तामसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासिताः ।
मैत्र्यादिभावनानाम्नीं गृहाणामलवासनाम् ।।

योगवासिष्ठ ४/५७/२०

विकसित मैत्र्यादि भावना का जनमानस में प्रयोग करता हुआ अन्ततः इस सात्त्विकवृत्ति का निरोध करना चाहिए और ऐसा करने से साधक

की चित्तगतवासना का क्षय हो जाता है। तब केवल चिन्मात्रावस्थाक वासना ही चित्त में अवशिष्ट रहती है। वचन है—

तामप्यन्तः परित्यज्य ताभिर्व्यवहरन्नपि ।

अन्तःशान्तसमस्तेहो भव चिन्मात्रवासनः ।।

योगवासिष्ठ ४/५७/२१

अन्ततः मन और बुद्धिसहित उस वासना का भी परित्याग करके जो अवस्था शेष रहे, उसमें ध्यानिक स्थिरता प्राप्त करे। वचन है—

तामप्यथ परित्यज्य मनोबुद्धिसमन्विताम् ।

शेषे स्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्त्यज ।।

योगवासिष्ठ ४/५७/२२

इस प्रकार विशिष्ट वासना द्वारा अन्यान्य वासनाओं का परित्याग करके अन्ततः उसका भी त्याग कर देना चाहिए। एतावता उस ज्ञानवान् पुरुष के मन में, जिसने इस भावना से कि सब कुछ ब्रह्म ही है अपना अज्ञान नष्ट कर लिया है, कभी वासना का उदय नहीं होता है। वचन है—

यस्य मौर्ख्यं क्षयं यातं सर्वं ब्रह्मेति भावनात् ।

नोदेति वासना तस्य प्राज्ञस्येवाम्बुधिर्मरौ ।।

योगवासिष्ठ ६/१/८७/२५

जिस प्रकार दीप-प्रज्ज्वलन से अन्धकार नष्ट होकर प्रकाश का उदय होता है उसी प्रकार परमार्थ के ज्ञान से वासना का समूलोच्छेद होकर शान्ति का अनुभव होता है। वचन है—

परमार्थावबोधेन समूलं राम ! वासना ।

दीपेनेवान्धकारश्रीर्गलत्यालोक एति च ।।

योगवासिष्ठ ५/७४/२१

(च) अहंभाव का नाश

योगवासिष्ठकार का वक्तव्य है कि अहंभाव के दृढ होने पर ही संसार का उदय होता है और अहंभाव के क्षीण होने पर उस स्वभाव में स्थिति हो जाती है जिसमें निरन्तर शान्ति ही शान्ति है। वचन है—

अहंत्वोल्लेखतः सत्ता भ्रमभावविकारिणी ।

तदभावात्स्वभावैकनिष्ठता शमशालिनी ।।

योगवासिष्ठ ६/२/२६/२९

सिद्धान्त है कि अहंभावरूपी मेघ के क्षीण होने से चिदाकाश के निर्मल हो जाने पर ही आत्मानुभवरूपी सूर्य का प्रखर प्रकाश होता है। वचन है—

अहंकाराम्बुदे क्षीणे चिद्व्योम्नि विमले तते ।

नूनं सम्प्रौढतामेति स्वालोको भास्करः परः ।।

योगवासिष्ठ ५/१३/१७

यह संसार इन्द्रजाल की तरह मिथ्या है, अतः इसके प्रति राग-द्वेष व्यर्थ है। इस प्रकार चिन्तन करते रहने पर अहंभाव क्षीण हो जाता है। वचन है—

मिथ्येयमिन्द्रजालश्रीः किं मे स्नेहविरागयोः ।

इत्यन्तरानुसंधानादहंकारो न जायते ।।

योगवासिष्ठ ४/३३/४४

मैं ही निखिल जगत् हूँ, इस विचार द्वारा जब हेय (त्याज्य) और उपादेय (प्राप्य) भाव क्षीण हो जाता है और समत्वभाव जागरित होता है, तब अहंभाव की वृद्धि नहीं होती है। वचन है—

अहं हि जगदित्यन्तर्हेयादेयदृशोः क्षये ।

समतायां प्रसन्नायां नाहंभावः प्रवर्धते ।।

योगवासिष्ठ ४/३३/४६

संसार में सुख-दुःख की अनुभूति अहंकारजनित है। मन की अहंकारात्मक वृत्ति के क्षीण होने पर लोभ, मोह आदि दोष शुद्ध हृदय को उसी प्रकार स्पर्श नहीं करते हैं, जिस प्रकार पङ्क कमल को। इसकी अनुभूति प्रसन्नता आदि जनित सौन्दर्ययुक्त मुखमण्डल से अनुमित होती है। वचन है—

यत्किञ्चिदिदमायाति सुखदुःखमलं भवे ।

तदहंकारचक्रस्य प्रविकारो विजृम्भते ।।

योगवासिष्ठ ४/३३/३५

गलिते वा गलद्रूपे चित्तेऽहंकारनामनि ।

योगवासिष्ठ ६/१/११६/१

बलादपि हि संजाता न लिम्पन्त्याशयं सितम् ।
लोभमोहादयो दोषाः पयांसीव सरोरुहम् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/११६/२

(छ) असङ्गभाव का चिन्तन

व्यष्टिपरक सङ्गभाव को असङ्गभावरूपी अग्नि से दग्ध किया जाता है। जिस व्यक्ति के हृदय में सांसारिक वस्तुओं के प्रति सङ्गभाव (आसक्ति) प्रबल रहता है, वह संसाररूपी समुद्र में निमज्जित रहता है। इसके विपरीत जिसका मन सङ्गरहित रहता है, वही संसार से मुक्त होता है। वचन है—

अन्तःसङ्गवाञ्जन्तुर्मग्नः संसारसागरे ।
अन्तःसंसक्तिमुक्तस्तु तीर्णः संसारसागरात् ।।

योगवासिष्ठ ५/६७/३०

असंसक्त उसे कहते हैं जो इतने समानभाव में स्थित रहे कि न उसके लिये कर्म करना श्रेष्ठ हो और न कर्मों में संलग्न रहना और जिसने सब कर्मों के फल का परित्याग कर दिया हो। वचन है—

नाभिनन्दति नैष्कर्म्यं च कर्मस्वनुषज्जते ।
सुसमो यः फलत्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ।।

योगवासिष्ठ ५/६८/६

इस अवस्था में सब कुछ आत्मस्वरूप ही है—किस वस्तु का परित्याग करुँ और किसका ग्रहण? इस भाव का नाम असङ्ग है। जीवन्मुक्ति में यही दशा होती है। वचन है—

सर्वमात्मेदमखिलं किं वाञ्छामि त्यजामि किम् ।
इत्यसङ्गस्थितिं विद्धि जीवन्मुक्ततनुस्थितिम् ।।

योगवासिष्ठ ५/६८/४

निष्कर्षतः हर्ष और शोक से रहित होकर वासना शुद्ध हो जाती है तो उसे शरीर के जीवित रहने तक असङ्ग कहते हैं। शुभाशुभ कर्मों को करते

हुए मन का उनमें लिप्त न होना असङ्ग कहलाता है। वासना के दूर करने का नाम असङ्ग है। अत: किसी न किसी युक्ति द्वारा उसे प्राप्त करना चाहिए। वचन है—

कुर्वतोऽकुर्वतश्चैव मनसा यदमज्जगम् ।
शुभाशुभेषु कार्येषु तदसङ्गं विदुर्बुधाः ।।
अथवा वासनोत्साद एवासङ्ग इति स्मृतः ।
यथा कयाचिद्युक्त्यान्तः सम्पादय तमेव हि ।।

योगवासिष्ठ ६/२/२८/२४-२५

(ज) कर्तृत्वभाव का परित्याग

योगवासिष्ठकार का मत है कि जब स्पन्दनात्मक कर्म क्षीण हो जाता है तब मन भी स्वयं शान्त हो जाता है—

स्पन्दात्मकर्मविगमे तद्वत्प्रक्षीयते मनः ।

योगवासिष्ठ ३/९५/२५ उत्तरार्द्ध

जैसे अग्नि और उष्णता में अविनाभाव सम्बन्ध (एकरूपता) है वैसे ही मन और कर्म की सदा एकता है। दोनों में से एक का नाश होने पर दोनों का ही नाश हो जाता है। वचन है—

वह्न्यौष्णयोरिव सदा श्लिष्टयोश्चित्तकर्मणोः ।
द्वयोरेकतराभावे द्वयमेव विलीयते ।।

योगवासिष्ठ ३/९५/३७

आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने से (अज्ञान से) कर्मविषयक संकल्प उदित होता है और संकल्पयुक्त होना ही बन्धन का कारण है, अत: मन के कर्तृत्वभाव का परित्याग करना चाहिए। वचन है—

आत्मज्ञानात्समुत्पन्नः सङ्कल्पः कर्मकारणम् ।

योगवासिष्ठ ६/१/१२४/५

सङ्कल्पित्वं हि बन्धस्य कारणं तत्परित्यज ।

योगवासिष्ठ ६/१/१२४/६

अथ च कर्मत्याग तब होता है जब कि आत्मा में से वेदन और

संवेद्य (ज्ञान और विषय) की भावना निकल जाने पर वासना न रहे और कल्पनारहित शान्तभाव में उसकी अवस्थिति हो जाए। वचन है—

अवेदनमसंवेद्यं　　यदवासनमासितम् ।
शान्तं सममनुल्लेखं स कर्मत्याग उच्यते ।।

योगवासिष्ठ ६/२/३/२४

(झ) सर्वत्याग की भावना

सिद्धान्त है कि जब तक समस्त वस्तुओं के त्याग की भावना जागरित नहीं होती है, तब तक आत्मलाभ नहीं होता है। समस्त अवस्थाओं का परित्याग करने पर जो शेष रहता है, वही आत्मा है। वचन है—

यावत्सर्वं न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते ।
सर्वावस्थापरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते ।।

योगवासिष्ठ ५/५८/४४

शुद्ध परित्याग को सर्व दुःखों का अन्त करने वाली चिन्तामणि समझना चाहिए। अतः शुद्ध बुद्धि से उसी की साधना करनी चाहिए। वचन है—

विद्धि चिन्तामणिं साधो सर्वत्यागमकृत्रिमम् ।
तमन्तं सर्वदुःखानां त्वं साधयसि शुद्धधीः ।।

योगवासिष्ठ ६/१/९०/५

जो सब कुछ है, जिससे सब कुछ है और जो सबका कारण है, उसी में सबका त्यागकर देने से सर्वत्याग की भावना सिद्ध होती है। वचन है—

यत्सर्वं सर्वतो यच्च तस्मिन् सर्वैककारणे ।
सर्वस्मिन् संपरित्यक्ते सर्वत्यागः कृतो भवेत् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/९३/३०

तीनों काल में रहने वाले जगज्जाल को जिसने अपने भीतर इस प्रकार देख लिया है, जैसे कि मोती के मध्य सूत्र; ऐसे व्यक्ति का ही वास्तविक परित्याग माना जाता है। वचन है—

सूत्रं मुक्ताफलेनेव जगज्जालं त्रिकालकम् ।
सर्वमन्तः कृतं तेन येन सर्वं समुज्झितम् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/९३/४९

महात्यागी का लक्षण करते हुए योगवासिष्ठकार बतलाते हैं कि वह साधक महात्यागी कहलाता है, जिसने बुद्धि द्वारा समस्त शंकाओं, समस्त इच्छाओं एवं समस्त निश्चयों का परित्याग कर दिया है। वचन है—

धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी ।
धिया येनेति सन्त्यक्तं महात्यागी स उच्यते ।।

योगवासिष्ठ ६/१/११५/३३

(ञ) समाधि की अवस्था

'मनोलय' की विकास शृंखला में समाधि का स्वरूप बतलाते हुए योगवासिष्ठकार लिखते हैं कि इस क्रम में जब निर्विकल्प समाधि में स्थिति हो जाय तो अक्षय और निर्मल सुषुप्ति के समान आत्मपद की प्राप्ति हो जाती है। वचन है—

यदि वापि समाधाने निर्विकल्पे स्थितिं व्रजेत् ।
तदक्षयसुषुप्ताभं तन्मन्येतामलं पदम् ।।

योगवासिष्ठ ३/१/३६

समाधि मौन रहने का नाम नहीं है, अपितु समस्त आशा (इच्छा) रूपी तिनकों को जलाने के लिये अग्निरूप तत्त्वज्ञान को समाधि कहते हैं। वचन है—

तत्त्वावबोधो भगवन्सर्वाशातृणपावकः ।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः ।।

योगवासिष्ठ ५/६२/८

समाधि नाम है उस परम प्रज्ञा का जो स्थिर है, नित्य तृप्त है और यथार्थ तत्त्व का ज्ञान प्रदान करने वाली है। वचन है—

समाहिता नित्यतृप्ता यथाभूतार्थदर्शिनी ।
साधो समाधिशब्देन परा प्रज्ञोच्यते बुधैः ।।

योगवासिष्ठ ५/६२/९

विषयों के प्रति किसी प्रकार की तृष्णा न रहने का नाम समाधि है—

परं विषयवैतृष्ण्यं समाधानमुदाहृतम् ।

योगवासिष्ठ ६/२/४५/४६

(ट) मन के लीन होने की प्रक्रिया

योगवासिष्ठकार का वक्तव्य है कि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा क्षेत्रज्ञ (जीव) का जिस-जिस तत्त्व से उदय होता है उनको उस-उस तत्त्व में विलीन करना चाहिए—

देहेन्द्रियमनोबुद्धिक्षेत्रज्ञानां च सम्भवः ।
यस्माद् भवति तज्ज्ञात्वा तेषु पश्चाद्विलापयेत् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/४

इस रीति से पहले अपने आप को विराट् में स्थित करो, तदनन्तर अव्याकृत में और अन्त में परम कारण में। वचन है—

विराजि प्रथमं स्थित्वा तत्रात्मनि ततः परम् ।
अव्याकृते स्थितः पश्चात्स्थितः परमकारणे ।।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/५

लय के क्रम में शरीर के पार्थिव भाग मांसादि का पृथ्वी तत्त्व में विचार द्वारा लय करना चाहिए। इसी प्रकार रक्तादि का जल में, तैजस भाग का अग्नि में, वायव्य भाग का वायु में और नाभस भाग का आकाश में। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय का उसके कारणभूत तत्त्व में विलय किया जाता है, जैसे श्रोत्र का दिक् में, त्वक् का वायु में, चक्षु का सूर्य में, जिह्वा का जल में तथा घ्राण का पृथ्वी में। वचन है—

मांसादिपार्थिवं भागं पृथिव्यां प्रविलापयेत् ।
आप्यं रक्तादिकं चाप्सु तैजसं तेजसि क्षिपेत् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/६

वायव्यं च महावायौ नाभसं नभसि क्षिपेत् ।
पृथिव्यादिषु विन्यस्य चेन्द्रियाण्यात्मयोनिषु ।।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/७

श्रौत्रादिलक्षणोपेतां कर्तुर्भोगप्रसिद्धये ।
दिक्षु न्यस्यात्मनः श्रोत्रं त्वचं विद्युति निक्षिपेत् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/८

इसी क्रम में पैरों का विष्णु में, पायु का मित्र में, उपस्थ का कश्यप में, मन का चन्द्रमा में, बुद्धि का ब्रह्मा में लय करना चाहिए। इस प्रकार समस्त देह को उसके कारणभूत तत्त्वों में लय करके अपने को विराट्स्वरूप समझना चाहिए। वचन है—

चक्षुरादित्यबिम्बे च जिह्वामप्सु विनिक्षिपेत् ।
प्राणं वायौ वाचमग्नौ पाणिमिन्द्रे विनिक्षिपेत् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/९

विष्णौ तथाऽऽत्मनः पादौ पायुं मित्रे तथैव च ।
उपस्थं कश्यपे न्यस्य मनश्चन्द्रे निवेशयेत् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/१०

बुद्धिं ब्रह्मणि संयच्छेदेताः करणदेवताः ।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/११

तत्पश्चात् पृथ्वीतत्त्व को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को महाकाश में, जो कि सबका उत्पत्तिकारण है, लय करना चाहिए। वचन है—

दशेन्द्रियमनोबुद्धिरेतल्लिङ्गं विदुर्बुधाः ।
क्षितिं चाप्सु समावेश्य सलिलं चानले क्षिपेत् ।

योगवासष्ठि ६/१/१२८/१६

अग्निं वायौ समावेश्य वायुं च नभसि क्षिपेत् ।
नभश्च महदाकाशे समस्तोत्पत्तिकारणे ।।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/१७

इसके पश्चात् लिङ्गशरीर को सूक्ष्म अव्याकृत में, जो कि ब्रह्मा से पूर्व की अवस्था का नाम है, लीन करना चाहिए। वचन है—

लिङ्गमव्याकृते सूक्ष्मे न्यस्याव्यक्ते च बुद्धिमान् ।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/२०

यह वह तत्त्व है, जिसमें नाम-रूप का त्याग करके जगत् स्थित रहता है। कोई इसको प्रकृति कहते हैं, कोई माया, कोई परमाणुसमूह, कोई तर्क से भ्रान्त चित्त वाले इसको अविद्या कहते हैं। वचन है—

नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन्सन्तिष्ठते जगत् ।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परे त्वणून् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/२१

अविद्यामपरे प्राहुस्तर्कविभ्रान्तचेतसः ।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/२२ पूर्वार्द्ध

इस तथाकथित तत्त्व में समस्त पदार्थ लय होकर अव्यक्त रूप से वर्तमान रहते हैं। वचन है।

तत्स्वरूपा हि तिष्ठन्ति यावत्सृष्टिः प्रवर्तते ।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/२२ उत्तरार्द्ध

इन तीनों अवस्थाओं (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) से परे भी एक अव्यय चतुर्थ पद है। उसकी प्राप्ति के लिये उसका ध्यान करके, कारणशरीर का उसमें लय करना चाहिए। वचन है—

अतः स्थानत्रयं त्यक्त्वा तुरीयं पदमव्ययम् ।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/२४ उत्तरार्द्ध

ध्यायेत् तत्प्राप्तये लिङ्गं प्रविलाप्य परं विशेत् ।

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/२५ पूवार्द्ध

प्राणों के स्पन्दन का निरोध

योगवासिष्ठ में 'योग' का तृतीय उपाय प्राण-निरोध को माना है। सृष्टि का यह नियम है कि जैसे पंखे की गति रुक जाने पर वायु की गति भी अवरुद्ध हो जाती है। वैसे ही प्राणों की गति के रुक जाने पर मन भी शान्त हो जाता है और मन के शान्त होने पर यह संसार भी उसके साधक के लिये अवश्यमेव विलीन हो जाता है। वचन है—

तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिलः ।
प्राणानिलपरिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः ।

योगवासिष्ठ ६/१/६९/४१

तस्मिन्संरोधिते नूनमुपशान्तं भवेन्मनः ।

योगवासिष्ठ ५/७८/१५

मनःस्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते ।

योगवासिष्ठ ५/७८/१६

प्राण-निरोध के उपाय

योगवासिष्ठ में प्राण-निरोध के उपायों का विस्तृत उपपादन हुआ है। प्राण क्या है? प्राणों की प्राप्ति किस प्रकार होती है? और प्राणायाम कैसे किया जाता है, ये विषय विस्तारपूर्वक विवेचित हैं। यहाँ पर स्थानाभाव से केवल उन उपायों की गणनामात्र कराते हैं जिनसे योगवासिष्ठानुसार प्राण का स्पन्दन निरुद्ध होता है। वे उपाय ये हैं—वैराग्य, परम कारण का ध्यान, व्यसनक्षय, निरोध की विशेष युक्ति, परमार्थज्ञान, शास्त्र एवं सज्जनों का सङ्ग, वैराग्य और अभ्यास, सांसारिक प्रवृत्तियों से मन को प्रत्यावर्तित करना, इच्छित वस्तु का ध्यान, एक तत्त्व का अभ्यास, दुःखहारक पूरक-कुम्भक-रेचक प्राणायामों का गम्भीर अभ्यास, एकान्त में ध्यान, ॐकार का उच्चारण करते-करते शब्दतत्त्व की भावना, संविद् को सुषुप्ति में लाना, रेचक के अभ्यास से प्राण को आकाशपर्यन्त विस्तृत करना, पूरक के अभ्यास से प्राण को स्तम्भित करना, तालुमूल पर स्थित घण्टी को जिह्वा से यत्नपूर्वक दबाकर ऊर्ध्वरन्ध्र में प्राण को ले जाना, संवित् को शून्य आकाश में; जहाँ पर कोई कलना नहीं है ले जाकर शान्त करना, भ्रुवों के मध्य में दृष्टि लीन करके शुद्ध चेतन में स्थित होना, ऊर्ध्वरन्ध्र में प्राण ले जाकर तालु से बारह अंगुल ऊपर प्राण को शान्त करना, जिसमें ज्ञान का उदय हो जाय, ठीक उसी समय उसमें दृढभाव से ऐसे स्थित होना कि मन किसी भी भाव से विचलित न हो सके, चिरकाल तक जिस पदार्थ की वासना रही हो उसकी शून्य भावना से मन को वासनारहित करके क्षीण करना और शुद्धसंवित् में ध्यान लगाना। इसमें वचन प्रमाण है—

वैराग्यात्कारणाभ्यासाद्युक्तितो व्यसनक्षयात् ।
परमार्थावबोधाच्च रोध्यन्ते प्राणवायवः ।।

योगवासिष्ठ ५/१३/८५

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासयोगतः ।

* * * * *

प्राणे गलितसंवृत्ते प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ।।

योगवासिष्ठ ५/७८/१८-२८

इनके अतिरिक्त प्राणनिरोध की और भी अनेक युक्तियाँ हैं, जो नाना देशों में प्रचलित हैं और अनेक गुरुओं द्वारा उपदिष्ट हुई हैं। वचन है—

एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासङ्कल्पकल्पितैः ।
नानादेशिकवक्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ।।

योगवासिष्ठ ५/७८/३९

इस प्रकार प्राणनिरोध के अभ्यास से प्राण का लय होने पर मन की क्रिया शान्त हो जाती है और निर्वाणपद ही शेष रह जाता है। वचन है—

अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते ।
मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ।।

योगवासिष्ठ ५/७८/४६

प्राणविद्या के अतिरिक्त योगवासिष्ठ में कुण्डलिनी विद्या का भी विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। कुण्डलिनी विद्या का ज्ञान होने पर कुण्डलिनी शक्ति को जागरित करके उसके द्वारा योगी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

कुण्डलिनी शक्ति

कुण्डलिनी नाम की नाडी का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए योगवासिष्ठकार का मत है कि शरीर के मर्म स्थान में चक्र के आकार वाली, सैकड़ों नाडियों की आधारभूता, आंत्रवेष्टनिका (आँतों से आवृत) नाम की एक नाडी है। वचन है—

परिमण्डलिकातारा मर्मस्थानं समाश्रिता ।
आन्त्रवेष्टनिका नाम नाडी नाडीशताश्रिता ।।

योगवासिष्ठ ६/१/८०/३६

इस नाडीविशेष का आकार वीणा के मूलभाग में स्थित आवर्त (गोलोई) के समान, जल में भँवर के समान, ॐकार के अर्धाक्षर के समान तथा कुण्डल के चक्र के समान है। वचन है—

वीणाग्रावर्तसदृशी सलिलावर्तसन्निभा ।
लीप्यार्धोंकारसंस्थाना कुण्डलावर्तसंस्थिता ।।

योगवासिष्ठ ६/१/८०/३७

यह नाड़ी देव, असुर, मनुष्य, मृग, पक्षी, सरीसृप आदि प्राणिमात्र में चक्राकार में स्थित है मानों शीत से पीडित कोई सर्पिणी कुण्डली के आकार में सुप्त पडी हो। वचन है—

देवासुरमनुष्येषु मृगनक्रखगादिषु ।
कीटादिष्वब्जजान्तेषु सर्वेषु प्राणिषूदिता ।।

योगवासिष्ठ ६/१/८०/३८

शीतार्तसुप्तभोगीन्द्रभोगवद्बद्धमण्डला ।

योगवासिष्ठ ६/१/८०/३९

गुदास्थान से लेकर भृकुटिपर्यन्त समस्त छिद्रों को संस्पर्शित करने वाली चंचलवृत्ति वाली और निरन्तर स्पन्दित रहने वाली यह कुण्डलिनी नाडी है। वचन है—

ऊरोभ्रूर्मध्यरन्ध्राणि स्पृशन्ति वृत्तिचञ्चला ।
अनारतं च सस्पन्दा पवमानेव तिष्ठति ।।

योगवासिष्ठ ६/१/८०/४०

उस नाडी के मध्य, जो केले के दण्ड के अन्तर्वर्ती छिद्र के समान कोमल है, वीणा की भाँति स्पन्दनयुक्त एक परम शक्ति वर्तमान है। कुण्डल के आकार में उसका स्पन्दन होने के कारण उसका नाम कुण्डलिनी शक्ति है। यही प्राणियों की परम शक्ति है और उसी से अन्य समस्त शक्तियाँ परिस्पन्दित होती हैं। वचन है—

तस्यास्त्वभ्यन्तरे तस्मिन्कदलीकोशकोमले ।
या परा शक्तिः स्फुरति वीणावेगलसद्गतिः ।।

सा चोक्ता कुण्डलीनाम्ना कुण्डलाकारवाहिनी ।
प्राणिनां परमा शक्तिः सर्वशक्तिजवप्रदा ।।

योगवासिष्ठ ६/१/८०/४१-४२

हृदय में पहुँचने वाली समस्त नाडियाँ कुण्डलिनी नाडी से सम्बन्ध रखती हैं और उसमें इस प्रकार समाविष्ट हो जाती हैं जैसे समुद्र में नदियाँ। वचन है—

तस्यां समस्ताः सम्बद्धा नाड्यो हृदयकोशगाः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते महार्णव इवापगाः ।।

योगवासिष्ठ ६/१/८०/४७

ज्ञातव्य है कि पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का बीज कुण्डलिनी शक्ति में स्थित है और पञ्च प्राणों के द्वारा वह बीज सञ्चालित होता है। वचन है—

एतत्पञ्चकबीजं तु कुण्डलिन्यां तदन्तरे ।
प्राणमारुतरूपेण तस्यां स्फुरति सर्वदा ।।

योगवासिष्ठ ६/१/८१/१

योगवासिष्ठकार आगे बतलाते हैं कि यह कुण्डलिनी शक्ति स्पन्दन, स्पर्श और ज्ञान सबकी शुद्ध कलारूप है। अतः संकल्पयुक्त होने से उसका नाम कला है और चेतन होने से उसे चिति कहते हैं। वचन है—

सान्तः कुण्डलिनीस्पन्दस्पर्शसंवित्कलामला ।
कलोक्ता कलनेनाशु कथिता चेतनेन चित् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/८१/२

किञ्च, जीने से जीव, मनन करने से वह मन और बोध प्राप्त होने से उसे बुद्धि कहते हैं। वही शक्ति अहंभाव को प्राप्त होकर पुर्यष्टक कहलाती है। सब शक्तियों की परम शक्ति वह कुण्डलिनी शक्ति शरीर में स्थित है। वचन है—

जीवनाज्जीवतां याता मननाच्च मनःस्थिता ।
संकल्पाच्चैव संकल्पो बोधाद् बुद्धिरिति स्मृता ।।

अहंकारात्मतां याता सैषा पुर्यष्टकाभिधा ।
स्थिता कुण्डलिनी देहे जीवशक्तिरनुत्तमा ।।

योगवासिष्ठ ६/१/८१/३-४

मृत्यु के परिप्रेक्ष्य में कुण्डलिनी शक्ति को रेखांकित करते हुए योगवासिष्ठकार आगे लिखते हैं कि अपानवायु का रूप धारण करके वह शक्ति सदा नीचे की ओर जाती है, नाभि के मध्य में स्थित होने से वह समान कहलाती है और वह उदान के नाम से ऊर्ध्वभाग में स्थित होती है। किन्तु इसके विपरीत उसकी सारी वृत्ति नीचे की ओर हो जाय; और बीच में न रुके और न ऊपर को ही जाय, तो वह बाहर निकल जाती है और मनुष्य मर जाता है। इसी प्रकार उसकी वृत्ति नीचे और मध्य की ओर न केवल ऊपर की ओर हो जाय और वह बलपूर्वक ऊपर को निकल जाय तो भी मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। वचन है—

अपानतामुपागत्य सततं प्रवहत्यधः ।
समाना नाभिमध्यस्था उदानाख्योपरि स्थिता ।।
सर्वयत्नमधो याति यदि यत्नान्न धार्यते ।
तन्पुमान्मृतिमायाति तया निर्गतया बलात् ।।

योगवासिष्ठ ६/१/८१/५,७

इस प्रकार योगवासिष्ठ में प्राणविद्या के अतिरिक्त कुण्डलिनी विद्या का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। कुण्डलिनी विद्या का ज्ञान होने पर कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करके उसके द्वारा योगी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

योग की सात भूमिकाएँ

संसार के अनुभव से मुक्ति पाने और परमानन्द का अनुभव प्राप्त करने के योगनामक मार्ग की सात भूमिकाएँ योगवासिष्ठ में वर्णित हैं। यह व्यक्ति की अभ्यासद्रुतता पर अवलम्बित रहता है कि उसे अविलम्ब या विलम्ब से योगभूमियाँ सिद्ध हो रही हैं। इन्हें ज्ञान की सात भूमिकाएँ भी कहते हैं। इनका ज्ञान होने पर व्यक्ति मोहरूप पंक में आबद्ध नहीं होता है। वचन है—

इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ ।
नानया ज्ञातया भूयो मोहपङ्के निमज्जति ।।

योगवासिष्ठ ३/११८/१

ज्ञान (योग) की सात भूमिकाएँ हैं—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभाविनी तथा तुर्यगा। इन सातों के अन्त में मुक्ति है, जिसको प्राप्त कर लेने पर यत्किञ्चित् क्लेश नहीं रहता है। वचन है—

आसामन्ते स्थिता मुक्तिस्तस्यां भूयो न शोच्यते ।
एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं श्रृणु ।।

योगवासिष्ठ ३/११८/७

शुभेच्छा

संसार से वैराग्य हो जाने पर जब मनुष्य अपने को अज्ञानी समझकर शास्त्र और सज्जनों की संगति करके सत्य का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करता है, उस अवस्था का नाम शुभेच्छा है। वचन है—

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ।।

योगवासिष्ठ ३/११८/८

विचारणा

शास्त्र के अध्ययन से और सज्जनों के सङ्ग से, वैराग्य और अभ्यास से सदाचार में जब प्रवृत्ति होती है, तब वह अवस्था विचारणा कहलाती है। वचन है—

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ।।

योगवासिष्ठ ३/११८/९

तनुमानसा

शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से इन्द्रियों के विषयों में असक्तता होने से मन के सूक्ष्म हो जाने का नाम तनुमानसा है। वचन है—

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।

यात्र सा तनुताभावात्प्रोच्यते तनुमानसा ।।

योगवासिष्ठ ३/११८/१०

सत्त्वापत्ति

पूर्व तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से और चित्त के विषयों से पूर्णतया विरक्त हो जाने पर सत्य आत्मा में स्थित हो जाने का नाम सत्त्वापत्ति है। वचन है—

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।

सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ।।

योगवासिष्ठ ३/११८/११

असंसक्ति

उक्त चारों भूमिकाओं के परिपक्व हो जाने पर मन में जब पूर्णतया अनासक्ति उत्पन्न हो जाती है और आत्मतत्त्व में दृढ स्थिति प्राप्त हो जाती है तब उस अवस्था का नाम असंसक्ति है। वचन है—

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च ।

रूढसत्वचमत्कारात् प्रोक्तासंसक्तिनामिका ।।

योगवासिष्ठ ३/११८/१२

पदार्थाभाविनी

पूर्व पांचों भूमिकाओं के अभ्यास से और आत्मा में निश्चल स्थिति हो जाने से जब आन्तर और बाह्य वस्तुओं के अभाव की दृढभावना हो जाती है, उस स्थिति का नाम पदार्थाभाविनी है। यह सिद्धि तब होती है जब कि परमात्मा की सत्ता और पदार्थों की असत्ता का दीर्घकाल तक यत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय। वचन है—

भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम् ।

आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ।।

परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात् ।

पदार्थाभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः ।।

योगवासिष्ठ ३/११८/१३-१४

तुर्यगा

पूर्व छः भूमिकाओं के अभ्यास से और पदार्थों का अनुभव न होने से स्वस्वरूप में निरन्तर स्थित रहने का नाम तुर्यगा है। इस अवस्था का अनुभव जीवन्मुक्त को होता है। विदेहमुक्ति इस अवस्था से परे है। वचन है—

एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेह विद्यते ।
विदेहमुक्तिविषयस्तुर्यातीतमतः परम् ।।

योगवासिष्ठ ३/११८/१६

योगवासिष्ठ भारतीय मस्तिष्क की सर्वोत्तम कृतियों में से एक ग्रन्थ है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने और ब्रह्मभाव में स्थित रहकर संसार में व्यवहार करने के निमित्त इस ग्रन्थ की महनीयता है। यह ऐसा अद्भुत ग्रन्थ है कि इसमें काव्य, उपाख्यान तथा दर्शन सभी चिन्तन-शैलियों का आनन्द प्राप्त है। जो महत्त्व भगवद्भक्तों के लिये श्रीमद्भागवत का है, कर्मयोगियों के लिये भगवद्गीता है, वही महत्त्व ज्ञानयोगियों के लिये योगवासिष्ठ का है। इसमें योगविद्या एवं ब्रह्मविषयिणी अद्वैतविद्या की द्विवर्णीय आभा एकरूपा प्रतीत होती है।

●

भगवद्गीतान्तर्गत अष्टादशाङ्गयोग : एक विमर्श

श्रीमद्भगवद्गीता ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र है। इसका प्रत्येक अध्याय एक-एक योग अथवा सम्पूर्ण योग का एक-एक अङ्ग है। यह तथ्य प्रत्येक अध्याय के अन्त में निर्दिष्ट **ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु**... इत्याकारक वाक्य से सूचित होता है। ज्ञातव्य है कि अध्याय की समाप्तिसूचक-शब्दावली, जिसमें वर्णित विषय की सूचना दी जाती है, को 'पुष्पिका' कहते हैं। इसी पुष्पिकावाक्य द्वारा भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय में वर्णित योग अथवा योगाङ्ग का नामकरण भी हुआ है। जैसे प्रथम अध्याय 'विषाद' नामक योग है तो अन्तिम अध्याय 'मोक्षसंन्यास' नामक योग।

गीतान्तर्गत योगशास्त्र के इन योगाङ्गों के जो ये नाम हैं, उन्हीं को आधार बनाकर योगाङ्गों के परस्पर-सम्बन्ध पर विमर्श किया जा रहा है—

प्रथमाध्यायान्तर्गत 'विषादयोग'

इस अध्याय में क्षत्रियकुलावतंस वीरशिरोमणि एवं परम धर्मज्ञ अर्जुन—संसार से विमुख होकर, शिखासूत्र को उतारकर, संन्यासाकांक्षी मुमुक्षु के समान युद्ध से विरत होकर (साथ ही राज्य और सांसारिक सुखमात्र से मुंह मोड़कर)—धनुषबाण त्याग देता है और अपने क्षात्रधर्म से संन्यास ले लेता है। परन्तु इस समय वह शोकसंविग्नमना है अर्थात् बद्ध है। इसलिये अर्जुन का यह शोकाकुल होकर धनुषबाण उतारकर रख देना 'बद्धसंन्यास' कहा जा सकता है। भगवद्गीता में आगे चलकर 'संन्यास' और 'समर्पण' शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जैसा कि—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याऽध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ।।

भगवद्गीता ३/३०

इत्यादि श्लोकों से विदित होता है। इस विषादयोग में भी धनुषबाण का जो संन्यास किया गया है वह भी भगवान् को ही समर्पण किया गया

है और इसीलिये यह विषाद होने पर भी भगवान् के साथ योगसाधक होने से गीतान्तर्गत योगशास्त्र का प्रथम योगाङ्ग है। संसार से दुःखी होना, त्रितापदग्ध होना और भगवान् की ओर अभिमुख होना ही भगवान् के योग का प्रथम साधन है। इसी विषादयोग से ज्ञान का अधिकार प्राप्त होता है।

द्वितीयाध्यायान्तर्गत 'सांख्ययोग'

द्वितीय 'सांख्ययोग' है इसे ज्ञानयोग भी कहते हैं। प्रथम अध्याय में जो बद्धसंन्यास है, उसका बन्धोच्छेद करना है। ज्ञान के विना अर्थात् आत्मस्वरूप के बोध विना बद्धता और तज्जन्य दीनता, दुर्बलता, शोकाकुलता आदि को अपसृत नहीं किया जा सकता है। इसीलिये श्रीकृष्ण द्वितीय अध्याय में ज्ञानोपदेश करते हैं। वे बतलाते हैं कि हे अर्जुन! तुम आत्मा हो, हम आत्मा हैं और ये सब लोग भी आत्मा हैं। आत्मा का कभी नाश नहीं होता है। वह अजर, अमर, अज, अव्यय और अविनाशी है और यह मरना-मारना जो कुछ है वह केवल बाह्य शरीर का है और शरीर हम-तुम और ये लोग नहीं हैं। शरीर दूसरी वस्तु है, शरीर के साथ वस्त्र का जैसा सम्बन्ध है, वैसा ही आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध है। शरीर से जैसे वस्त्रान्तर किया जाता है, वैसे ही आत्मा से देहान्तर किया जाता है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

भगवद्गीता २/२२

देह का यही स्वरूप है, यही धर्म है। इसको समझो और अपने आपको, हमको और युद्धसन्मुख प्रियजनों को अजर-अमर आत्मा जानो।

हे अर्जुन! तुम यह जो कहते हो कि धनुषबाण तो मैं रख चुका हूँ, अब मैं इसे पुनः धारण नहीं कर सकूँगा, तो यह तुम्हारा अहङ्कार है। अहङ्कार ही बद्धता है और इस बद्धता को अपने स्वधर्म से ही मुक्त किया जाता है। अपना धर्म समझकर भी तुम्हें युद्ध से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्मप्राप्त युद्ध को छोड़कर दूसरा क्षेय:साधन मार्ग नहीं है—

स्वधर्ममपि चाऽवेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।।

भगवद्गीता २/३१

स्वधर्म का पालन करने से ऊर्ध्वगति होती है। अहङ्कार का अधिकार तो केवल कर्म करने का है, फलाफल का विचार करना नहीं। समभाव से स्वधर्म का पालन करो। इसी से अपने ब्रह्मनिर्वाणस्वरूप को पाकर तुम शोकसागर से तर जाओगे—

स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।

भगवद्गीता २/७२ उत्तरार्द्ध

हे अर्जुन! तात्त्विक दृष्टि से अजर, अमर, निर्विकार, निष्कर्म आत्मस्वरूप से तो इस भीषण संहार कर्म का क्या सम्बन्ध है? ऐसी पृच्छा; बुद्धि को होनी स्वाभाविक है, इसलिये तृतीय अध्याय प्रवर्तित है।

तृतीयाध्यायान्तर्गत 'कर्मयोग'

बुद्धि को यह विदित हो गया कि हम आत्मा हैं। पर इससे न तो बद्धात्मा का बन्ध ही कटा, न यह मालुम हुआ कि यह कर्म क्या है और इसका हेतु क्या है? इसलिये तृतीय अध्याय में श्रीकृष्ण 'कर्म' के विषय में बतलाते हैं। हे अर्जुन! यह ब्रह्मकर्म है, तुम्हारा कर्म इसका अंशमात्र है— इसका अनुगमन करना ही तुम्हारा धर्म है। इसे न तो तुम्हें छोड़ने का अधिकार है और न कोई अमर्यादित कर्म करने में तुम्हारा अधिकार है। तुम्हारा जो नियत कर्म है, वही तुम्हें करना होगा। तुम यदि उसमें अपनी अहंता-ममता-इच्छा का समावेश करोगे तो वह तुम्हारे अध:पतन का कारण बनेगा—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नाऽनुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।

भगवद्गीता ३/१६

इसलिये इस इच्छा का नाश करना होगा। यह इच्छा कामरूप महाशत्रु है। आत्मा का कर्म के साथ यही सम्बन्ध है कि उसके मध्य में कामरूप प्रबल शत्रु उत्पन्न होकर खड़ा है। इसी कामरूप शत्रु को नष्ट कर आत्मा को प्राप्त करना होगा। यही 'कर्मयोग' है—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।

भगवद्गीता ३/४३

चतुर्थाध्यायान्तर्गत 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग'

यहाँ मनुष्यरूप में भगवान् उसके समक्ष प्रकट होते हैं अथवा उसके चित्त में अवतरित होते हैं और यह बतला देते हैं कि मैं तुम्हारे उद्धार के लिये आया हूँ। किस समय क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, योग की इस अवस्था में उसे भगवान् ही बतलाते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।

भगवद्गीता ४/१६

श्रीकृष्ण अपने प्रिय भक्त अर्जुन के समस्त कर्मों का पाप-पुण्यात्मक फल वहन करते हैं। फलतः अर्जुन का प्रत्येक कर्म भवगन्निर्दिष्ट, दग्धज्ञानाग्नि तथा ज्ञान में परिसमाप्त होता हुआ ज्ञान के तेजोमय रूप को प्राप्त होता है। यही 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' अर्थात् ज्ञान में कर्म का समर्पण है। वचन है—

सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।

भगवद्गीता ४/३३

पञ्चमाध्यायान्तर्गत 'कर्मसंन्यासयोग'

ज्ञानकर्मसंन्यास की योगसाधना पूर्ण होने पर कर्म के प्रति **'अहं करोमि'** रूप जो भ्रान्तिपूर्ण बन्धन है, उसका उच्छेद करने के लिये ज्ञान में कर्म का न्यासरूप जो योगाभ्यास किया जाता है उससे **'नैव किञ्चित् करोमी'**ति, इत्याकारक ज्ञान उदित होता है। तब सब कर्मों को करते हुए भी साधक के चित्त की अवस्था शास्त्र में इस प्रकार वर्णित है—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देहे नैव कुर्वन्न कारयन् ।।

भगवद्गीता ५/१३

उसको यह बोध होता है कि यह सब अपने आप हो रहा है— **स्वभावस्तु प्रवर्तते** (गीता ५/१४)। उसका मन समत्व में स्थिर रहता है और उसी के विषय में यह कहा गया है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।

भगवद्गीता ५/१९

अर्थात् त्रिगुण के बन्धन को उसने यहीं इस शरीर में रहते जीत लिया है। इसमें अब कोई द्वैधीभाव या द्वन्द्व नहीं रह गया, इस प्रकार उसका ज्ञान और कर्म सम हो गया। ज्ञान में उसकी ऐसी स्थिति है कि कर्म के रहते हुए भी उसे कर्म का कोई बन्धन या लगाव नहीं रहता है। कर्म का इस रूप से जो छूट जाना है वही यथार्थ 'कर्मसंन्यास' है और इसीलिये यह 'कर्मसंन्यासयोग' है। यहाँ ज्ञान-कर्म का समत्व सिद्ध होता है।

षष्ठाध्यायान्तर्गत 'आत्मसंयमयोग'

मन-बुद्धि का समत्व होने पर आत्मसंयम (समाधि) की ओर प्रवृत्ति होती है। इसके लिये एकान्तसेवन वाञ्छित है। एकान्त में अभ्यास करने से अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होता है। इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है, वहाँ दुःख के संयोग का वियोग हो जाता है। इसी स्थिति को योग कहते हैं। यह ब्रह्मसंस्पर्श की स्थिति है। इसमें स्थित सर्वत्र समदर्शी योगी सम्पूर्ण चराचर जगत् को आत्मा में देखता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।

भगवद्गीता ६/२९

इन सब योगसाधनों में मुख्य बात मद्गत हो सश्रद्ध मेरा भजन करना है। भगवान् का वचन है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।

भगवद्गीता ६/३१

प्रथम षट्क

छह-छह अध्यायों में विभक्त गीता के तीन षट्कों में से प्रथम षट्क में प्रतिपादित छः योगाङ्गों का निहितार्थ यह है—

१. संसार से वैराग्य ।

२. आत्मस्वरूप का ज्ञान ।

३. कर्म के स्वरूप का ज्ञान तथा आत्मज्ञान का कर्म में काम-नाशार्थ अवतरण।

४. कर्ममात्र में फल के स्थान पर ज्ञान का ध्यान तथा ऐसे ध्यानी के चित्त में या बाहर मनुष्यरूप में भगवदवतरण ।

५. कर्म के अपने आप होने की स्थिति तथा ज्ञानकर्म की समत्वसिद्धि।

६. एकान्तसेवन सबको अपने अन्दर और अपने को सबके अन्दर अनुभव करना और यह सब मन की अटल श्रद्धा के साथ मेरा ध्यान करते हुए करना।

इन छः योगों से समन्वित योग को अर्जुन ने 'समत्वयोग' (सर्वसाधारणयोग) की संज्ञा प्रदान की है—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।

भगवद्गीता ६/३३ पूर्वार्द्ध

सप्तमाध्यायान्तर्गत 'ज्ञानविज्ञानयोग'

समत्वयोग प्राप्त करके भगवान् को आश्रय मानकर उन्हीं में चित्त का योग करने से परमात्मा का समग्ररूप प्रत्यक्ष होने लगता है। ज्ञान परोक्ष और विज्ञान अपरोक्ष होता है। जैसा सुना है, वैसा प्रत्यक्ष देखने में आता है। इसलिये इसे 'ज्ञानविज्ञानयोग' कहा है। सर्वप्रथम, अष्टधा प्रकृति भगवान् की ही प्रकृति है, यह अनुभूति होती है, तत्पश्चात् भगवान् की परा-प्रकृति ही जीवमात्र को धारण करने वाली भगवान् की चैतन्य प्रकृति के रूप में अनुभूत होती है और पदार्थमात्र में इन दोनों का संयोग दिखलाई पड़ता है, तदनन्तर भगवान् अनुभवगम्य (प्रकट) होते हैं। इस प्रकार संसार के पदार्थमात्र में बीजरूप में भगवान् निगूढ हैं, ऐसा अनुभव होता है—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।

भगवद्गीता ७/१० पूर्वार्द्ध

परन्तु भगवत्सत्ता का यह पूर्ण अनुभव नहीं है। अपरा प्रकृति 'क्षर'

है परा प्रकृति 'जीव' है और 'भगवान्' तो अक्षरब्रह्म हैं। भगवान् की अक्षरसत्ता अग्रिम अध्याय में वर्णित है।

अष्टमाध्यायान्तर्गत 'अक्षरब्रह्मयोग'

इस अध्याय में **'मय्यर्पितमनोबुद्धि'** होकर ऐसे अनन्य, अचल भक्तियुक्त चित्त से कि मन के साथ प्राण भी भ्रूमध्य में आकर स्थिर हों, सृष्टि के मूल **'ॐ इत्येकाक्षर'** ब्रह्म के जप और ध्यान में लीन होने का साधनरूप योग बतलाया गया है। यह योग अत्यन्त कठिन है। पर अनन्य चित्त से नित्य **'मत्स्मरण'** करते रहने से ऊँपदवाच्य अक्षरब्रह्म की प्राप्ति होती है। भगवान् का वचन है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।

भगवद्गीता ८/१३

नवमाध्यायान्तर्गत 'राजविद्याराजगुह्ययोग'

पूर्वोक्त साधनों से सम्पन्न होकर जब साधक इस परम गुप्त विद्यासहित परम गुह्य योग में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है, तब वह घट-घट में भगवान् को पृथक्-पृथक् रूप में देखता है, विश्व में व्याप्त भगवान् को देखता है और विश्व से परे भी भगवान् का दर्शन करता है और ऐसा अनुभव करता है कि भगवान् भूतभृत्, भूतस्थ तथा भूतभावन हैं। गीता में इसे ऐश्वर्ययोग कहा है। इस योग की अवस्था में साधक भगवान् को देखता हुआ अनन्य मन से उनका भजन करता है, उन्हीं का सतत कीर्तन करता है, सतत प्रणाम करता है और सतत भगवान् के समीप रहता है। अब योगी की यहाँ यह अवस्था होती है कि उसके योग की रक्षा और अग्रिम साधन की व्यवस्था भगवान् ही करते हैं। भगवान् का वचन है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।

भगवद्गीता ९/२२

यह ज्ञानयोग की परम गुह्य स्थिति है।

दशमाध्यायान्तर्गत 'विभूतियोग'

भगवान् का पूर्वकथित जो परम गुह्य त्रिविध ऐश्वर्ययोग है, उसमें प्रवेश होने पर भगवान् की जो अनिर्वचनीय महिमा है वह साधक पर प्रकट होती है और यह प्रत्यक्ष होता है कि भगवान् ऐसे हैं कि केवल भगवान् ही भगवान् को जानते हैं और कोई नहीं जानता है। विभूतियोग में प्रवेश करने पर साधक यह देखता है कि यह भगवान् का जो त्रिविध ऐश्वर्ययोग है, वह तीन स्थानों में नहीं, अपितु सर्वत्र भिन्न-भिन्न भाव और रूप से है। भगवान् इन अशेष रूपों से उसे चारों ओर से संरक्षित कर लेते हैं तब भक्त की यह अवस्था होती है कि—

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ।

भगवद्गीता १०/१७ उत्तरार्द्ध

वह प्रभु से पूछ बैठता है कि अब हम आपका किस-किस भाव से चिन्तन करें? तब भगवान् अन्य भावों को समेट कर केवल दिव्यभाव सामने रखते हैं; पर वे भी अनन्त हैं इसलिये उनमें से चुनाव करके यह बतलाते हैं कि जो कुछ विभूतिमत्, श्रीमत् और शक्तिमत् है वह मेरा तेजोंश है— तेज का सम्पूर्ण एक अंश भी नहीं, क्योंकि एक अंश से ही सम्पूर्ण जगत् बना है। वचन है—

यद् यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवाऽवगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ।।

भगवद्गीता १०/४१

इस अवस्था को जब साधक प्राप्त कर लेता है, तब वह दिव्य दृष्टि का अधिकारी होता है।

एकादशाध्यायान्तर्गत 'विश्वरूपदर्शनयोग'

पूर्वोक्त साधन से दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर (भगवत्कृपा से प्राप्त दिव्यदृष्टि होने पर) परम गुह्य ऐश्वर्ययोग का जो आश्चर्यमय दुर्निरीक्ष्य तेजोरूप है, वह दिखलाई पड़ता है। जिसका वर्णन गीता में ही भूयोभूय: पढ़कर मनन करने की चीज है। यह सर्वभाव-सर्वकर्म-सर्वरूपसमन्वित एक ही कालानलसन्निभ विराट् भगवन्मूर्ति देखकर साधक दिव्य भय से युक्त होता है और प्रणाम करके स्तुति करने लगता है—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।।

भगवद्गीता ११/१५

यह प्रणति और स्तुति भी दिव्य होती है। यहाँ भगवान् उसे अपने दिव्य करों से सान्त्वना देकर इसके भी परे जो भगवान् का सौम्यरूप है, उसका दर्शन कराते हैं—जैसे ग्रीष्म की घोर तपन के पश्चात् श्याममेघ से वर्षा होती है। केवल भक्ति से ही साधक को यह अवस्था प्राप्त होती है और किसी अन्य साधन से नहीं।

भगवान् ने कहा—हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी योगमाया से असंख्य सूर्यों के समान प्रकाशमान, विश्वात्मक, अन्तरहित, सबका आदि यह सर्वोत्तम अपना स्वरूप तुम्हें दिखलाया है। इस स्वरूप को तुम्हारे अतिरिक्त और किसी ने पूर्व में नहीं देखा था—

मया प्रसन्नेन तवाऽर्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन च दृष्टपूर्वम् ।।

भगवद्गीता ११/४७

द्वादशाध्यायान्तर्गत 'भक्तियोग'

अनन्त कोटि सूर्यों के सम्मिलित दुर्निरीक्ष्य कल्पनातीत प्रचण्ड तेज को भी पार करके श्रीभगवान् के सुधावर्षणकारी सौम्य मेघश्यामरूप को साधक प्राप्त कर लेता है, यह उसकी भक्ति का प्रताप है। अन्यथा कालानल से कौन बच सकता है? काल किसे नहीं खा सकता? इसका उत्तर है कि काल भक्ति को नहीं खा सकता है। इसलिये भक्ति को यहाँ 'अमृत' कहा गया है। भक्ति अमृत की धारा है, जिसकी परीक्षा विश्वरूपदर्शन में हुई, जो उस कालानलसन्निभ तेज के भी पार पहुँचकर भक्ति सिद्ध हुई। भगवान् भक्तियोगपरायण भक्त को परिभाषित करते हैं—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।

भगवद्गीता १२/१६

द्वितीय षट्क

प्रथम षट्क में ज्ञानकर्मसमत्वसिद्धिपूर्वक आत्मसंयम हुआ और द्वितीय षट्क में ज्ञानविज्ञानपूर्वक भक्तियोग को सिद्ध किया गया। इस द्वितीय षट्क में ज्ञानविज्ञानसिद्ध भक्ति से आत्मा का शरीर के साथ और परमात्मा का जगत् के साथ जो योग है, वह अद्भुत है।

त्रयोदशाध्यायान्तर्गत 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग'

हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र' कहा जाता है और इस क्षेत्र को जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है। ऐसा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जानने वाले विद्वान् लोग कहते हैं—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।

भगवद्गीता १३/१

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विभाग को जो ज्ञानरूप चक्षु से जानते हैं, वे विदेहमुक्ति को प्राप्त करते हैं, यही क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग कहलाता है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।।

भगवद्गीता १३/३४

चतुर्दशाध्यायान्तर्गत 'गुणत्रयविभागयोग'

प्रकृति के जितने कर्म हैं सब प्रकृति के तीन गुणों के द्वारा होते हैं, जिनमें सत्त्वगुण ज्ञानविज्ञान का साधक है, आत्मा अकर्ता है, गुण ही कर्त्ता हैं। यह जानता हुआ भक्त अव्यभिचारी भक्तियोग से इन गुणों से परे रहता है और अन्त में मद्भाव को प्राप्त होता है—

नाऽन्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।

भगवद्गीता १४/१९

पञ्चदशाध्यायान्तर्गत 'पुरुषोत्तमयोग'

प्रकृति और पुरुष का जो संयोग है, वह भगवान् की ही दो शक्तियों का संयोग है। प्रकृति क्षरपुरुष है और पुरुष अक्षरपुरुष है। भगवान् इन दोनों

से परे हैं और दोनों का समावेश भगवान् में होता है। इसीलिये भगवान् को पुरुषोत्तम कहते हैं। शास्त्रों में यह गुह्यतम शास्त्र है। इस शास्त्र को जानता हुआ भक्त भगवान् को सब भावों से भजता है, यही पुरुषोत्तमयोग है— भगवान् बतलाते हैं कि हे अर्जुन यत: मैंने क्षर-विनाशी मायामय संसार का अतिक्रमण किया है और अक्षर-संसारबीज अव्यक्त-से मैं उत्तम हूँ, इसलिये मैं लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।

भगवद्गीता १५/१८

पुरुषोत्तमयोग को जानकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।।

भगवद्गीता १५/२०

षोडशाध्यायान्तर्गत 'दैवासुरसम्पद्विभागयोग'

संसार में दो प्रकार के मनुष्य हैं—देव और असुर। अभय आदि छब्बीस लक्षण देव मनुष्यों के हैं और दम्भ आदि छ: लक्षण असुरों के हैं। असुरलक्षण दु:ख के कारण हैं और देवलक्षण आनन्द के कारण हैं। असुर जगत् का अहित और नाश करते हैं और अधमगति को प्राप्त होते हैं। दैवी सम्पत्ति संसारबन्ध से मुक्ति के लिये और आसुरी सम्पत्ति संसार में बन्धन के लिये मानी गई है—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता ।

भगवद्गीता १६/५

सप्तदशाध्यायान्तर्गत 'श्रद्धात्रयविभागयोग'

सबकी अपनी-अपनी श्रद्धा है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह होता है। भूतप्रेतों में श्रद्धा रखने वाला भूतप्रेत ही हो जाता है। भगवान् के दिव्य भावों पर जो श्रद्धा रखता है, वह देव हो जाता है। यह श्रद्धा मुख्यतया त्रिविध है। पर सात्त्विक श्रद्धा ही भगवान् का मार्ग है—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।।
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।

भगवद्गीता १७/२-३

तृतीय षट्क

इस प्रकार तृतीय षट्क के इन पांच योगों में परमात्मा का जगत् के साथ त्रिविध योग और त्रिगुणात्मक त्रिविध जगत् का द्विविध दैवासुरविभाग बतलाकर आसुर का त्याग और तज्जन्य युद्ध सूचित करते हैं। यह विषय अठारवें अध्याय के पचपनवें श्लोक तक चलता है और तब—

अष्टादशाध्यायान्तर्गत 'मोक्षसंन्यासयोग'

इसमें ज्ञान-विज्ञान-भक्ति की पूर्णता होने पर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को वक्षस्थल से लगाकर आशीर्वाद देते हुए कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।

भगवद्गीता १८/६५

हे अर्जुन! तुम मुझ में ही चित्त लगाओ मेरा भजन करो, मेरा यजन करो, मुझे ही नमस्कार करो। चूँकि तुम मेरे प्रिय हो इसलिये मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि ऐसा करने पर तुम मुझे ही प्राप्त हो सकोगे।

अपने हृदगत भाव को अर्जुन को बतलाते हुए आगे कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

भगवद्गीता १८/६६

अब अर्जुन भगवान् से युक्त, सब पापों से मुक्त अर्जुन है। अब उसके लिये कुछ करणीय नहीं है, बस भगवत्कर्म करना है, भगवत्संकल्प को पूर्ण करना है। भगवान् की इच्छा और उसकी इच्छा एक है। वह कृतकृत्य है, उसे अब मुक्त आनन्द के साथ भगवद्वचन का पालन करना है। धनुषबाण

उठा कर अब वह कहता है कि भगवन् ! आपके प्रसाद से मेरा सम्पूर्ण मोह नष्ट हो गया। वेदान्तप्रतिपाद्य नित्य कूटस्थ परमात्मा ही मैं हूँ। इस प्रकार आत्मतत्त्वस्मृति भी प्राप्त हुई। सम्पूर्ण सन्देहों से मैं मुक्त हो गया हूँ। आपके वचन का अवश्य पालन करूँगा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।।

भगवद्गीता १८/७३

अहंता-ममता की बद्ध अवस्था में शोकाकुल होकर धनुषबाण का जो संन्यास किया गया था, वही बद्धसंन्यास अब अपनी बद्धता से युक्त होकर धनुषबाण धारण करके मुक्तसंन्यास में परिणत हो गया। यह मुक्त संन्यास ही जीव और जगत् का परमोत्कर्ष है। यही योगीश्वर श्रीकृष्ण और योगी अर्जुन का परमानन्दमिलन है। यही श्री है। यही विजय है। यही भूति है। यही ध्रुवा नीति है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।

भगवद्गीता १८/७८

इस प्रकार योगीश्वर श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से अष्टादशाङ्गयोग का वृष्टियोग जनमानस के लिये अमृतस्वरूप है। भगवद्गीता अध्ययन का नहीं, अपितु अनुपालन का विषय है।

●

तन्त्र में योग

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपने-अपने मार्ग के अनुसार 'योग' शब्द का अर्थ करते हैं। वेदान्तदर्शन का कहना है कि जीव और आत्मा के मिलन का नाम योग है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के मतानुसार शिव और आत्मा के अभेदज्ञान का नाम योग है। भेदवादियों के मत में पुराण-पुरुष का ज्ञान ही योग है। योगाभ्यास करने के लिये दीक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिए। दीक्षानिर्दिष्ट अपनी ब्रह्ममूर्ति की उपासना से सिद्धि प्राप्त करने पर योगमार्ग में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होता है। वाममार्गीय कौल कहते हैं कि शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर एवं गाणपत्यादि मन्त्रों के द्वारा चित्त विशुद्ध होने पर कौलज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है। कुलार्णवतन्त्र के द्वितीय उल्लास में लिखा है—

शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्यादिकैः क्रमात् ।
मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते ।।

कुलार्णवतन्त्र २/२९

कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है कि मनुष्य चार श्रेणियों में विभक्त हैं और प्रत्येक श्रेणी के मनुष्य अपने-अपने अधिकारभेद से परम पदार्थ को भिन्न-भिन्न रूप में देखा करते हैं। वचन है—

अग्नी तिष्ठन्ति विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम् ।
प्रतिमास्वप्रबुद्धानां सर्वत्र विदितात्मनाम् ।।

कुलार्णवतन्त्र ४४

अर्थात् क्रियाकाण्ड में अनुरक्त ब्राह्मण उनको अग्नि में देखा करते हैं। मनीषी अपने हृदय में उनका अनुभव करते हैं। जो अप्रबुद्ध हैं, वे प्रतिमा में उन्हें देख पाते हैं और जो आत्मज्ञानी हैं, वे सर्वत्र और सर्वदा उस परम पदार्थ को देखा करते हैं।

योग-साधना का उद्देश्य यही शेषोक्त अवस्था प्राप्त करना है। इसके

लिये सर्वप्रथम कर्तव्य है—काम, क्रोध लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छः रिपुओं का नाश करना। यहाँ काम आदि रिपुओं का स्वरूपज्ञान होना अपेक्षित है। स्त्रीभोगादि की जो अभिलाषा है, वही 'काम' है। प्राणियों को पीडा पहुँचाने का नाम है 'क्रोध'। धनादि की अतिशय आकांक्षा का नाम है 'लोभ'। तत्त्वज्ञान का अभाव ही 'मोह' है। मैं सुखी हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं धनवान् हूँ—इस प्रकार के गर्व को 'मद' कहते हैं। दूसरे का सौभाग्य देखकर जो दुःख होता है, उसका नाम 'मत्सर' है। ये शत्रुस्वरूप हैं, क्योंकि दुःख के कारण हैं। किञ्च आत्मस्वरूप का विचार करने में ये बाधा पहुँचाते हैं। इनका दमन करने के लिये योग के अष्टाङ्ग का अभ्यास करना पड़ता है। योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि।

यम—'यम' शब्द का अर्थ है उपरति अर्थात् काम इत्यादि की निवृत्ति। यह दश प्रकार का है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, कृपा, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ।

अहिंसा का अर्थ है—किसी कर्म के द्वारा और मन के द्वारा किसी प्रकार से किसी प्राणी को क्लेश न पहुँचाना। **सत्य** शब्द का अर्थ है—जैसा सुना हो और जैसा देखा हो वैसा ही कहना। **अस्तेय** शब्द का अर्थ है—दूसरे का तुच्छ से भी तुच्छ तृण आदि भी ग्रहण न करना। **ब्रह्मचर्य** शब्द का अर्थ है—आठों प्रकार के मैथुन का परित्याग करना। इस अष्टविध मैथुन का वर्णन शास्त्र में इस प्रकार आया है—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ।।

कृपा शब्द का अर्थ है—प्राणिमात्र की दुःखनिवृत्ति की चेष्टा। **आर्जव** शब्द का अर्थ इस प्रकार वर्णित है—

व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कामकर्मभिः ।
सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यमार्जवं भवेत् ।।

अर्थात् समस्त प्राणियों के साथ मन, वाणी और शरीर के द्वारा जो व्यवहार किया जाता है, उसमें कुटिलता के अभाव का नाम **आर्जव** है। **क्षमा**

शब्द से अपकार करने वाले के प्रति मित्रवत् व्यवहार समझना चाहिए। इष्ट वस्तु की अप्राप्ति में जो दुश्चिन्ता उत्पन्न होती है, उस दुश्चिन्ता का अभाव ही **धृति** है। शरीरधारण करने मात्र के लिये जो भोजन है उसका नाम **मिताहार** है। जिसके द्वारा चित्त निर्मल होता है, उस पवित्रता का नाम **शौच** है। यहाँ यह समझना चाहिए कि धृति इन दश प्रकार के सभी साधनों में रहेगी। अहिंसा और ब्रह्मचर्य के द्वारा काम पर; कृपा और क्षमा के द्वारा क्रोध पर; अस्तेय, सत्य और आर्जव के द्वारा मद पर और अहिंसा, कृपा, आर्जव और क्षमा के द्वारा मत्सर पर विजय प्राप्त होती है।

नियम—योग का दूसरा अंग नियम भी दश प्रकार का है—तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देवपूजा, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप तथा होम।

कृच्छ्रादि व्रतों के आचरण का नाम **तप** है। इष्टतर वस्तु की भी अभिलाषा न होने का नाम **सन्तोष** है। श्रुतिप्रतिपाद्य अर्थ अर्थात् परलोक आदि के अस्तित्व में जो विश्वास है, वही **आस्तिक्य** है। यथाविहित अनिंद्य उपाय से अर्जित धन को शक्ति के अनुसार देव, पितर और मनुष्यों के उद्देश्य से वितरित करना **दान** है। अपनी ब्रह्ममूर्ति की उपासना **देवपूजा** है। उपनिषद् आदि मोक्ष शास्त्रों के सुनने का नाम **सिद्धान्तश्रवण** है। कुत्सित आचरण के कारण मन में जो कष्ट होता है उसका नाम **ह्री** है। **मति** शब्द का अर्थ है—मनन अर्थात् विविध युक्ति, प्रमाणों की सहायता से श्रुत अर्थ का अनुशीलन। **जप** शब्द का अर्थ इष्ट मन्त्र का अनुचिन्तन है। इससे चित्तशुद्धि होती है। **होम** अग्निहोत्रादि याज्ञिक क्रियाओं का नाम है।

आसन—आसन अनेक प्रकार के हैं। इनकी कोई निश्चित संख्या नहीं है। सामान्यत: चौरासी प्रकार के आसनों की बात कही गई है। उनमें पांच आसन शास्त्रों में प्रधान बताये गये हैं। वे पाँच आसन हैं—पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन और वीरासन।

प्राणायाम—आसन लगाने पर जब श्रम दूर हो जाय तब प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। जिस आसन में साधक को कोई क्लेश न हो और वह सुखपूर्वक बैठ सके, वही आसन लगाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम दो प्रकार का है—निगर्भ और सगर्भ। ध्यान और मानस जप करते हुए प्राणायाम साधने का नाम सगर्भ प्राणायाम है। बीज उच्चारण

न करके जो प्राणायाम किया जाता है उसका नाम निगर्भ प्राणायाम है। इडा नाडी से अर्थात् वाम-नासिका-पुट से षोडश मात्रा वायु आकर्षण करने का नाम पूरक, चौसठ मात्रा वायु धारण करने का नाम कुम्भक एवं बत्तीस मात्रा में पिंगला से अर्थात् दाहिने नासिका पुट से वायु त्यागने का नाम रेचक है। प्राणायाम में तीन प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं। जिस अवस्था में स्वेद निकलता है, उसे अधम अवस्था कहते हैं। मध्यम अवस्था में देहकम्पन होता है तथा उत्तम अवस्था में साधक भूमि से ऊपर उठ जाता है। इस प्राणायाम के सिद्ध होने पर साधक प्रत्याहार का अधिकारी होता है।

प्रत्याहार—यत्र-तत्र भ्रमणशील इन्द्रियों को इन्द्रियग्राह्य विषयों से विमुख (निवृत्त) करना प्रत्याहार है।

धारणा—अंगुली एड़ी से आरम्भ करके सहस्रार पद्म के नीचे स्थित द्वादश दलकमल तक षोडश स्थानों में प्राणवायु को धारण करने का नाम धारणा है। प्रत्याहार और धारणा का अभ्यास गुरु के उपदेश के अनुसार ही करना चाहिए। इनकी कोई विशिष्ट व्यवस्था है। शिष्य की योग्यता के अनुसार गुरु इनकी विधि निर्दिष्ट करते हैं।

ध्यान—एकाग्रचित्त होकर अपने अभीष्ट देवता या स्वकीया ब्रह्ममूर्ति के चिन्तन करने का नाम ध्यान है।

समाधि—जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्यचिन्तन की निरन्तरता को समाधि कहते हैं।

जीवदेहमात्र ही शिवशक्त्यात्मक, अग्निषोमात्मक अथवा शुक्र-शोणितात्मक है और साधक की अपनी अंगुलियों से छियानवे अंगुल है। पायु और जननेन्द्रिय के मध्य के स्थान को कन्द या मूलाधार कहते हैं। इस मूलाधार से असंख्य नाडियों की उत्पत्ति होती है। उनमें तीन प्रधान नाडियाँ हैं। वे हैं—इडा, पिङ्गला तथा सुषुम्ना ।

इडा नाडी बायीं ओर है, पिंगला दाहिनी ओर है और सुषुम्ना मेरुदण्ड के मध्यभाग में स्थित है। सुषुम्ना की अन्तर्वर्ती एक अन्य नाडी का नाम चित्रा है। चित्रा के अन्तर्भाग को ब्रह्मनाडी कहते हैं। मूलाधार में जो एक अत्यन्त सुन्दर ज्योतिर्मय त्रिकोण है, वहीं पर कुण्डलिनी अर्थात् जीवशक्ति

साढे तीन चक्राकार में सुप्त सर्पिणी की तरह रहती है। मूलाधार के ऊपर लिङ्गमूल में जो चक्र है, उसका नाम स्वाधिष्ठानचक्र है। उसके ऊपर नाभि के मूलदेश में सुषुम्नानाडी से सम्बद्ध जो चक्र है, उसे मणिपूरचक्र कहते हैं। हृदयस्थान में जो एक चक्र है, उसे अनाहतचक्र कहते हैं। कण्ठदेश में जो चक्र है, उसका नाम विशुद्धचक्र है और भ्रूमध्य में जो चक्र है उसे आज्ञाचक्र कहते हैं। इसी स्थान पर गुरु की आज्ञा का सञ्चार होता है। इसी से इसका नाम आज्ञाचक्र है। साधक कुण्डलिनी शक्ति को इन समस्त चक्रों का भेद करता हुआ मूलाधार से द्वादशदलचक्र के ऊपर शिवस्थान में ले जाता है और शिवशक्ति सामरस्यरूप अतुल आनन्द का भोग करता है। षट्चक्रनिरूपण, त्रिपुरासारसमुच्चय, गन्धर्वतन्त्र प्रभृति ग्रन्थों में इसका वर्णन मिलता है। महाकालोक्त पादुकापञ्चकम् स्तोत्र में पूर्वोक्त द्वादशदलात्मक पद्म का विशेष विवरण मिलता है। योगसाधना का उद्देश्य यही है कि गुरु, मन्त्र, यन्त्र, देवता और साधक की एकता की उपलब्धि हो और क्रमशः अद्वैतभाव की प्राप्ति हो। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर सिद्ध योगी परमानन्द नित्यचैतन्यैकगुणात्मक आत्माभेदस्थित प्रणव के अथवा ह्लींकार के चिन्तन में मग्न रहते हैं। इस समय वे मन, वाणी तथा वेदवाक्य से अतीत स्वसंवेद्य आनन्दरससागर-तादात्मक वस्तु को प्राप्त करते हैं।

अद्वैतलाभ के पूर्व की अवस्था में जो ध्यान बतलाया गया है, वह इस प्रकार है—

सत्यं मानविवर्जितं श्रुतिगिरामाद्यं जगत्कारणम् ।
व्याप्तस्थावरजङ्गमं मुनिवरैर्ध्यातं निरुद्धेन्द्रियैः ।।
अर्काग्नीन्दुमयं शताक्षरवपुस्तारात्मकं सन्ततम् ।
नित्यानन्दगुणालयं गुणपरं वन्दामहे तन्महः ।।

कहा जा सकता है कि तन्त्रशास्त्र में वर्णित योगमार्ग और श्रुतिशास्त्र में विवेचित मार्ग का गन्तव्य स्थान एक ही है। इसीलिये श्रुति और आगम का भेद वाक्यगत है, न कि वस्तुगत ।

भगवत्पाद शंकराचार्य ने स्वरचित प्रपञ्चसारतन्त्र में हल्लेख्या बीज के सम्बन्ध में कहा है—

यां ज्ञात्वा सकलमपास्य कर्मबन्धनं
तद्विष्णोः परमपदं प्रयाति लोकः ।
तामेतां त्रिजगति जन्तुजीवभूतां
हृल्लेखां जपत च नित्यमर्चयीत ।।

श्रीप्रपञ्चसारतन्त्र, ४/७६

इससे विदित होता है कि शक्तिबीजसाधन के द्वारा भी विष्णुपद प्राप्त किया जाता है। पूर्व कहा गया है कि साधक का उपास्य या इष्टदेवता गुरुनिर्दिष्ट ब्रह्ममूर्तिमात्र होता है। अपने इष्ट की मूर्ति का अवलम्बन करके ही परम पदार्थ में लीन हुआ जा सकता है। शाक्ततन्त्र में शक्ति को प्रधानता दी जाती है, इसी से ह्रींकार बीज और कुण्डलिनी शक्ति की आराधना की प्रधानता है। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। शिव और शक्ति का परस्पर अविनाभावसम्बन्ध है। जिन्होंने इस अविनाभाव की उपलब्धि की है, वे ही जीवन्मुक्त हैं।

●

वाम-कौल-तान्त्रिक योग

नमामि त्वां महादेवीं महाभयविनाशिनीम् ।

महादुर्गप्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम् ।।

अर्थात् मृत्युरूप महाभय का नाश करने वाली, अति विघ्नों को शान्त करने वाली तथा महान् करुणा की मूर्ति आप महादेवी की मैं वन्दना करता हूँ।

जीवात्मा का विकास जीवन के उत्कर्ष पर निर्भर करता है। यह जीवनशक्ति और प्राणों की वृद्धि हम योगाभ्यास से ही विशेषत: लाभ कर सकते हैं। आहार-विहार में यथायोग्य संयम करने से तथा स्वास्थ्य के मूलभूत नियमों का अनुपालन करने से हमारी जीवनशक्ति की वृद्धि होती है। फलत: योगविज्ञानसदृश सर्वोच्च संयमनमार्ग का अभ्यास करने से हमारी आत्मिकशक्ति अवश्यमेव विकसित होती है, यह ध्रुव सत्य है। अथ च इन यौगिक क्रियाओं में पथप्रदर्शक गुरु की आवश्यकता अनिवार्य है और मन की यथार्थ तीव्रता से गुरु-प्राप्ति भी हो जाती है।

योग के नाम से कई मठ और नानाविध ग्रन्थ हमें प्राप्त हैं, किन्तु अनुभव हमें सतर्क करता है कि सबसे श्रेष्ठ वही मार्ग है जिसमें अभ्युदय और नि:श्रेयस् दोनों की प्राप्ति सुलभ हो सके, क्योंकि केवल एकाङ्गी धर्म कभी कल्याणप्रद नहीं हो सकता। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है—

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।

भगवद्गीता २/५०

अभिप्राय यह है कि 'योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, ज्ञानियों (शास्त्रज्ञों) से श्रेष्ठ है तथा सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है। अत एव हे अर्जुन! तुम योगी बनो।' इससे यह स्पष्ट है कि योग पूर्णाङ्ग मार्ग है और उसकी श्रेष्ठता इसमें निहित है कि वह न किसी का त्याग बतलाता है, न

किसी का ग्रहण, जैसा कि अन्य साम्प्रदायिक मार्गों में है। योगमार्ग हमें भुक्ति और मुक्ति दोनों को प्राप्त कराता हुआ परम आनन्दमय जीवन अर्थात् मुक्त अवस्था में प्रतिष्ठित करा देता है। शास्त्रों को देखने, सुनने और विचार करने से यह विदित होता है कि कौलमार्ग अर्थात् तान्त्रिक साधना ही प्रधान योगमार्ग है और उसका यह तर्क है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो, यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः ।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च भोक्षश्च करस्थ एव ।।

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ भोग है, वहाँ मोक्ष नहीं है। और जहाँ मोक्ष है, वहाँ भोग नहीं है। किन्तु जो व्यक्ति भगवती श्रीत्रिपुरसुन्दरी की सेवा में संलग्न हैं उनके लिये भोग और मोक्ष दोनों ही करतलगत हैं।

तान्त्रिक-साधना में कर्म के त्याग-ग्रहण की आवश्यकता नहीं है, केवल कर्मफल परित्याग की आवश्यकता है। इस साधना के विषय में कुछ कहने से पूर्व कौल, वाम आदि शब्दों के विषय में जो भ्रम व्याप्त है, उसका निवारण करना आवश्यक है।

वाममार्ग का स्वरूप

निरुक्त का वचन है—

अस्रेमा; अनेया, अनेद्यः अनवद्यः अनभिशस्त्यः उक्थ्यः सुनीथः पाकः वामः वयुनमिति दश प्रशस्यनामानि ।

निघण्टु ३/८

अर्थात् उपर्युक्त दश नाम प्रशस्य अर्थात् श्रेष्ठ के वाचक हैं।

निरुक्तशास्त्र के टीकाकार दुर्गाचार्य लिखते हैं—

य एव हि प्रज्ञावन्तस्त एव हि प्रशस्या भवन्ति ।

टीकाकार दुर्गाचार्य पृ. २४४

अभिप्राय यह है कि जो प्रज्ञावान् (बुद्धिमान्) हैं, वे ही प्रशस्य हैं। प्रशस्य शब्द का अर्थ है—प्रज्ञावान् । प्रज्ञावान् प्रशस्य योगी का नाम ही 'वाम' है। तन्त्रशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् शिव कहते हैं—

वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।

अर्थात् वाममार्ग अत्यन्त गहन है और योगियों के लिये भी अगम्य है। मेरुतन्त्र में वाममार्ग के अधिकारी को रेखाङ्कित करते हुए लिखा है—

परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः ।
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता ।।

मेरुतन्त्र

अभिप्राय है कि जो परद्रव्य के लिये नेत्रविहीन है, परस्त्री के लिये नपुंसक है, परनिन्दा के लिये मूक है और जो सर्वदा अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है, ऐसा जितेन्द्रिय ब्राह्मण ही 'वाममार्ग' का अधिकारी होता है।

कौलमार्ग का स्वरूप

स्वच्छन्दतन्त्र में कौलमार्ग का स्वरूप रेखाङ्कित करते हुए लिखा है—

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते ।
कुलाकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते ।।

स्वच्छन्दतन्त्र

अर्थात् 'कुल' शब्द शक्ति का वाचक है और 'अकुल' शब्द से शिव का बोध होता है। कुल और अकुल के सम्बन्ध को 'कौल' कहते हैं।

तन्त्रमार्ग का स्वरूप

तन्त्रमार्ग को रेखाङ्कित करते हुए ब्रह्मयामलतन्त्र में लिखा है—

तन्त्रकृत्तन्त्रसम्पूज्या तन्त्रेशी तन्त्रसम्मता ।
तन्त्रेशा तन्त्रवित्तन्त्रसाध्या तन्त्रस्वरूपिणी ।।

ब्रह्मयामलतन्त्र

अर्थात् देवी तन्त्र को रचने वाली, तन्त्र के द्वारा अर्चनीय, तन्त्र की स्वामिनी, तन्त्र को मान्य, तन्त्र को जानने वाली, तन्त्र के द्वारा साध्य और तन्त्रस्वरूपिणी है।

तात्पर्य यह है कि तन्त्र शक्ति प्राप्त करने का मार्ग है और तन्त्र ही स्वयं शक्ति है। तन्त्रशास्त्र के दो मुख्य साधनमार्ग हैं—एक भावना और दूसरा कुल-कुण्डलिनी का सञ्चालन। शास्त्रकार रुद्रयामल लिखते हैं—

भावेन लभते सर्वं भावेन देवदर्शनम् ।
भावेन परमं ज्ञानं तस्माद् भावालम्बनम् ।।

रुद्रयामल १/११३

भावचूडामणि का वचन है—

बहुजापात् तथा होमात् कायक्लेशादिविस्तरैः ।
न भावेन विना देवो यन्त्रमन्त्रफलप्रदः ।।

भावचूडामणि

अभिप्राय यह है कि भाव से सब कुछ प्राप्त होता है, भाव से ही देवदर्शन होता है और भाव से ही श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति होती है। चाहे हम कितना ही जप करें, कितना ही होम करें और शरीर को कितना ही क्लेश पहुँचावें, भाव के विना देवता यन्त्र और मन्त्र का फल नहीं देते हैं।

इसी मूल सिद्धान्त को लेकर तमोगुणाधिक साधक के लिये पशुभाव, रजोगुणाधिक साधक के लिये वीरभाव और सत्त्वगुणाधिक साधक के लिये दिव्यभाव की साधना तन्त्रशास्त्र में बतलाई है। इन तीनों प्रकार की साधनाओं के लिये साधक जिज्ञासुओं को किसी सुविज्ञ गुरु के पास जाकर उनका मर्म समझना चाहिए।

कुण्डलिनी का स्वरूप

सम्प्रति, कुलकुण्डलिनी का स्वरूप जानने योग्य है—

Shortly Stated. Energy (Shakti) polarises itself into two forms, namely, static or potential (kundalini) and dynamic (The working forces of the body as (Prana). Kundalini is the static shakti. It is the individual bodily representative of the great cosmic power (Shakti) which crctes and sustains the Universe.

The Serpent power by Authur Aualon.

संक्षेप में सर जॉन वुडरफ का मत है कि शक्ति स्थिर अथवा अविकसित (कुण्डलिनी) और चल (अर्थात् शरीर की प्राणरूपा सञ्चालिका शक्ति) रूप से द्विविध हो जाती है। यही शक्ति और शाक्त की मान्यता है।

आर्थर एवेलन के अनुसार. भी कुण्डलिनी स्थिर शक्ति है। यह उस महान् विश्वव्यापिनी शक्ति का ही व्यष्टि शरीर स्थितरूप है। ऐसा पाश्चात्य विद्वानों का मत है।

इस विषय में भारतीय शास्त्रकारों का मत है—

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया ।
अहिवत् सन्धिसंस्थाना वाग्देवीबीजसंज्ञका: ।।
ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा ।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ।।

अभिप्राय यह है कि यह देवी सुप्त सर्प की भाँति प्रतीत होती है तथा अपने ही प्रकाश से प्रदीप्त है। यह सर्प के समान सन्धिस्थान में रहती है तथा वाग्देवी के बीज नाम से प्रसिद्ध है। इसे विष्णु की शक्ति जानना चाहिए। यह निर्भय और स्वर्ण के समान दीप्ति वाली है। यह सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों का प्रसूतिस्थल है। एतावता सब शक्तियों की मूलशक्ति यह कुलकुण्डलिनी है। इसको कैसे जगाया जाय, यही प्रश्न है। हमारे ऋषियों ने कई प्रकार के उपाय साधनाधिकारिभेद से बतलाये हैं, जैसे—मन्त्रयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, बिन्दुयोग (नादयोग), हठयोग, राजयोग इत्यादि। इसमें—

१. सर्वप्रथम बाह्य और आन्तर शुद्धि होनी चाहिए।

२. आहार-विहार नियमित और शुद्ध होना चाहिए।

३. ऐसा व्यवहार वर्जित है, जिससे मस्तिष्क में क्षोभ उत्पन्न हो।

४. ईश्वर अर्थात् इष्ट के प्रति पूर्ण आस्था (प्रेम) होनी चाहिए।

५. आध्यात्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय और गुरु-आज्ञा पर पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए।

६. साधना का स्थान नीरव, एकान्त, स्वच्छ और शुद्ध वायुयुक्त होना चाहिए।

७. साधना प्रात:, सायं तथा अर्द्धरात्रि में अवश्य करनी चाहिए। अर्द्धरात्रि का समय ध्यान और जप के लिये श्रेष्ठ है।

८. जिह्वा आदि इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखना चाहिए।

९. मन-बुद्धि से किसी का भी अहितचिन्तन नहीं करना चाहिए, प्रत्युत प्राणिमात्र के हित की भावना करनी चाहिए।

१०. दृढतापूर्वक ब्रह्मशक्ति का स्वरूप अपने को समझते हुए अपने आत्मा को अजर, अमर, अजेय और समस्त शक्तियों का केन्द्रस्थान समझना चाहिए।

११. स्त्रीजाति को जगदम्बास्वरूप समझते हुए कभी भोगवस्तु नहीं समझना चाहिए। अपितु उन पर मातृदृष्टि रखनी चाहिए।

ये हैं नियम जिनमें साधक को साधना से पूर्व अपने आपको तत्पर रखना (ढालना) चाहिए। तत्पश्चात् निम्नलिखित साधना आरम्भ करनी चाहिए—शीर्षासन का नित्य प्रातः-सायं अभ्यास करना चाहिए। प्रथम एक मिनट से आरम्भ करके जब दस मिनट तक का अभ्यास हो जाय तब प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। पद्म या सिद्ध आसन में बैठकर रेचक, पूरक तथा कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा प्रयत्न किया जाय कि दीर्घकाल तक कुम्भक साधित हो सके, परन्तु बलपूर्वक प्राणवायु को अवरुद्ध करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। शनैः-शनैः अभ्यास को वर्द्धित किया जाय। इसमें ऊँकार के उच्चारण की गणना का ध्यान रखना चाहिए और प्रतिसप्ताह पांच यन्त्र बढ़ाते जाना चाहिए। बीस प्राणायाम से अधिक न बढ़ाना चाहिए और तीन घण्टे तक का कुम्भक चरम अवधि है। ध्यातव्य है कि वायुमण्डल ही प्राण नहीं है। वायु का विशुद्धतम अंश ही प्राणवायु कहलाता है। वायु के विशुद्ध-विशेष का सम्बन्ध ग्रहों की शक्ति और विशेषकर सूर्यज्योति से है। जब-तक सूर्य रहता है, जागृति रहती है। सूर्य के न रहने से जीवमात्र ही शक्तिहीन हो जाता है और उसे विश्राम की आवश्यकता पड़ती है। अतः जिस तरह बाह्य सूर्य है, उसी तरह हमारे भीतर सूर्यकेन्द्र है, जिसे Solarplax कहते है। इसका स्थान नाभि के समीप है और यौगिक भाषा में उसे मणिपूरचक्र भी कहते हैं। यही वह मणिपूर है जिसका वर्णन पुराणों में आया है कि शक्ति का स्थान मणिपूर में है। अतः प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा यहीं चितिशक्ति बढ़ायी जाती है और यथाशीघ्र वह समय आ जाता है, जब मणिपूरचक्र लगने लगता है। जब यह चक्र लगने लगता है, तब साधक में तेज प्रकट होने लगता है। वह शक्तिमान् हो उठता है और उसकी इच्छाशक्ति बलवती हो जाती है। तत्पश्चात् प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि (तल्लीनता) आरम्भ हो जाती है।

मस्तिष्क ही ज्ञानरज्जु के रूप में मेरुदण्ड के मध्य नीचे तक अनन्त स्नायु तन्तुओं के रूप में व्याप्त है। पायु से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ से चार अंगुल नीचे ज्ञानरज्जु; मेरुदण्ड के बाहर चार अंगुल विस्तृत कन्द के रूप में, प्रकट होती है। सिद्धों के अनुसार उसी कन्द का बहत्तर हजार

नाडियों से सम्बन्ध है। इन नाडियों में मुख्य इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना हैं। साधक का उद्देश्य केवल प्राणायाम से उस कन्द को पुष्ट करके शरीर को पुष्ट करना ही न होना चाहिए, क्योंकि शरीर तो स्वयं पुष्ट होगा। अपितु साधक का लक्ष्य होना चाहिए—ब्रह्मानन्द प्राप्ति अर्थात् शिवशक्ति सम्मिलन। साधक की अन्तर्मुखी शक्ति तब सिद्ध होती है, जब उसका सुषुम्ना नाडी से सम्बन्ध होता है। क्योंकि सुषुम्ना नाडी कन्द से होती हुई मस्तिष्कपर्यन्त जाती है और जीवात्मा से विशेष सम्बन्ध रखती है। अत: इसी सुषुम्ना नाडी द्वारा योगिगण केवल भावनापूर्वक प्राणायाम द्वारा सञ्चित शक्ति को आहत कर कुण्डलिनी को जागरित करके उसे ऊर्ध्वगामिनी करने में समर्थ होते हैं और अमृतपद प्राप्त करते हैं। शिवभक्त इसको शिवशक्तिसम्मिलन कहते हैं। कृष्णभक्त इस कुलकुण्डलिनीरूपी राधिका कृष्ण-ब्रह्म के साथ (वंशीवट के निकट) मस्तिष्क के समीप रासविलास देखा करते हैं और आधुनिक सन्त सुरति-शब्द-योग कहकर गद्‌गद् होते हैं। यही जीव शिव हो जाता है और उसकी समस्त ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। कुण्डलिनी के जागरण पर एक प्रकार का कम्प उत्पन्न होता है और उससे ॐ की ध्वनि स्वयं निस्सरित होती है और अनेक प्रकार के स्वर गुञ्जायमान होते हैं। यह ॐकार जगदम्बा का उद्‌गार है और काम, क्रोध, लोभ, मत्सर का नाश ही शम्भु, निशम्भु, चण्ड और मुण्ड का वध है।

भृकुटी में द्विदल कमल स्थित है, जहाँ शिव का निवासस्थान है और योगियों के मत से महाकालरूप रुद्र वहाँ शयन करते हैं। जगदम्बा कुण्डलिनी जाकर ठोकर लगाती और उनके वक्षस्थल पर भीषण नृत्य करके उनमें जीवन का सञ्चार करती है और शव को शिव बनाकर सहस्रदल पद्म में सर्वदा ही विहार करती है। यही काली का नृत्य है।

तान्त्रिक मत में एक तो यह मार्ग है और दूसरे इसी योग के शाखास्वरूप मन्त्र, ज्योति, नादादि योग हैं। पर योगमात्र की साधना तभी सिद्ध होती है, जब कुण्डलिनी जागरित हो उठे। समस्त योगों का लक्ष्य भी एक ही है। इसमें वाद-विवाद का स्थान नहीं है। इस करणीय विद्या का जो अभ्यास करेगा वही आनन्द प्राप्त कर सकेगा।

●

शिवयोगविमर्श

योगशास्त्र के प्रवर्तक पतञ्जलि ने **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** (१/२) इस सूत्र में चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा है। चित्तवृत्ति के निरोध करने में साधनीभूत जो योग हैं वे पाँच प्रकार के हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग तथा शिवयोग।

मन्त्रयोगविमर्श

वचन है—

एकाक्षरं द्व्यक्षरं वा षडक्षरमथापि वा ।
अष्टाक्षरं वा मोक्षाय मन्त्रयोगी जपेत् सदा ।।

अर्थात् एकाक्षरात्मक **ॐ** मन्त्र को अथवा द्व्यक्षरात्मक **हंसः** अथवा **सोऽहम्** मन्त्र को अथवा षडक्षरात्मक **ॐ नमः शिवाय** मन्त्र को अथवा अष्टाक्षरात्मक **ॐ ह्रां ह्रीं नमः शिवाय** मन्त्र को मन्त्रक्रम के अनुसार मोक्षप्राप्ति के लिये जप करना 'मन्त्रयोग' कहलाता है।

लययोगविमर्श

वचन है—

यस्य चित्तं निजध्येये मनसा मरुता सह ।
लीनं भवति नादे वा लययोगी स एव हि ।।

अर्थात् चित्त की अपनी ध्येय मूर्ति में अथवा प्राणायाम से अभिव्यक्त नाद में मन और मारुत के साथ लय होना 'लययोग' कहलाता है।

हठयोगविमर्श

वचन है—

भवेदष्टाङ्गमार्गेण मुद्राकरणबन्धनैः ।
तत्र केवलकुम्भे वा हठयोगी वशानिलः ।।

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान

तथा समाधि नाम से प्रसिद्ध जो अष्टाङ्गयोग है उसके द्वारा अथवा महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डियान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली और शक्तिचालन आदि दश प्रकार के बन्धसमूहों से अथवा धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति इन षट् कर्मों से अथवा रेचक, पूरक प्राणायामों को छोड़कर केवलकुम्भक प्राणायाम से वायु को वश में करना 'हठयोग' कहलाता है।

राजयोगविमर्श

वचन है—

त्रिषु लक्ष्येषु यो ब्रह्मसाक्षात्कारं गमिष्यति ।
ज्ञाने वाथ मनोवृत्तिरहितो राजयोगवित् ।।

अर्थात् ज़ो मनुष्य बाह्य लक्ष्य, मध्य लक्ष्य, अन्तर्लक्ष्यादि से अथवा अमनस्कज्ञान (अन्तर्मुद्राज्ञान) से आत्मसाक्षात्कार कर लेता है उसी को मनोव्यापाररहित 'राजयोगी' कहते हैं और इस प्रकार के अभ्यास को ही 'राजयोग' कहते हैं।

उपरिनिर्दिष्ट चार प्रकार के योगों में राजयोग ही सर्वश्रेष्ठ है।

राजयोग में अन्तर्भुक् शिवयोगविमर्श—राजयोग और शिवयोग में पारमार्थिक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। तथापि परशिवब्रह्म के साक्षात्कार चाहने वाले मुमुक्षुओं की ज्ञानवृद्धि के लिये 'शिवयोग' का प्रतिपादन किया गया है। वचन है—

न भेदः शिवयोगस्य राजयोगस्य तत्त्वतः ।
शिवार्थिनां तथाप्येवमुक्तो बुद्धे प्रवृद्धये ।।

अग्रिम वचन है—

प्रतिपाद्यस्तयोर्भेदस्तथा शिवरतात्मनाम् ।
तस्मान्मनीषिभिर्ग्राह्यः शिवयोगस्तु केवलम् ।।

अभिप्राय यह है कि राजयोग और शिवयोग इन दोनों में क्या भेद है, इस विषय को शिवप्रेमियों के लिये बतलाना आवश्यक है। मुमुक्षुजनों को चाहिए कि वे इसको समझकर शिवयोग का ही अङ्गीकार करें।

गुणत्रयसाक्षात्कार ही तारकत्रय है। प्रकृति में मन को लय करना ही अमनस्कता है। इस बात को अच्छी तरह से जानकर पुरुषसाक्षात्कार के लिये प्रयत्न करना ही 'राजयोग' है, यह पातञ्जलयोगशास्त्र में कहा गया है। परन्तु शिवागमों में शिवभक्ति के आधारभूत महाकुण्डलिनीजन्य तारकत्रय के साक्षात्कार द्वारा उस शक्ति में वृत्तिज्ञान को लय करके सर्वतोमुखव्याप्त शिवतत्त्वाभिव्यक्ति को ही शिवयोग कहा गया है।

शिवपूजा में शिवयोगत्व

इस शिवयोग के शिवज्ञान, शिवभक्ति, शिवध्यान, शिवव्रत और शिवपूजा नाम से पाँच प्रकार हैं। शिवपूजा में ही शिवज्ञानादि का अन्तर्भाव होने के कारण प्रधानतया शिवपूजा को ही शिवयोग कहते हैं। वचन है—

ज्ञानं शिवमयं भक्तिः शैवी ध्यानं शिवात्मकम् ।
शैवव्रतं शिवार्चेति शिवयोगो हि पञ्चधा ।।

जो मनुष्य शिवपूजारूप शिवयोग से विमुख रहता है, वह निश्चय ही पशु कहलाता है और संसारचक्र में जन्म-मरणादिरूप परिभ्रमण करता रहता है। वचन है—

शिवार्चनविहीनो यः पशुरेव न संशयः ।
स तु संसारचक्रेऽस्मिन्नजस्रं परिवर्तते ।।

शिवपूजा के भेद

शिवपूजा के दो प्रकार हैं एक अन्तःपूजा और दूसरी बहिःपूजा। इन दोनों में अन्तःपूजा ही मुख्य है। वह अन्तःपूजा बाह्यपूजा से ही उत्पन्न होती है। बाह्य इष्टलिङ्गपूजा किये विना अन्तर्लिङ्गपूजा सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिये इष्टलिङ्गपूजा ही अन्तर्लिङ्गपूजा का मुख्य साधन है। वचन है—

अन्तर्योगो बहिर्योगो द्विविधं तच्छिवार्चनम् ।
मुख्या चाभ्यन्तरी पूजा सा च बाह्यार्चनोदिता ।।

त्रिनेत्री, त्रिगुणाधार, आणवादि मलत्रय को नाश करने वाले और अपने वामभाग में उमादेवी से शोभायमान ऐसे शिवस्वरूप परमात्मा का हृदयकमल में एकाग्रचित्त होकर ध्यान करते हुए आभ्यन्तर उपचारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

शान्ति ही अभिषेक जल, विश्वव्यापकताभाव ही वस्त्र, इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक शक्तित्रय ही यज्ञोपवीत, स्वस्वरूपज्ञान ही गन्धानुलेपन, अत्यधिक दया ही अक्षता, परिशुद्ध भक्ति ही पुष्प, मनो-बुद्धि-अहंकार-परमान्तःकरणचतुष्टय ही धूप, इन्द्रियगुणोत्कर ही दीप, सुखदुःखरहित आत्मस्वरूप ही नैवेद्य, सत्त्वरजस्तमोगुणत्रय ही ताम्बूल तथा प्राण ही नमस्कार है। इस प्रकार आभ्यन्तरोपचारों से शिवस्वरूप परमात्मा का पूजन करना चाहिए। वचन है—

त्रिनेत्रं त्रिगुणाधारं त्रिमलक्षयकारणम् ।
सर्वमङ्गलया देव्या निजवामाङ्गशोभितम् ।।
परं शिवं हृदि ध्यात्वा निश्चलीभूतमानसः ।
यजेदाभ्यन्तरद्रव्यैरवधानेन तद्यथा ।।
शमाम्बुपरिषेचनं सकलपूर्णभावाम्बरम् ।
त्रिशक्तिगुणसंयुतं विहितयज्ञसूत्रं तथा ।।
स्वसंविदनुलेपनं समधिकानुकम्पाक्षतान् ।
शिवाय विनिवेदयेत् प्रकटभक्तिपुष्पाणि च ।।
धूपमान्तरचतुष्टयेन तद्दीपमिन्द्रियगुणोत्करेण तु ।
कल्पयेच्च सुखदुःखवर्जितं जीवरूपमुपहारमान्तरे ।।
रजस्तमःसत्त्वगुणत्रयाख्यताम्बूलकं प्राणनमस्कृतिं च ।
इत्येवमाभ्यन्तरमुख्यपूजाद्रव्याणि सम्पादय शङ्कराय ।।

शिवयोग में अष्टाङ्गसाधन का स्थान

शिवयोगसाधकों के लिये शिवयोग ही साध्य है और हठयोग तो साधनमात्र है। हठयोग बाह्य और आन्तर अष्टाङ्गों से युक्त है। वीरशैवों को आन्तर अष्टाङ्गात्मक हठयोग द्वारा शिवयोग का साधन करना चाहिए।

शैवदर्शन के अनुसार यम-नियम-सम्बन्धी चौबीस गुणों से आत्मशुद्धि करना, स्ववशीभूत पद्मादि आसनों से देह को स्थिर करना तथा प्राणायाम रूपी जल से दिव्य लिङ्ग का अभिषेक करना—इसी को **बाह्य चतुरङ्ग** कहते हैं। वचन है—

यमनियमगुणैश्च स्वात्मशुद्धिं विधाय ।
स्ववशविविधपीठैरेव भूत्वा स्थिरात्मा ।।

असुनियमजलेन स्नापयेद् दिव्यलिङ्गम् ।
प्रकटितचतुरङ्गं बाह्यमेतद्विधानम् ।।

इसी क्रम में शिव जी के नेत्रादि का विषयनिवृत्तिरूप प्रत्याहार ही गन्ध है, उस इन्द्रियनिवृत्ति से अन्तर्मुख हुए मन में जो शिवध्यान किया जाता है, वही ध्यानात्मक पुण्य है, उन्हीं शिव को दृढता के साथ धारण करना ही धारणा है और ज्ञाताज्ञातरूप समाधि ही नैवेद्य है। इसी को **आभ्यन्तर चतुरङ्ग** कहते हैं। शिवयोगी लोग इस प्रकार अष्टाङ्गयोग का साधन करते हुए अपने हृदयकमल में शिवात्मक परमात्मा का पूजन करते हैं। वचन है—

शम्भोरथेन्द्रियनिवर्तनमेव गन्धो ।
ध्यानं प्रसूननिचयो दृढधारणा सा ।।
धूपः समाधिरथशुद्धमहोपहारम् ।
आभ्यन्तराख्यचतुरङ्गविधानमेतत् ।।
एवमष्टाङ्गयोगेन सदाऽन्तःपद्मसद्मनि ।
पूजयेत्परमं देवं किं बाह्यैर्देवपूजनैः ।।

वीरशैवमत में भक्त, महेश, प्रसादी (आकाश), प्राणलिङ्गी, शरण, ऐक्य इन नामों से प्रसिद्ध जो षट्स्थल हैं, वे ही 'शिवयोग' के मुख्याङ्ग हैं। यम-नियमादि अष्टाङ्गों का भी षट्स्थलों में ही समावेश होता है।

यम-नियमों से जो युक्त है, उसी को **भक्त** कहते हैं। आसन से जो युक्त है उसे **महेश्वर** कहते हैं। चराचर प्रपञ्च का जिस लिङ्ग में लय होता है उस लिङ्ग को **आकाश** कहते है। ऐसे आकाश में जो मनुष्य अपने प्राण का लय करता है, उसी को **प्राणलिङ्गी** कहते हैं। शिवरूप परमात्मा के ध्यान-धारणादि से जो युक्त है, उसी को **शरण** कहते हैं। समाधि में जिसका मन स्थिर हुआ है और जिसको अद्वैतभाव उत्पन्न हुआ है, उसी को **ऐक्य** कहते हैं। वचन है—

यमेन नियमेनैव मन्ये भक्त इति स्वयम् ।
स्थिरासनसमायुक्तो महेश्वरपदान्वितः ।।

चराचरलयस्थानं लिङ्गमाकाशसंज्ञकम् ।
प्राणे तद्व्योम्नि संलीने प्राणलिङ्गी भवेत् पुमान् ।।
प्रत्याहारेण संयुक्तः प्रसीदति न संशयः ।
ध्यानधारणसम्पन्नः शरणस्थलवान् सुधीः ।।
लिङ्गैक्योऽद्वैतभावात्मा निश्चलैकसमाधिना ।
एवमष्टाङ्गयोगेन वीरशैवो भवेन्नरः ।।

निष्कर्ष यह निकलता है कि अष्टाङ्गरूपी षट्स्थलों का आचरण करने वाला सज्जन ही 'वीरशैव' होता है। लिङ्गपुराण के प्रमाणों से भी इसी विषय का बोध होता है। भ्रमर के योग से कीट जैसे प्रत्यक्ष भ्रमर ही होता है, उसी प्रकार मानव भी शिवयोग से केवल शिव ही हो जाता है।

वचन है—

कीटो भ्रमरयोगेन भ्रमरो भवति ध्रुवम् ।
मानवः शिवयोगेन शिवो भवति केवलम् ।।

यही शिवयोग का रहस्य है।

●

अस्पर्शयोग

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ।।

गौडपादीयकारिका ३९

श्री आनन्दगिरि ने इस कारिका का अर्थ इस प्रकार किया है— वर्णाश्रमधर्म से, पापादि मल से जिसको स्पर्श नहीं होता है, जो इनसे सर्वदा असंसर्गित रहता है, वह अद्वैतानुभव अस्पर्श है। वह यह योग अर्थात् जीव की ब्रह्मभाव से योजना ही 'अस्पर्शयोग' है।

उक्त कारिका पर भाष्य लिखते हुए आचार्य शङ्कराचार्य अपना मन्तव्य इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

यद्यपीदमित्थं परमार्थतत्त्वम् । अस्पर्शयोगो नामायं सर्वसम्बन्धाख्यस्पर्शवर्जितत्वादस्पर्शयोगो नाम वै स्मर्यते प्रसिद्धमुपनिषत्सु । दुःखेन दृश्यत इति दुर्दशः सर्वैर्योगिभिः वेदान्तविहितविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिरात्मसत्यानुबोधायासलभ्य एवेत्यर्थः । योगिनो बिभ्यति ह्यस्मात्सर्वभयवर्जितादप्यात्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति । अभयेऽस्मिन्भयदर्शिनो भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीला अविवेकिन इत्यर्थः ।

शाङ्करभाष्य, गौडपादीयकारिका ३९

अभिप्राय यह है कि अस्पर्शयोग सब स्पर्शों से, सब सम्बन्धों से अलिप्त रहने का नाम है और उपनिषदों में यह प्रसिद्ध है एवं अनेक स्थानों में इसका उल्लेख मिलता है। जिनको वेदान्तविहित विज्ञान का बोध नहीं होता है, उनके लिये कारिका में **'दुर्दशः'** पद का प्रयोग हुआ है। यह अस्पर्शयोग सब प्रकार के भयों से शून्य है, तो भी योगिजन इस योग से भयभीत होते रहते हैं—वह भय यह कि कहीं इस प्रकार अस्पर्शयोग द्वारा अद्वैततत्त्व में मिल जाने से आत्मतत्त्व का नाश समझने वाले योगियों का अविवेक ही है। अर्थात् अविवेकियों को ही ऐसा भय रहता है, अन्यों को नहीं।

उपनिषदों में—

न लिप्यते कर्मणा पापकेन ।

बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/२३

इत्यादि वचन मिलते हैं। अस्पर्शयोग वाले योगिजन पुण्य-पाप से अलिप्त रहते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त कारिका, उस पर शांकरभाष्य और श्री आनन्दगिरि द्वारा कृत टीका का अभिप्राय विशुद्ध अद्वैतपरक अस्पर्शयोग को प्रतिपादित करना है।

'अभय' के विषय में अधोलिखित कारिका है—

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ।।

अभिप्राय यह है कि आत्मदर्शनतत्त्व तो मन के निग्रह के अधीन है, जिससे समस्त दुःखों का क्षय होता है और प्रबोधचन्द्र का उदय भी। इससे अक्षय शान्ति भी मिलती है। यही 'अभय' पद का अर्थ है।

गीता का कर्मयोग भी एक प्रकार से अस्पर्शवाद ही है। उसमें भी फल की आकांक्षा से रहित (अस्पर्श) रहकर कर्म करना पड़ता है। फल की आकांक्षा त्यागकर केवल कर्तव्य के लिये कर्तव्य करते रहने से पुरुष पाप-पुण्य से अलिप्त रहकर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। ध्यानयोग का जो फल है, वही फल इस प्रकार के अस्पर्शवाद का है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।
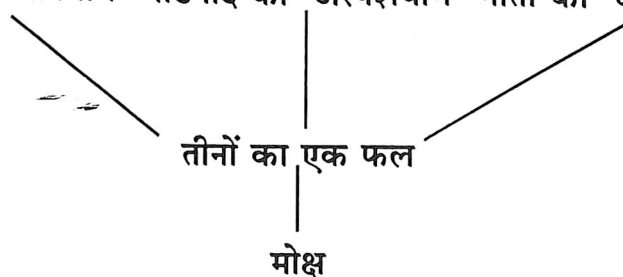
भगवद्गीता ५/५

वस्तुतस्तु जितना भी दुःख है वह है स्पर्श का अर्थात् कर्मफल में लिप्त रहने का। गीता का वचन है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।

भगवद्गीता ५/२२

संसार के लिये जितने संस्पर्शज भोग हैं, वे दुःख के ही कारण हैं। बुद्धिमान् पुरुष उनमें रमते नहीं, पृथक् रहते हैं, अस्पर्श से काम लेते हैं, तब वे पुण्यापुण्य से ऊपर उठते हैं, तब आत्मदर्शन कर पाते हैं, तब अभय में लीन हो जाते हैं। यह अस्पर्शयोग अत्यन्त दुष्कर है। साधारण योगियों का तो कहना ही क्या, बड़े-बड़े योगियों को भी अप्राप्य है। यह तो अभ्यास और वैराग्य से वशीकारसंज्ञा प्राप्त करने पर सहजगम्य है।

पुराकाल में हमारे इस भारतखण्ड में इस प्रकार के उच्चकोटि के योगियों की कमी नहीं थी। अब भी यह खण्ड शून्य नहीं है। परन्तु पुराकाल का वह गौरव नहीं रहा है। अधुना, पारमार्थिक सत्य को समझाने वाले हमारे देश में कितने मिलेंगे? और कहाँ मिलेंगे? यदि मिलेंगे तो किस प्रकार पहचाने जायेंगे? पहचाने भी गये तो वे किस प्रकार प्रसन्न होंगे और सद्रूप तत्त्व को समझायेंगे? गौडपादीय वचन है—

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र कश्चिन्न जायते ।।

गौडपादीयकारिका ४८

वस्तुतः कर्त्ता-भोक्ता जीव तो कभी उत्पन्न ही नहीं होता है। स्वभाव से जो अज है, एक ही आत्मा है, वह उत्पन्न भी कैसे हो सकता है? संसार में जितने सत्य हैं उनमें परमार्थ सत्य यह है कि उस सत्यस्वरूप ब्रह्म में अणुमात्र भी उत्पन्न नहीं होता है।

अब रही द्वैताद्वैत की बात, उसको गौडपादीय कारिका से इस प्रकार स्पष्ट किया है—

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ।।

गौडपादीयकारिका ३१

अभिप्राय यह है कि द्वैत की सब बात मन के अधीन है अर्थात् मन के कारण है। मन ही जब लीन-विलीन हो गया तब द्वैत कहाँ? द्वैत की बात बोलने वाला कहाँ?

●

लययोग का स्वरूप : एक यौगिक दृष्टि

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम् ।
शृणुयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ।।

नादबिन्दूपनिषद् ३१

अर्थात् सिद्धासन में स्थित योगी नेत्रों को अर्धोन्मीलित करके दृष्टि को अन्तर्मुखी रखे और सर्वदा दक्षिण कर्ण से अन्तर्गत नाद का श्रवण करे।

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ।।

नादबिन्दूपनिषद् ३८

अर्थात् जहाँ कहीं नाद में सर्वप्रथम मन लगता है, वहाँ-वहाँ स्थिर होकर उसके ही साथ विलीन हो जाता है।

सृष्टि के आदि में स्वयंप्रकाश, अखण्ड, एकरस, एक ही अद्वैत ब्रह्म था। उसके अतिरिक्त दूसरा कोई न था। स्पन्दन और अस्पन्दन नामक दो शक्तियाँ शिवरूप इस ब्रह्म में निगूढ थीं। प्राणियों के कर्मविपाक के द्वारा लय के पश्चात् सृजन होता ही है। इस न्याय के अनुसार ब्रह्म में स्वभावत: संकल्प स्फुरित हुआ—

एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय ।

छान्दोग्योपनिषद् ६/२/३

अर्थात् बहुत होऊँ, सृष्टि करूँ। संकल्प के स्फुरणमात्र से ही, ईक्षण-मात्र से ही स्पन्दन और अस्पन्दन शक्तियों का संयोग हुआ और एक महाशक्ति उत्पन्न हुई। गुणत्रय की साम्यावस्थारूप जड़-चेतन-विभागमयी यह महाशक्ति ही प्रकृति है। दर्पण में जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही चिदात्मा (Pure Consciouness) के प्रकृति में प्रतिबिम्बित होते ही, प्रकृति के दो रूप हो गये। स्पन्दनांशमय प्रकृति का जड अंश 'परा प्रकृति' कहलाया और अस्पन्दनांश चेतन अंश के रूप में 'अपरा प्रकृति' माना गया।

शास्त्रीय परिभाषा में प्रकृति के स्पन्दनांश को 'पर प्रणव' और अस्पन्दनांश को 'अपर प्रणव' कहते हैं। इसमें परप्रणव 'वाच्य' और अपरप्रवण 'वाचक' है। वाच्य प्रणव अपवादरूप है और वाचक प्रणव अध्यारोपरूप है। इस वाच्य और वाचक प्रणव के संयोग से एक महच्छक्ति उत्पन्न होती है जो विवृच्छक्ति कहलाती है।

यह विवृच्छक्ति जगत् की उत्पत्ति का कारण है। परब्रह्म की ईक्षणाशक्ति जगत् का महाकारण है। ईक्षणाशक्ति के द्वारा ही यह विवृच्छक्ति प्रेरित होती है, आयोजन करती है और सृष्टि-संकल्प करती है। सृष्टि-संकल्प की इस विधि का शास्त्रीय नाम पर्यालोचना (Cosmic ideation) है।

परप्रणव की सत्तामात्र से अर्थात् पराप्रकृति की सन्निधि से अपरप्रणव अर्थात् अपरा प्रकृति में सङ्कल्पविवृत्ति प्रारम्भ हुई और वह अकार, उकार और मकार के तीन रूपों में विभक्त हो गई।

सूर्य एक होते हुए भी अनेक स्थलों में प्रतिबिम्बित हो सकता है, उसी प्रकार परब्रह्म अद्वय होते हुए भी प्रकृतिजन्य विभक्ति के द्वारा तीन महाशक्तियों के रूप में भासमान होता है। ब्राह्मी, वैष्णवी और माहेश्वरी शक्ति के रूप में ये तीनों महाशक्तियाँ जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण बनीं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ये इन तीन शक्तियों के अधिष्ठातृदेव हैं। ये तीन महाशक्तियाँ **'सृष्टिसङ्कल्पशक्तयः'** नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनमें से प्रत्येक शक्ति में परब्रह्म के ईक्षण द्वारा प्रवृत्त हुई विवृच्छक्ति की प्रेरणा से कितने ही विशिष्ट प्रकार के संक्षोभ होने लगे। इस संक्षोभ के परिणाम से अकार में से एक सूक्ष्म शब्द उत्पन्न हुआ और मकार में से एक अत्यन्त स्थूल शब्द का प्रादुर्भाव हुआ। इस शब्द को यौगिकविज्ञान में 'नाद' नाम से पुकारा जाता है।

प्रणव के अ-उ-म् इन अङ्गों से उद्भूत इन महाशक्तियों से क्रमशः मनोबीज, प्राणबीज और अहंबीजरूप में सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कारणबीज प्रकट हुए। सूक्ष्म शब्दशक्ति को सृष्टिबीज कहा जाता है। और इसे नादशास्त्र की परिभाषा में मनोबिन्दु कहते हैं। स्थूलशब्द प्राणबिन्दु है। प्राणबिन्दु ही सृष्टि का स्थितिबीज है। अत्यन्त स्थूल शब्द को शास्त्र अहंबिन्दु कहता है। अहंबिन्दु ही सृष्टि का लयबीज है।

सूक्ष्म शब्द ब्रह्मा है। इस शब्द में रहने वाली सूक्ष्म नादशक्ति ब्राह्मीशक्ति है। परब्रह्म की ईक्षणाशक्ति द्वारा विवृच्छक्ति में यह ब्राह्मी शक्ति सूक्ष्म नादरूप में प्रकट होती है। यही शक्ति विश्वसृजन का कारण है।

स्थूल शब्दशक्ति में वैष्णवी शक्ति विराजमान है। उसका अधिष्ठाता विष्णु है। यही वैष्णवी शक्ति प्राणबिन्दु की उत्पत्ति का आदिकारण है। प्राण को विष्णुपदामृत कहा गया है। परब्रह्म की ईक्षणाशक्ति के प्रभाव से विवृतशक्ति में जो स्थूल नाद उत्पन्न होता है, वही वैष्णवी शक्ति का प्राण है, वही शक्ति अखिल विश्व की स्थिति का कारण है।

अत्यन्त स्थूल शब्द में रहने वाली लयशक्ति का अभिमानी देवता महेश्वर है। परब्रह्म की ईक्षणा के परम प्रभाव से विवृच्छक्ति में जो अत्यन्त स्थूल नाद प्रकट होता है, वही वैष्णवी शक्ति का प्राण है, यही शक्ति विश्व प्रलय का महाकारण है।

मनोबीज, प्राणबीज और लयबीज में प्रत्येक के आदिकारणरूप में निगूढ रहने वाली निनादशक्ति का यौगिकविज्ञान में क्रमशः अ उ म् रूप सांकेतिक परिभाषा में वर्णन किया जाता है। इसी कारण प्रणव को परब्रह्म की सृष्टि-संकल्पशक्तियों के समुच्चय के रूप में माना जाता है। परब्रह्म की इस त्रिमूर्तिरूप विभूति को ही ईश्वर कहते हैं। इसी कारण से प्रणव को ईश्वर का वाचक कहा जाता है। सूत्र है—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

योगसूत्र १/२८

इस भावना से ध्यान की एकाग्रता आवश्यक है। यह एकाग्रता नादानुसन्धान से सहज ही सिद्ध हो सकती है। नादानुसन्धान की विधि की सांकेतिक सूचना आलेख के प्रारम्भ में की गई है। इसका विस्तार नादबिन्दूपनिषद् तथा इसी प्रकार के योगविज्ञानप्रधान अनेक उपनिषदों में प्राप्त होता है। लययोग के अङ्ग नाद और बिन्दु के रहस्यसिद्धान्त का विवेचन ही प्रस्तुत लेख का प्रधान विषय है, उसी को स्पष्ट करने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है।

जिस प्रकार वटवृक्ष के एक अल्प बीज में वट का एक महावृक्ष प्रकट हो जाता है उसी प्रकार मनोबिन्दुरूपी सृष्टिगर्भ में से अन्न और अन्नाद

(The food and the enjoyer of the food) रूप में चित्र-विचित्र नामरूपात्मक स्वरूपों में विश्व की उत्पत्ति हुई। वचन है—

वटधानाद्यथा वृक्षो महान् संजायते तथा ।
मनोबिन्द्वात्मकात् सृष्टिबीजगर्भात् स्वभावतः ।।
अन्नान्नादस्वभावेन जगदेतच्चराचरम् ।
अभूदव्यक्तरूपेण नानाचित्रविचित्रकम् ।।
स्थूलशब्दः समाकृष्य ततस्तमतिविस्तृतम् ।
स्वात्मन्यन्तर्ददे सम्यक् सृष्टिबीजेन संयुतम् ।
सूक्ष्माकाराज्जगद्रूपं स्वात्मन्येव ततः स्वयम् ।
सृष्ट्वा पुनस्तत्सम्बन्धे सुखदुःखान् प्रभुञ्जति ।।
ततोऽतिस्थूलशब्दस्तच्छब्दद्वयं तथैव हि ।
तन्निष्ठजगदाकारं चाकृष्य स्वीयचेतसा ।।
स्वात्मन्येवोपसंहृत्य ज्योतिरूपे यथाक्रमम् ।
प्राणबिन्दुर्ज्योतिमध्ये स्वयं संलीयते ततः ।।
तत्र स्थितचिदाभासः प्राणबिन्दुस्वभावतः ।
विहाय स्वावरणवृत्त्या युक्तः परमात्मनः ।।
कूटस्थस्य प्रकाशानन्दसुखं स्वस्वरूपकम् ।
परप्रणवमारुह्य प्रविशत्यतिवेगतः ।।
तथापि वृत्त्युपाधित्वात्स्वानन्दस्फूर्तियाचकम् ।
लभते पूर्वानुभूत्या स्वस्वरूपं न विन्दति ।।
पुनस्तत्प्राणबिन्दुस्थशब्दसञ्चलनं यदा ।
प्राणिकर्मविपाकेन भवेत्पश्चात्स्वभावतः ।।
तदा शब्दः स्वांशुरूपवृत्तिं समपकर्षति ।
चिदाभासयुता वृत्तिः पुनः शब्दं प्रविश्यति ।।
तच्छब्दस्तच्चिदाभाससान्निध्यादेव केवलम् ।
स्थूलातिस्थूलसूक्ष्मस्वभावं व्रजति पूर्ववत् ।।

प्रस्थानत्रय, मधुसूदनसरस्वतीकृत

अभिप्राय यह है कि इस मनोबिन्दु अथवा सृष्टिबीजगर्भ को स्थूल शब्द या प्राणबीज अपनी शक्ति से अपने में आकर्षण कर उसी में तद्रूप होकर स्वयं ही पुनः स्वयंकल्पित सृष्टि के उपभोग द्वारा तत्सम्बन्धजन्य सुख-दुःखादि का अनुभव करने लगा।

अत्यन्त स्थूल शब्द अथवा अहंबिन्दु सूक्ष्म शब्दजनित और स्थूल शब्द में प्रत्युत्पन्न इस प्रकार दोनों ही प्रकार की सृष्टि के साथ सूक्ष्म और स्थूल शब्दबीजों को अपने तेज से अपने में आकर्षण करके प्राणबिन्दुज्योति में संलीन होकर उपभोग करने लगा।

प्राणबिन्दु को अपनी वृत्ति के साथ इस प्रकार उपभोग करता हुआ उसमें विराजमान जीवात्मा (चिदाभास The reflection of th pure consciousness thercin) परप्रणव के आश्रय से पूर्वानुभव के द्वारा ब्रह्मसंस्पर्श का अनुभव करने जाता है, परन्तु वृत्ति के आवरण के कारणस्वरूप सत्य का भान उसे नहीं होता।

पूर्वजन्म के कर्मों का परिपाक पूर्ण हो जाने पर प्राणबिन्दु में रहने वाले स्थूल शब्द में क्षोभ उत्पन्न होता है। अर्थात् वह अपने अंशरूप वृत्ति का सञ्चालन कर उसको अपने में संकर्षण कर लेता है। इस प्रकार चिदाभास के साथ वर्तमान वृत्ति पुनः शब्द में प्रवेश करती है। चिदाभास के सान्निध्यमात्र से वह शब्द स्थूल में से अतिस्थूल और उसमें से सूक्ष्म स्वभाव को पूर्ववत् प्राप्त होता है। यही उन्मनी अवस्था का मार्ग है। यही जीवात्मा के मोक्ष (स्वरूपस्थिति) का क्रम है। लययोग का यही रहस्य है।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार विवृच्छक्ति निर्विकार परमात्मा में अपर प्रणव अथवा अपरा प्रकृति द्वारा विकार की कल्पना उपस्थित करती है। अपर प्रणव का कार्य क्या है? इसे अच्छी तरह समझकर उसमें से चित्तवृत्ति को प्रत्यावर्तित कर परप्रणव में लगाया जाय, यही लययोगी का प्रथम कर्तव्य है। लययोगी भली-भाँति समझता है कि परप्रणवांशरूप हिरणमय पुरुष की अर्थात् परब्रह्म की परा प्रकृति अपर प्रणवाकार वर्णशब्द को अपने में आकर्षित कर अपना एक तेजोमण्डल निर्माण करती है। सूक्ष्म, स्थूल और अत्यन्त स्थूल बीजगर्भमय इस तेजोमण्डल के आदित्यमण्डल, हिरण्यगर्भ, त्रयीमण्डल, सूर्यमण्डल ये नाम शास्त्रों और उपासकों में प्रसिद्ध हैं।

इस मण्डल का आदिभाग अकारांश है, वह अग्निस्वरूप है। यही मनोबिन्दु है। मध्यभाग उकारांश है, वह वायुस्वरूप है और वही प्राणबिन्दु कहलाता है। अन्त्यभाग मकारांश है, वह आकाशरूप है और अहंबिन्दु नाम से पुकारा जाता है। **भूर्भुवःस्वः** ये तीन व्याहृतियाँ उसी के तीन प्रकारान्तर नाम हैं। त्रयीविद्या में प्रणवस्वरूपी इसी आदित्यमण्डल का ध्यान करने के लिये कहा गया है।

हिरण्यगर्भ की ईक्षणशक्ति से तीन सौ पचास कोटि शक्तियों से युक्त वर्णगर्भ बंधता है और उसमें रहने वाली गुप्त शक्ति के द्वारा वर्णमातृका का जन्म होता है। मातृका के प्रत्येक वर्ण में सृष्टि-स्थिति-लयकारक सर्वतोमुखी सप्त कोटि शक्तियाँ रहती हैं, उनके द्वारा वाणी और अर्थ का सन्दर्भ सुरक्षित होता है। मातृका के वर्ण परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी द्वारा वर्णमातृका के वाहन के ऊपर मनोबीज का विस्तार करते हैं और सृष्टिक्रम का प्रारम्भ होता है। वर्ण अपनी शक्ति के प्रभाव से प्रकृति और प्रत्ययरूप में विभिन्न रूप धारण करते हैं।

प्रकृति का अर्थ है विवृत चित्स्वभाव (Menifested consciousness) और प्रत्यय है प्रकृति के भाव को प्रकट करने वाली वस्तु। इस प्रकार वर्ण और वर्ण में रहने वाली शक्ति के द्वारा नामरूपात्मक सृष्टि की रचना होती है। रज्जू में जैसे सर्प की भ्रान्ति होती है उसी प्रकार यह चराचर जगत् भासमान होता है। प्रणव में रहने वाली वर्णशक्ति के द्वारा निर्गुण, निर्मल, नित्य, चिदानन्दमय परमात्मा के केवल अध्यारोप के द्वारा नामरूपात्मक जगत् की कल्पना होती है। इस अध्यारोप का होना अपर प्रणव का कार्य है। अध्यारोप ही सृष्टिक्रम है। मनोबीज के साथ वर्तमान वर्णविस्तार को खींचकर होते हुए अध्यारोप को रोकना संहारक्रम है।

अध्यारोप होना अपरप्रणव अथवा अपरा प्रकृति का कार्य है। अपरप्रणव की इस लीला को माया, अविद्या अथवा मूलप्रकृति के नाम से तत्त्ववेत्ता जानते हैं। अपरप्रणव में से चित्तवृत्ति को क्रमशः खींचने का नाम संहारक्रम है। यह सचाचर जगत् स्वकल्पित है। इस कल्पना में से वृत्ति को वापस लौटाना और यह सब परप्रणव प्रकाशरूप है, ऐसा विचार कर मातृकोपसंहारपूर्वक एकाग्रता साधन कर वृत्ति को ध्यानस्थ करना और इन

क्रियाओं के साथ दाहिने कान में सुनाई देने वाले नाद को साधन बना उसे सुनते-सुनते क्रमशः उसमें विलीन होकर—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

योगसूत्र १/३

अपने स्वरूप में स्थित होना ही लययोग का परम रहस्य है। लययोग का मार्ग हठयोग की अपेक्षा सहज और भयरहित है। नादबिन्दु, अमृतबिन्दु (ब्रह्मबिन्दु) ध्यानबिन्दु, तेजोबिन्दु आदि वैष्णव, शैव और शाक्त मतानुयायी अनेक उपनिषदों में इस योग का महत्त्व दिखलाया गया है। सब का सार यह है कि मनोबिन्दु, प्राणबिन्दु, अहंबिन्दु प्रभृति बिन्दुमात्र का और बिन्दु के बीजकरूप सूक्ष्म, स्थूल और अतिस्थूल शब्दमात्र का स्वस्वरूपावसानपूर्वक संहार कर अर्थात् नादमय समस्त भूमिकाओं का त्यागकर स्वरूप में स्थिति कर उसी में लीन हो जाना लययोग अर्थात् नाद और बिन्दु का रहस्य है। तभी साधक अपनी महिमा में स्वयं स्थित होकर स्वयं प्रकाशित होता है। कहा गया है—

स्वे महिम्नि स्वयं स्थित्वा स्वयमेव प्रकाशते ।

मैत्रायण्युपनिषद् ६/२८

●

नादानुसन्धान

योग कहते हैं चित्त की वृत्तियों के निरोध को। इस निरोध की स्पष्टता कठोपनिषद् के अधोलिखित मन्त्रों में कही है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।।

कठोपनिषद् २/३/१०-११

अभिप्राय यह है कि जिस काल में सविकल्प समाधि के साधन से, निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है, मन दृश्य का चिन्तन त्यागकर वृत्तिरहित हो जाता है, उस काल में साधक स्वयं पूर्णरूप हो जाता है। अर्थात् **'उपाधिविलयात् विष्णोः'** के अनुसार अज्ञान की कार्यरूप वृत्ति ब्रह्म में लीन हो जाती है और साधक ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। स्वरूपतः जीव-ब्रह्म में अभेद है, परन्तु उपाधिकृत भेद है। योगाभ्यास के बल से उस उपाधि का लय कर लेने पर जीवात्मा ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। यही तथ्य दक्षिणामूर्ति जी ने वेदान्तडिण्डिम में कहा है—

न जीवब्रह्मणोर्भेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते स्फूर्तिभेदेन न मानं स्यादिति ।
न जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रियरूपेण विद्यते प्रियभेदेन न मानं स्यादिति ।

वेदान्तडिण्डिम ६२,६३

अभिप्राय यह है कि जीव-ब्रह्म का स्फुरणरूपी वृत्ति से भेद है, स्वरूप से भेद नहीं। चेतन में अविद्या की जो उपाधि, जगत् की सत्यता, स्वरूप का विस्मरण तथा दृश्य में आसक्ति है, यही जीवदशा है। आचार्य शङ्कर ने स्वरचित योगतारावली ग्रन्थ में मन के लय का सर्वोत्तम साधन नादानुसन्धान को अधोलिखित श्लोकों द्वारा बताया है—

सदा शिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके ।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ।।
नादानुसन्धान ! नमोस्तु तुभ्यं त्वां साधनं तत्त्वपदस्य ज्ञाने ।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं विलीयते विष्णुपदे मनो मे ।।
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ।।

योगतारावली २,४,६

अभिप्राय यह है कि योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् शिव जी ने मन के लय होने के सवा लक्ष (सपादलक्ष) साधन बतलाये हैं। उन सबमें नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसन्धान! आपको नमस्कार है। आप परम पद में स्थित कराते हैं। आपके ही प्रसाद से मेरा प्राणवायु और मन ये दोनों विष्णु के परम पद में लय हो जायेंगे। योगसाम्राज्य में स्थित होने की इच्छा हो तो समस्त चिन्ताओं का त्यागकर सावधान हो एकाग्रमन से अनहतनाद को सुनो।

शुक योगेन्द्र के शिष्य श्री चरणदास ने भी अनहतनाद की महिमा गाई है—

अनहत के सम और ना फल बरन्यो नहिं जाय ।
पटतर कछु न दे सकूं सब कुछ है वा भाँय ।।
पाँव थके आनन्द बढ़े अरु मन ही बस होय ।
शुकदेव कही चरनदास से आप अपन जाय खोय ।।
नाडिन में सुषुम्ना बड़ी सो अनहत की मात ।
कुम्भक में केवल बड़ा वह वाहीका तता ।।
मुद्रा बड़ी जो खेचरी बाकी बहिनी जान ।
अनहत सा बाजा नहीं और न या सम ध्यान ।।
सेवक से स्वामी होवे सुने जो अनहत नाद ।
जीव ब्रह्म होय जाय है पावे अपनी आद ।।
खिड़की खोली नाद की मिला ब्रह्म में जाय ।
दसों नाद के लाभ की महिमा कही न जाय ।।

शिवसंहिता में भी मन को लय करने में उत्तमोत्तम साधन नाद ही कहा है। जैसे—

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भसमं बलम् ।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ।।

अभिप्राय यह है कि सिद्धासन के तुल्य कोई लाभदायक आसन नहीं है। केवल कुम्भक के तुल्य कोई बल नहीं है। खेचरी मुद्रासदृश कोई उपयोगी मुद्रा नहीं है। मन को लय करने वाले साधनों में अनहतनादसदृश कोई अन्य साधन नहीं है। मन को लय करने के अनेक साधन हैं, परन्तु उनमें नादानुसन्धान ही उत्तमोत्तम है।

'अनहत' नाद के प्रकट करने का गुप्त साधन

प्रत्येक मनुष्य की काया में लगभग साढ़े तीन कोटि रोम हैं। जब साधक साढ़े तीन कोटि परमात्मा के नाम का जप सद्‌गुरुमार्ग से कर लेता है तब अनहतनाद प्रकट हो जाता है। यह तो जिनकी वायु की प्रकृति हो, उनके लिये है। जिनकी पित्त प्रकृति होती है, उनकी तो नाडियाँ शीघ्र शुद्ध होने से सद्‌गुरुमार्ग से सवा कोटि जप करने से ही नाद प्रकट हो जाता है। नाद दश प्रकार का है। अभ्यास करते-करते जब दशम नाद, जो मेघगर्जन के तुल्य है, प्रकट होता है, तब नौ नादों को जोड़कर दसवाँ नाद ही सुनते रहना चाहिए। दसवें नाद की पक्वावस्था में प्राणवायु और मन दोनों ही लय हो जाते हैं। मन-पवन का लय होने पर ब्रह्मपद ही शेष रह जाता है। ब्रह्मनाडी जो सुषुम्ना है, उसके भीतर प्राणवायु का प्रवेश होने पर नाद का प्रकट होना आरम्भ होता है। शनैः-शनैः अनहत को सुरत के बल से दक्षिण कर्ण से सुनते रहना चाहिए। अभ्यास की पक्वावस्था में कुण्डलिनी शक्ति जागरित होकर ब्रह्मज्ञान कराती है।

अन्त में कुण्डलिनी शक्ति भी ब्रह्म में लय हो जाती है। जीवदशा नष्ट होकर ब्रह्मपद प्राप्त होता है। जागरित कुण्डलिनी ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि को भेद करके अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाती है। जब तक कुण्डलिनी शक्ति जागरित नहीं होती तब तक मनुष्यों का ज्ञान भ्रमात्मक और संशययुक्त ही रहता है। चतुर साधकों को चाहिए कि योगानुभवी सद्‌गुरु की शरण लेकर कुण्डलिनी जागरित करे। ऐसा होने पर ब्रह्म का सम्यग् ज्ञान

करामलकवत् होकर मुक्ति दिलाता है। इस अवस्था में दृश्यरूपी भ्रम दृश्य के देखते रहने पर भी दुःखदायी नहीं रहता है।

त्रिबन्ध—अग्रिम प्रतिपादित हठयोग के साधन अत्यधिक लाभदायक हैं। इन साधनों से शरीर की नीरोगता, भजन की निर्विघ्नता, प्राणापान की समता, बिन्दुजय इत्यादि अनेक लाभ होते हैं। हठयोग के चौरासी आसनों में सिद्धासन और पद्मासन प्रमुख हैं। सिद्धासन की पक्वावस्था में अपान प्राण में मिल जाता है, योनि के पीडन से अग्नि दीप्त होती है, स्वप्नदोष की निवृत्ति होती है। इस पद्धति से बन्धजय होता है। सिद्धासन के समय मूलबन्ध और खेचरी मुद्रा करने से अपानवायु प्राणवायु में मिल जाता है। बद्ध पद्मासन से समस्त रोगों का विनाश और बहत्तर हजार नाडियों का मलशोधन होता है। प्राणायाम और बन्धत्रय का फल है—

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः ।।

योगचूडामण्युपनिषद् ११६

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहरेण विषयान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ।।

योगोपनिषद् १५

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ।।

मनुस्मृति ६/७१

न बहिः प्राण आयाति देहस्य मरणं कुतः ।
केवले कुम्भके सिद्धे किं न सिद्ध्यति भूतले ।।

योगशिखोपनिषद् १/१६२

अभिप्राय यह है कि गुरुगम्य प्राणायाम करने से सब रोग नष्ट हो जाते हैं। दूसरी ओर अमर्यादित प्राणायाम से रोगवृद्धि की सम्भावना बनी रहती है। प्राणायाम का सम्यक् अभ्यास होने से और वात-पित्त-कफ समभाव में रहने से शरीर नीरोग रहता है। कुम्भक प्राणायाम की अवस्था में मन मल रहित हो जाता है। धारणा से पापों का नाश होता है। प्रत्याहार से इन्द्रियों

का जो विषयों से संसर्ग है, वह निवृत्त हो जाता है। ध्यान से परमात्मा का ज्ञान होता है। समाधि से साधक निर्लिप्त केवलीभावरूप मुक्ति को प्राप्त करता है। जैसे अग्नि में तप्त सुवर्ण मलरहित होकर शुद्ध हो जाता है, वैसे ही प्राणायामरूपी वायुनिरोध से इन्द्रियाँ प्रमादरूप अवगुण छोड़कर शुद्ध हो जाती हैं। जिस योगी का प्राण बहिर्गमन ही नहीं करता, उसकी मृत्यु कैसी? जिस योगी का केवलकुम्भक प्राणायाम सिद्ध हो गया उसको कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

मराठी भाषा के योगग्रन्थ में एकनाथ ने लिखा है—

प्राणवायूचें धारण तेंचि स्वच्छन्द मृत्यूचें लक्षण ।

अभिप्राय यह है कि जिस योगी ने प्राणवायु को अपने वश में करके केवलकुम्भक को प्रतिष्ठित कर लिया है, उसकी इच्छामृत्यु होती है। जैसे भीष्म पितामह ने अपनी काया को दक्षिणायन में न त्यागकर स्वेच्छानुसार उत्तरायण में त्याग किया। यह प्राणविद्या की महिमा है। जहाँ तक प्राणवायु कुम्भक से निरुद्ध है, वहाँ तक मन भी वृत्तिरहित है और दृष्टि भी भ्रकुटी में अचल है। ऐसी अवस्था में काल का भय नहीं है।

स्वामी चरणदास ने प्राणवायु की महिमा बतलाते हुए लिखा है—

प्राणायाम बड़ा तप भाई । प्राणायाम सम बल नहीं कोई ।।
प्राणवायुकूँ यह बस लावे । मनकूँ निश्चल कर ठहरावे ।।
आयुर्दाको यही बढ़ावे । तन में रोग रहन नहीं पावे ।।
मोक्षमार्ग को यह पहुँचावे । चरनदास शुकदेव सुनावे ।।

प्राणायाम का अभ्यास करते समय पूरक में मूलबन्ध, कुम्भक में जालन्धरबन्ध और रेचक में उड्डियानबन्ध करना चाहिए। गुरु की छत्रच्छाया में ही इनका अभ्यास करना चाहिए। पुस्तकीय ज्ञान को अभ्यास का आधार बनाना हानिकर रहता है। 'बन्ध' का लाभ बतलाते हुए योगचूडामण्युपनिषद् में कहा है—

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ।।

योगचूडामण्युपनिषद् ४७

मूलबन्ध और खेचरी मुद्रा के अभ्यास से अपान प्राण में विलीन हो अग्नि की दीप्ति से मल-मूत्र अल्प हो जाता है। मूलबन्ध के सतत् अभ्यास से वृद्ध साधक भी युवा हो जाता है। जिस साधक ने मूलबन्ध पक्व कर लिया है, उसके समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं और जैसे पञ्चमुख महादेव अजरामर हैं, वैसे ही केवलकुम्भक सिद्धिप्राप्त योगी भी हो जाता है। जालन्धरबन्ध का फल है—

कण्ठं संकोचयेत् किञ्चिद्बन्धो जालन्धरो ह्ययम् ।
बन्धयेत्खेचरीमुद्रां दृढचित्तः समाहितः ।।

योगशिखोपनिषद् ५/३९

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत् ।
जालन्धरकृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम् ।।

अभिप्राय यह है कि जालन्धरबन्ध में चिबुक (ठोढी) को नीचे झुकाकर हृदय के चार अङ्गुल ऊपर स्थित करे। इससे सोलह आधारों का बन्धन होता है।

इसी भाँति उड्डीयानबन्ध भी लाभकारी है। ध्यानबिन्दूपनिषद् में कहा है—

उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते ।
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।।
उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्यु मातङ्गकेसरी ।
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम् ।।

ध्यानबिन्दूपनिषद् ७६-७७

फलितार्थ यह है कि रेचक के समय नाभि पीछे खींचकर मेरुदण्ड से संयुक्त करे, इससे वायु सुषुम्ना में प्रवेश करेगा और अन्त में अभ्यास करते-करते ब्रह्मरन्ध्र में वायु का लय हो जायेगा।

इस प्रकार नादानुसन्धान उपनिषद्वाङ्मय का महनीय विषय है।

●

पातिव्रतयोग : एक परिशीलन

अनादि संसृतिपारावार में मायानिर्मित सुख-दुःख-मोहात्मक प्रपञ्च के बन्धन से परवश हुआ जीव तब तक स्वतन्त्र और अनन्त सुखी कदापि नहीं हो सकता, जब तक कि वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डाधीश्वर, निराकार, निर्विकार परब्रह्म का साक्षात्कार न कर ले। उसके साक्षात्कार के लिये यज्ञ, तपस्या, दान, यम, नियम, स्वाध्यायादि अनेक उपायों में योग एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है। धर्मशास्त्र के उपदेशक शिरोमणि योगिराज याज्ञवल्क्य ने आत्मसाक्षात्कार करने के लिये अनेकानेक धर्मों का निरूपण करते हुए योगमार्ग द्वारा आत्मसाक्षात्कार करने को परम धर्म बतलाकर योग की सर्वश्रेष्ठता प्रदर्शित की है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।

याज्ञवल्क्यस्मृति १/८ उत्तरार्द्ध, उपोद्घातप्रकरण

तत्-तद् अधिकारियों की तत्तद् भावना के अनुसार वेदशास्त्रों में योग के नाना प्रकार के भेद वर्णित हैं। अत एव प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने वर्ण, आश्रम तथा भावनानुकूल अधिकारों के अनुसार योग का आश्रय लेकर उस परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

स्त्रियों के लिये इसी परम पद को प्राप्त करने का एकमात्र साधन पातिव्रतयोग है। वस्तुतस्तु 'पातिव्रत' योग का अपर पर्याय है। विचार करने पर यह विदित होता है कि योग और पातिव्रत में तथा उनकी साधनप्रणाली में किञ्चित् भी अन्तर नहीं है। क्योंकि—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

योगसूत्र १/२

पतञ्जलि के उक्त सूत्र के अनुसार चित्त की चञ्चल वृत्तियों को असन्मार्ग (विषयों) से प्रत्यावर्तित करके भगवान् (अभिमत ध्यान) की किसी सगुण या निर्गुण मूर्ति में उसे स्थिर करना ही 'योग' है। तब क्या

चित्तवृत्तिसहित बहिर्मुख इन्द्रियों को असन्मार्ग से पराङ्मुख करके अपने पतिदेव में ही स्थिर करना यह स्त्रियों का 'पातिव्रतयोग' नहीं है?

जिस तरह यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि द्वारा चित्त को भगवत्परतन्त्र रखना ही पुरुषों के योग का साधन कहा गया है। उसी तरह पति के ही निमित्त अपनी सब कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाएँ करते हुए सर्वथा पति के परतन्त्र रहना ही स्त्रियों के 'पातिव्रतयोग' का परम साधन बतलाया गया है। मनुस्मृतिकार का वचन है—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् प्राणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते...................... ।।

मनुस्मृति ५/१४८

यही कारण है कि पातिव्रतयोग की परिपक्वता में बाधास्वरूप स्त्रीस्वातन्त्र्य का मनुस्मृतिकार ने निषेध किया है—

न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ।

मनुस्मृति ५/१४८ उत्तरार्द्ध

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता ।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेष्वपि ।।

मनुस्मृति ५/१४७

पुरुषों के लिये साकार और निराकार भेद से दो तरह की ईश्वरीय उपासना कही गई है, किन्तु स्त्रियों के लिये स्वतन्त्र रीति से इस उपासना की आज्ञा न देकर केवल एक पातिव्रतरूप सगुणोपासना ही वेदशास्त्रों में वर्णित है। यद्यपि गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषी स्त्रियों ने भी ज्ञानमार्ग द्वारा निर्गुण ब्रह्म की और गोपियाँ, मीराबाई प्रभृति स्त्रियों ने भक्तिमार्ग का अवलम्बन करके सगुण ब्रह्म की उपासना करके पुरुषों की तरह स्वतन्त्र रीति से आत्मसाक्षात्कार किया। परन्तु ये सब ज्ञानाधिकार और भक्त्यधिकार असाधारण कोटि के हैं। गार्गी, मैत्रेयी, गोपीजन, मीरा प्रभृति स्त्रियाँ साधारण कोटि की नहीं रहीं, जिन्होंने किसी कारणवश ही स्त्रीशरीर-ग्रहण किया था। अत: उनके लिये ही यह असाधारण धर्म सम्भव था, स्त्रीजातिमात्र के लिये नहीं। इस दृष्टि से गार्गी, मैत्रेयी प्रभृति स्त्रियाँ स्त्रीजाति की आदर्श नहीं हो सकतीं। स्त्रियों की

आदर्श अनसूया, सीता, सावित्री, गान्धारी हैं, जिन्होंने अपने पति-परमेश्वर को ही स्वात्मसमर्पण करके, उपास्य-उपासक-भाव से जीवनपर्यन्त उन्हीं की सेवा में रह कर अप्रतिहत शक्ति को पाकर उस परमपद को प्राप्त किया।

यह सर्वथा निर्विवाद है कि अष्टाङ्गयोग के सिद्ध होने से बहुकाल से पुरुष को जो शक्ति प्राप्त होती है, उसी शक्ति को स्त्री अपने पातिव्रतयोग से अल्पकाल में सहज ही प्राप्त कर लेती है। इस पातिव्रतयोग की शक्ति का दिग्दर्शन संक्षेप में कराया जा सकता है—

पातिव्रतयोगपरायणा गान्धारी

जब महाभारत के युद्ध में धृतराष्ट्र के पुत्रों में केवल एक दुर्योधन के शेष रह जाने पर महाबली भीमसेन ने दुर्योधन का वध करने की भी दृढ प्रतिज्ञा कर ली तब दुर्योधन अपनी जीवन-आशा से निराश होकर अपनी माता के अन्तिम दर्शन करके रुदन करने लगा। तब पतिव्रताशिरोमणि माता गान्धारी ने उसके अमर होने का उपाय उसे सूचित कराने के लिये धर्मराज युधिष्ठिर के समीप भेजा तो धर्मराज युधिष्ठिर ने उसे यही उपदेश किया कि हे भाई! तू सर्वाङ्ग नग्न होकर अपनी माता के अभिमुख जा और यदि वह तुझे एक बार अपनी दृष्टि से देख ले तो तुझे ऐसे सहस्र भीमसेन भी क्षति नहीं पहुँचा सकते।

धर्मराज युधिष्ठिर के इस उपदेश के अनुसार जब दुर्योधन निर्वस्त्र होकर माता गान्धारी के पास जाने लगा तब पाण्डवप्राण श्रीकृष्ण ने अपने किये हुए कार्य को निष्फल समझकर उसको अपनी योगमाया से समझाकर, पर्णसमूह से आवृत कर (लंगोटी-लगाकर) गान्धारी के समीप भेजा। माता गान्धारी ने पूछा कि पुत्र! धर्मराज युधिष्ठिर ने तुम्हें जैसा उपदेश किया, क्या तुम ठीक उसी प्रकार यहाँ आये हो? भगवन्मायावञ्चित दुर्योधन के मुख से निकल पड़ा कि हों ठीक वैसे ही आया हूँ। तब माता ने अपने नेत्रों की पट्टी निर्बन्ध कर जब उसे देखा तो दुर्योधन को प्रवञ्चित समझकर अपनी पातिव्रतशक्ति से सम्पूर्ण अन्तर्कथा जानकर कहा कि—

मार्गे त्वया सम्मिलितोऽधुना किं, कृष्णः किमूचे वचनं वदस्व ।

महाभारत

अर्थात् हे पुत्र! मार्ग में क्या तुम्हें श्रीकृष्ण मिले? और उन्होंने तुमसे क्या कहा, वह कहो।

नेत्रों पर पट्टी बंधी रखने वाली माता की इस प्रकार की अद्भुत ज्ञानशक्ति को देखकर जब दुर्योधन ने इस शक्ति की प्राप्ति का कारण पूछा तो पतिव्रता मातृशक्ति गान्धारी ने कहा—

योगेन शक्तिः प्रभवेन्नराणां पातिव्रतेनापि कुलाङ्गनाम् ।

महाभारत

अर्थात् पुरुषों को योग से शक्ति प्राप्त होती है और कुलाङ्गनाओं को अपने 'पातिव्रत' से। ओह! कैसा पातिव्रतयोग कि गान्धारी ने तत्काल अतीव कुपित होकर उस परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण को भी शाप दे दिया—

कृष्ण ! त्वया मे निहताश्च पुत्रा, नश्यन्तु ते यादवयूथसंघाः ।

महाभारत

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! तुमने मेरे पुत्रों का नाश किया, अत: इसी तरह तुम्हारे यादवगण भी सब नष्ट हो जाएं।

क्या स्त्री के पातिव्रत की यह शक्ति पुरुष के उस अष्टाङ्गयोगशक्ति से कुछ कम है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि-स्थिति-संहार करने वाले कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् समर्थ श्रीकृष्ण भी—

अन्यास्तु शापं पतिदेवताया न चान्यथाकर्तुमधीश्वरोऽभूत् ।

महाभारत

इस पतिव्रता गान्धारी के शाप को अन्यथा करने के लिये समर्थ न हो सके।

भोज की दृष्टि में पातिव्रतयोग

चक्रवर्ती महाराजा भोज एक दिन प्रजाजन की स्थिति का आकलन करने के लिये नगर में रात्रिकाल परिभ्रमण कर रहे थे। तब उन्होंने एक उन्मुक्त गवाक्ष से किसी गृह के अन्दर का दृश्य इस प्रकार देखा कि एक स्त्री अपने क्लान्त पतिभगवान् की पादसेवा कर रही है और पति उसके घुटनों पर निद्रा में निमग्न हो गया। उसी कक्ष के अपर छोर में एक शिशु भी शयन कर रहा था और कक्ष के मध्यभाग में स्थित अग्निकुण्ड में ज्वालाएँ उठ रही थीं। उसी

समय निद्राभङ्ग से उत्थित शिशु रुदन करता हुआ अग्निकुण्ड की ओर आने लगा। माता यह सब देख रही थी, किन्तु उसने अपने घुटने पर शयन करते हुए पतिदेव को जगाने से अपने पातिव्रत के नियम में बाधा समझकर, पुत्र की प्राणरक्षा न कर उसकी उपेक्षा ही कर दी। परिणाम सामने ही था कि अबोध शिशु दधकती ज्वाला में गिर पड़ा।

इधर महाराजा भोज निश्चय ही कर चुके थे कि शिशु अवश्य भस्म हो जायेगा, किन्तु उस पतिव्रता के शाप से भयभीत हुआ अग्नि चन्दनपङ्क की भाँति शीतल बन गया। उस पतिव्रता स्त्री के पातिव्रतयोग की अतर्क्य सिद्धि (शक्ति) से चकित होकर कविराज भोज ने—

हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः ।

ऐसा श्लोक का चतुर्थ चरण बनाकर शेष तीन पदों की पूर्ति के लिये कविचक्रवर्ती कालिदास को आज्ञा दी। कालिदास ने अपनी अलौकिक बुद्धि द्वारा उसी घटना के अनुरूप समस्यापूर्ति कर दी। सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार रहा—

सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके, न बोधयामास पतिं पतिव्रता ।
पतिव्रताशापभयेन पीडिता, हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः ।।

ओह! क्या स्त्रियों का पातिव्रतयोग पुरुषों के उस अष्टाङ्गयोग से कम है?

मनु की दृष्टि में पातिव्रतयोग

आचार्य मनु पातिव्रतयोग की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ।।

मनुस्मृति ५/१५५

अभिप्राय यह है कि स्त्रियों के लिये पृथक् यज्ञ-व्रत-उपवास नहीं है। केवल एक पति की सेवा करने से वे परम पद को प्राप्त होकर देवताओं द्वारा पूजित होती हैं।

अहो ! इसी एक सहज उपाय से स्त्री ने इस 'पातिव्रतयोग' को प्राप्त

कर लिया, फिर उसके लिये कौन सा कर्तव्य शेष रह जाता है? वह तो फिर अपने मनुष्यभाव को ही त्यागकर, देवभाव को प्राप्त होकर जगत्पूज्या लक्ष्मी बन जाती है। तभी शास्त्रों में उसकी स्तुति की गई है—

यस्य भार्या शुचिर्दक्षा भर्तारमनुगामिनी ।

नित्यं मधुरवक्त्री च सा रमा न रमा रमा ।

रामायण की दृष्टि में पातिव्रतयोग

इस पातिव्रतयोग की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है—जिसके प्रताप से इस भारतवर्ष में ऐसे वीरपुत्र उत्पन्न हुए जिनके मन इन लौकिक विषयों से मुग्ध न होकर अपने लक्ष्य से किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं हो सकते थे।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने एक समय अनुज लक्ष्मण के ब्रह्मचर्य की परीक्षा के लिये उनसे प्रश्न किया—

पुष्पं दृष्ट्वा फलं दृष्ट्वा दृष्ट्वा यौषितयौवनम् ।

त्रीणि रत्नानि दृष्ट्वैव कस्य नोच्चलते मनः ।।

वाल्मीकिरामायण, सुन्दरकाण्ड ३६/४५

हे लक्ष्मण ! सुन्दर पुष्प, फल और स्त्री का यौवन—इन तीन रत्नों को देखकर किसका मन विचलित नहीं होता? क्या नीतिपरक यह वचन मिथ्या हो सकता है, जो तुम अपने को अखण्ड ब्रह्मचारी समझ रहे हो? वीर लक्ष्मण ने तत्काल इसका उत्तर देते हुए कहा—

पिता यस्य शुचिर्भूतो माता यस्य पतिव्रता ।

ताभ्यां यः सूनुरुत्पन्नस्तस्य नोच्चलते मनः ।।

वाल्मीकिरामायण

अभिप्राय यह है कि जिसके पिता पवित्र आचरण वाले और माता पतिव्रता हो, उनके रज-वीर्य से उत्पन्न पुत्र का मन चलायमान नहीं हो सकता।

यही योग और पातिव्रतयोग तो इस भारतवर्ष की अलौकिक सम्पत्ति है, जिनके प्रताप से यहाँ के स्त्री-पुरुषों ने क्षणभङ्गुर, सांसारिक आधिभौतिक

विषयों का उपयोग न करके आध्यात्मिक विषयों की ही गवेषणा में अपना तन, मन, धन समर्पण करके उस अखण्ड पद पर पहुँच कर **'दिवौकसां मूर्धनि तैः कृतं पदम्'** उस देवपद को भी तिलाञ्जलि दे दी।

श्रीमद्भागवत की दृष्टि में पातिव्रतयोग

धन्य है भारतभूमि, जिसमें जन्म लेने वाले स्त्री-पुरुष पातिव्रतयोग एवं योग को ही अपनी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति समझकर उसके द्वारा इस मनुष्यदेह को सफल करके इस भूमि को इतना पवित्र कर देते हैं कि स्वर्गलोकनिवासी समस्त देवगण भी इस भारतभूमि के लिये मुक्तकण्ठ से स्तोमगान करते हैं—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं, प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ।।

श्रीमद्भागवत ५/१९/२१

अभिप्राय यह है कि धन्य है वह देश! जिसके प्रताप से यहाँ की स्त्रियों के उदर से ऐसे योगिराज उत्पन्न हुए कि जिन्होंने यहाँ की स्त्रियों का नाम वीरजननी रखकर भूमण्डल में यह घोषणा की है—

नारी नारी मत कहो, नारी नर की खान ।
नारी से सुत उपजे, ध्रुव प्रह्लाद समान ।।

●

द्वितीय पटल : योगविद्या का तुलनात्मक अध्ययन

- भारतीय दर्शनशास्त्र में पातञ्जलयोगदर्शन की प्राचीनता
- योगदर्शन एवं भगवद्गीता
- भगवद्गीता में योग का उल्लेख : एक अनुसन्धानदृष्टि
- वेदान्तदर्शन एवं योगदर्शन की समानता
- योग से ही वेदान्त की उत्पत्ति
- भारतीय प्रस्तरकला और योग
- योगपरम्परा : जीवन मूल्यादर्श : जैनदर्शन एवं योगदर्शन के परिप्रेक्ष्य में
- बुद्ध की योगदृष्टि एवं पतञ्जलि
- साधनाविमर्श : बौद्ध जैनदर्शन के परिपेक्ष्य में
- विज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थ की सत्ता : पातञ्जलयोग के परिप्रेक्ष्य में
- समाधियोग का व्यावहारिक पक्ष एवं भगवान् बुद्ध

भारतीय दर्शनशास्त्र में पातञ्जलयोगदर्शन की प्राचीनता

दर्शनशास्त्र का प्रादुर्भाव कैसे हुए? कब हुआ? और कहाँ हुआ? इत्यादि प्रश्न अनुत्तरित एवं एकान्तवचनीय ही कहे जाते हैं। फिर भी प्रतिष्ठित दार्शनिकों ने इस विषय पर गहन चिन्तन किया है। श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि सद्ग्रन्थों में जो-जो आध्यात्मिक विचार विद्यमान हैं, उन्हीं सदुपदेशों की मीमांसा दर्शनशास्त्रों में समीचीनतया सङ्गृहीत है। दर्शनशास्त्रों के विशेष महत्त्व का कारण यह है कि उनमें पदार्थविवेचन और अध्यात्मरहस्य साङ्गोपाङ्ग सविस्तर विवर्णित हैं। किञ्च, इन दर्शनशास्त्रों की रचना-चातुरी भी चतुर चित्त को चमत्कृत करने वाली है। जिस प्रमेय की सिद्धि में शतकाधिक ग्रन्थ व्यतीत होते हैं, उसकी सिद्धि में दर्शनशास्त्र का एक अत्यल्प सूत्र समर्थ है। अत: 'गागर में सागर' की उक्ति दर्शनशास्त्र में ही अक्षरश: चरितार्थ होती है।

दर्शनशास्त्र की रचना-शैली

दर्शनशास्त्र का श्रीगणेश **'अथ'** शब्द से और उसकी चरम सीमा **'इति'** शब्द से होती है। परन्तु यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त नहीं है। कई दर्शन ऐसे भी हैं, जिनकी स्वतन्त्रता में **'अथ'** और **'इति'** शब्द बाधा नहीं डाल सकते हैं। किञ्च, अनेक दर्शन ऐसे भी हैं, जिन्होंने **'इति'** शब्द का काम आम्रेडित से अर्थात् द्विरुक्ति से ही सिद्ध कर लिया है।

गद्य-पद्य की अपेक्षा दर्शनशास्त्र की मूर्ति सूत्रावेष्टित है। इन सूत्रों पर न तो कोई कवि ही कटाक्ष कर सकता है और न छन्द:शास्त्र ही उन पर अपने दण्डकों-नियामकों का आक्षेप ही लगा सकता है। अत एव दर्शनशास्त्र का अत्यल्प सूत्र भी सर्वदा स्वतन्त्र स्वच्छन्दरूप से अपनी प्रामाणिकता को सिद्ध करता है।

दर्शनशास्त्र की गणना तथा प्राग्भवीय इतिवृत्त की सत्ता अनुमानप्रमाण

पर आधारित है। किञ्च अनुमान का 'लिङ्ग' तत्त्व भी प्राय: उद्भूतरूप ही होना चाहिए क्योंकि लिङ्गज्ञान अनुमानप्रक्रिया का मेरुदण्ड है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में जिन चार्वाकादि षोडश दर्शनों का संग्रह किया है, उन्हीं में पाणिनिदर्शन भी एक है।

जब हमारी दृष्टि पाणिनि अष्टाध्यायी के अधोलिखित सूत्रों पर पडती है तब उन सूत्रों में शाकल्य, स्फोटायन, भारद्वाज, चाक्रवर्मन, शाकटायन, आपिशलि, गालव तथा भागुरि, इन्द्र, अमर, जैनेन्द्रादि महावैयाकरणों के नाम और उनके व्याकरणसम्बन्धी तत्-तत् सिद्धान्तों का स्पष्टतया उल्लेख मिलता है। कुछ प्रमुख सूत्र इस प्रकार हैं—

लोपः शाकल्यस्य । अष्टाध्यायी ८/३/१९

अवङ्स्फोटायनस्य । अष्टाध्यायी ६/१/१२३

ऋतो भारद्वाजस्य । अष्टाध्यायी ७/२/६३

ई ३ चाक्रवर्मणस्य । अष्टाध्यायी ६/१/१३९

लङः शाकटायनस्यैव । अष्टाध्यायी ३/४/१११

वा सुप्यापिशले । अष्टाध्यायी ६/१/९२

तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य । अष्टाध्यायी ७/१/७४

सांख्यदर्शन में भी महर्षि कपिल ने सूत्र लिखते हुए अनेक प्रमुख सांख्याचार्यों का स्मरण किया है—

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः । सांख्यसूत्र ६/६८

लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः । सांख्यसूत्र ६/६९

यही स्थिति वेदान्तदर्शन की है। वेदान्तसूत्र में दार्शनिक महर्षि योगियों के नाम तथा उनके तत्सम्बन्धी सिद्धान्त विजृम्भमाण दिखलाई पड़ते हैं—

बादरायणः । ब्रह्मसूत्र १/३/२६

बादरिः । ब्रह्मसूत्र १/२/३०

जैमिनिः । ब्रह्मसूत्र १/२/२८

आश्मरथ्यः । ब्रह्मसूत्र १/२/२९

औडुलोमिः । ब्रह्मसूत्र १/४/२१

काशकृत्स्नः । ब्रह्मसूत्र १/४/२२

इससे प्रमाणित होता है कि पाणिनि से पूर्व भी शाकल्यादि विविध दर्शन एक शब्दशास्त्र की ही पुष्टि पर विद्यमान थे। कपिलदेव से पूर्व या तत्समय में ही पञ्चशिख या सनन्दनाचार्यादिकों के दर्शन केवल सांख्यशास्त्र के सम्बन्ध में ही लिखे गये होंगे। इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व (वेदान्ततत्त्व) की गहन सिद्धान्त-मञ्जूषा भी पूर्वोक्त बादरायणादि परम योगियों के संरक्षण में आपूरित हुई होगी। किन्तु उपलब्धता के अभाव में उनकी प्राचीनता पर प्रश्नचिह्न लगता है। अधुना षड्दर्शन ही प्रसिद्ध हैं। इनमें एक पातञ्जलदर्शन है। इसी को योगदर्शन या पातञ्जलसूत्र भी कहते हैं। कुछ चिन्तकों की धारणा है कि कलियुग के प्रारम्भ से पूर्व ही योगशास्त्र विलुप्त हो गया था। यह तथ्य भगवद्गीता में श्रीकृष्ण के वचन से सिद्ध भी होता है—

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।

भगवद्गीता ४/२

पातञ्जलयोगदर्शन की प्राचीनता में इतर दर्शनों के प्रमाण

षड्दर्शनों में कपिल का सांख्यदर्शन प्राचीन माना जाता है, इस विषय की पुष्टि में श्वेताश्वतरोपनिषद् की श्रुति ही शिरोधार्य समझी जाती है—

ऋषिं प्रसूतं कपिलम् ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/२

यह तथ्य महाभारत के वचन से भी पुष्ट होता है—

ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् ।
सांख्यगतं तच्च बृहन्महात्मन् ।।

महाभारत, शान्तिपर्व ३०१/१०९

श्लोक में निहित अभिप्राय यह है कि इस संसार में विविध प्रकार के सम्पूर्ण ज्ञान सांख्य से ही प्राप्त हुए हैं। सांख्यदर्शन का रहस्य है प्रकृति-पुरुष का ज्ञान। अर्थात् पुरुष आत्मा अथवा क्षेत्रज्ञ कर्तृत्वभोक्तृत्वादिगुणव्यतिरिक्त साक्षी चैतन्य चिद्घन है और त्रिगुणात्मिका जडरूपा प्रकृति अर्थात् प्रधान अर्थात् मूलप्रकृति पुरुषसन्निधिमात्र से ही लोहचुम्बकन्याय से चैतन्यता को

प्राप्त होकर महदादिक्रम से चराचर संसार का विसर्ग करती है। पुरुष जब तक प्रकृति के गुणों में बंधा हुआ है, दु:खी है; जब योगानुष्ठान से अपने स्वरूप का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। प्रकृति-पुरुष के स्वरूप का यथार्थज्ञान ही सांख्यशास्त्र की मूलभित्तिका है। अत एव कुछ चिन्तकों का आक्षेप है कि महर्षि कपिल निरीश्वरवादी रहे, क्योंकि उन्होंने प्रकृति-पुरुष के ज्ञानमात्र से ही कृतकृत्यता मान ली है। जब कि वास्तविक स्थिति यह है कि महर्षि कपिल निरीश्वरवादी नहीं रहे, क्योंकि—

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ।

सांख्यसूत्र ३/५७

इस प्रकार के ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है—की छाया उनके दर्शन में समुल्लसित है ही। अर्थात् सन्निधिमात्र से प्रकृति और पुरुष के प्रेरक तथा सांसारिक सर्ग-विसर्ग के निमित्तकारणरूप से ईश्वर की स्थापना हुई है।

पातञ्जलदर्शन तथा सांख्यदर्शन

पतञ्जलि का सूत्र है—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।

योगसूत्र १/५

यही सूत्र सांख्यदर्शन (२/३३) में भी अक्षरश: उपलब्ध है। पतञ्जलि ने चित्तवृत्तिनिरोधोपाय के लिये—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

योगसूत्र १/१२

सूत्र लिखा है। महर्षि कपिल ने भी इसी सूत्र को व्यत्यय कर लिखा है—

वैराग्यादभ्यासाच्च ।

सांख्यसूत्र ३/३६

पतञ्जलि ने—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

योगसूत्र १/३

इस सूत्र के द्वारा आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रदर्शित किया है। कपिल ने भी—

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ।

सांख्यसूत्र २/३४

अर्थात् उसके निवृत्त और शान्तरज होने पर वह स्वस्थ होता है, ऐसा लिखकर पूर्वोक्त मन्तव्य को ही स्पष्ट किया है।

व्युत्थान अवस्था में भी आत्मा का स्वरूप—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ।

योगसूत्र १/४

कुसुमवच्च पाणिः ।

सांख्यसूत्र २/३५

इन दोनों सूत्रों से स्पष्ट हो जाता है। कपिल के—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।

सांख्यसूत्र १/६१

इत्यादि सूत्रों से संसार की उत्पत्ति के साथ-साथ पुरुष के भोग और मोक्ष का कारण भी प्रकृति को माना है। इस रहस्य को पतञ्जलि ने भी—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।

योगसूत्र २/१८

इस सूत्र से सिद्ध किया है। पतञ्जलि का सिद्धान्त है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्वधर्म आत्मा के नहीं हैं, किन्तु सर्वदा शुद्धस्वरूप भी आत्मा बुद्धिवृत्ति का अनुसरण कर सुख-दुःखादि धर्मवान् देखा जाता है। कपिल का भी यही सिद्धान्त है, यह अधोलिखित सूत्रद्वय से तुलनीय है—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।

योगसूत्र २/२०

उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात् ।

सांख्यसूत्र १/१६४

योगदर्शन की मान्यता है कि अविद्याग्रन्थि का जब तक सर्वतोभावेन तिरोभाव नहीं होता, तब तक कैसा भी योगाभ्यासी मुमुक्षु क्यों न हो, संसाररूपी नाट्यशाला में पुनः-पुनः जन्म लेकर उसे जात्यायुर्भोगात्मक अवस्थाओं का अनुपालन करना पड़ता है। यही भाव सांख्यदर्शन का भी है। तदर्थ सूत्रद्वय द्रष्टव्य हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।

योगसूत्र २/१३

संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ।

सांख्यसूत्र ३/८३

सांख्य-योग-दर्शन के सिद्धान्तों की साम्यता का ज्वलन्त उपदेश श्रीकृष्ण ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वर्णित किया है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

भगवद्गीता ५/४

पातञ्जलदर्शन और वैशेषिकदर्शन

यद्यपि वैशेषिकदर्शन का प्रतिपाद्य विषय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव इन सप्त पदार्थों की विवेचना है तथापि मोक्षमार्गव्यासङ्ग में तो महर्षि कणाद को भी पातञ्जलसूत्रों का आश्रय लेकर विषयप्रतिपादन करना पड़ता है। पतञ्जलि मुनि के मोक्षलक्षण से वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित मोक्षलक्षण में अत्यन्त समानता है। यहाँ शब्दावली की समानता द्रष्टव्य है—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ।

योगसूत्र २/२५

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ।

वैशेषिकसूत्र ५/२/१८

अभिप्राय यह है कि अविद्या के अभाव में संयोग का अभाव और पुनः उत्पन्न न होना ही मोक्ष है। कणाद मुनि को अष्टाङ्गयोगानुष्ठानजन्य मोक्ष अभिमत है। अत एव कणाद मुनि ने मोक्षमार्ग की प्रक्रिया में लिखा है—

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ।

वैशेषिकसूत्र ६/२/१६

सूत्र का भाष्य करते हुए लिखा है—

आत्मकर्मसु यमनियमादिषु सत्सु मोक्षो व्याख्यातः ।

भाष्य, वैशेषिकसूत्र ६/२/१६

कर्ममीमांसा का प्रकरण भी दोनों का तुल्य है—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।

योगसूत्र २/१२

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ।

वैशेषिकसूत्र १०/२/८

योगसूत्रों के सदृश कणादसूत्रों की चरमसीमा भी **'इति'** शब्द से उल्लिखित है। अतः दार्शनिकों का निरर्गल मत है कि पातञ्जल सूत्रों का विकास कणाद के सूत्रों से बहुत प्राचीनतम काल का है।

पातञ्जलदर्शन और न्यायदर्शन

महर्षि गौतम के न्यायदर्शन में भी अष्टाङ्गयोग के विना गति नहीं है। यद्यपि वैशेषिक की भाँति गौतम का प्रतिपाद्यविषय भी प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश पदार्थों के विवेचन पर ही आधारित है। तथापि मोक्षधाम की पद्धति तो उसे भी अष्टाङ्गयोग की ही माननी पड़ी। महर्षि गौतम का सिद्धान्त है कि बाधालक्षण दुःख के अत्यन्ताभाव का नाम अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है। अर्थात् दुःख बाधास्वरूप है। तदर्थ सूत्र है—

बाधनालक्षणं दुःखमिति ।

न्यायसूत्र १/१/२१

ऐसे बाधास्वरूप दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् विमोक्ष का नाम अपवर्ग है। सूत्र है—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।

न्यायसूत्र १/१/२२

किञ्च दुःखों की निवृत्ति का उपाय भी समान है। महर्षि गौतम का सूत्र है—

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगश्चाध्यात्मविध्युपायैः ।

न्यायसूत्र ४/२/४६

इतना ही नहीं, अरण्य, गुहा, नदीतट आदि स्थानों में योगाभ्यास करने का उपदेश भी न्यायशास्त्र में उपलब्ध है। योगाभ्यासोपयोगी स्थान का निर्णायक सूत्र है—

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ।

न्यायसूत्र ४/२/४२

किञ्च, समाधि-साधना के विना ब्रह्मतत्त्व की अभिव्यक्ति होती ही नहीं; इस सर्वतन्त्रसिद्धान्त की सर्वोपादेयता के वर्णन को भी समाधिविशेष के अभ्यास से गौतम ने सुस्पष्ट कर दिया है। सूत्र है—

समाधिविशेषाभ्यासात् ।

न्यायसूत्र ४/२/३८

अतः दार्शनिक तार्किकों का अभ्रान्त सिद्धान्त है कि गौतम का न्यायदर्शन पातञ्जलदर्शन से सर्वथा अर्वाचीन है।

पातञ्जलदर्शन और मीमांसादर्शन

पूर्वमीमांसा अर्थात् मीमांसादर्शन के आचार्य जैमिनि याज्ञिक कर्मकलाप को ही अष्टाङ्गयोग का साधन बतलाते हैं। इनका विश्वास है कि याज्ञिक कर्मकलाप की पद्धति से भूयो-भूयः मनमन्दिर का उत्कर्षण करने पर योगैकगम्य सच्चिदानन्द परमात्मा कदाचित् दर्शन अवश्य प्रदान करते हैं।

पातञ्जलदर्शन और वेदान्तदर्शन

एतेन योगः प्रत्युक्तः ।

ब्रह्मसूत्र २/१३

उक्त सूत्र के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि वेदान्तदर्शन में योग का प्रतिवाद किया है। किन्तु स्थिति इससे भिन्न है। जिन महानुभावों ने योगमार्ग के महत्त्व का श्रवण तक नहीं किया है वे ही वेदान्त के उक्त सूत्र से योग का खण्डन समझते हैं। वेदान्तमर्मज्ञ योगसाधना का अपलाप नहीं करते हैं, अपितु उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं।

पातञ्जलदर्शन और औपनिषदिकदर्शन

मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में ही एक कथा आती है कि शौनक नामक ऋषि ने योगेश्वर अङ्गिरा के पास जाकर प्रार्थना की कि हे भगवन्! वह कौन सी विद्या है, जिसके ज्ञान से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है? अङ्गिरा उपदेश करते हैं कि हे शौनक! ब्रह्मवेत्ता लोग दो विद्याओं का वर्णन करते हैं—एक परा और दूसरा अपरा। वेद और वेदाङ्ग में प्रतिपादित विद्या तो

इहलौकिक सुखसाधनरूप होने से 'अपरा' अर्थात् ऐहलौकिकी कहलाती है और जिस विद्या से अक्षर, अव्यय, अविनाशी, पूर्वब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार होता है उसका नाम 'परा' विद्या है। वचन है—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया यदक्षरमधिगम्यते ।

मुण्डकोपनिषद् १/१/४-५

इसी प्रकार की कथा नारद और सनत्कुमार जी के कथोपकथन से छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम अध्याय के आरम्भ में समुल्लसित है।

योगसम्प्रदाय का सिद्धान्त

अत एव अवधूत मत्स्येन्द्र, गोरक्षादि महासिद्ध योगविद्या की अपेक्षा कर्ममयी वेदविद्या को न्यग्भूत ही समझते हैं। क्योंकि योगविद्या में त्रैगुण्य-प्रपञ्च ही तो प्रतिपादित है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में—

त्रैगुण्यविषया वेदाः ।

भगवद्गीता २/४५

कहकर त्रैगुण्यप्रपञ्चमय वेदों की ओर निम्नबुद्धि प्रदर्शित की है। दूसरी दृष्टि से वेद को मान्यतम मान लिया जाय तो प्रश्न है कि 'वेद' शब्द क्या योग का वाचक नहीं है? विद्वानों का मत है कि वेदों के विकास से पूर्व ही योगविद्या अपनी तरुणावस्था को प्राप्त हो चुकी थी। शब्दान्तर में कहा जा सकता है कि योगविद्या के गर्भ से ही वेदविद्या का जन्म हुआ। मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में ही लिखा है—

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ।।

मुण्डकोपनिषद् १/१/१

अर्थात् देवताओं में ब्रह्मा प्रथम हुए जो विश्व के कर्त्ता और भुवन के गोप्ता हैं। परन्तु जब विश्वरचना की आवश्यकता पडी तो हिरण्यगर्भ के पास विश्वरचना-सामग्री तो थी ही नहीं, आप मन ही मन चिन्ता करने लगे। तब योगैकगम्य योगात्मा दयालु पूर्वब्रह्म का प्रसादस्वरूप आदेश प्राप्त हुआ—

स चिन्तयन्द्व्यक्षरमेकदारम्भस्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विदुः ।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं निष्किञ्चनानां नृप यद्धनं विदुः ।।

श्रीमद्भागवत २/९/६

अर्थात् उन ब्रह्मा जी ने ऐसा विचार करते हुए एक दिन (प्रलयकाल के) जल में अक्षरद्वय वाले शब्द का दो बार उच्चारण सुना। उनमें से पहला वर्ण तो स्पर्शवर्णों में (क से लेकर प तक) पन्द्रहवाँ अर्थात् 'त' था और दूसरा इक्कीसवाँ अर्थात् 'प' था। जिसको मिला देने पर 'तप' शब्द बनता है और जिसे अकिञ्चन पुरुषों का धन कहते हैं।

अब तो विभु महाराज को—

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ।

अष्टाध्यायी १/१/९

की वाटिका में दूरतः स्पर्शकल्पद्रुम दिखलाई पड़ा। फिर क्या था अल्प कम्पन से ही स्पर्शों में से षोडश 'त' और एकविंशति संख्या 'प' अर्थात् तप के प्रादुर्भाव के साथ ही संसार का भी प्रादुर्भाव व्यक्त हो गया। इस प्रकार जिस तप ने इतने बृहद् ब्रह्माण्ड की रचना कर डाली, योगदर्शन में उसकी गणना अतिसाधारण रूप से नियमों में उपलब्ध है। अध्यात्मरसरसिक योगिराज पतञ्जलि क्या—

ना वेदविन्मनुते तं बृहन्तम् ।

तैतिरीयब्राह्मण ३/९/२६

अर्थात् वेद को नहीं जानने वाला उस बृहत् परमात्मा को नहीं जानता है।

तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि ।

बृहदारण्यकोपनिषद् ३/९/२६

अर्थात् उस उपनिषद्वेद्य पुरुष के विषय में मैं प्रश्न करता हूँ— इत्यादि रहस्य का अनुमोदन नहीं करते? अनुमोदन अवश्य करते हैं, परन्तु उनका दृढ सिद्धान्त यही है कि—

राम नाम सब कहत हैं, ठग, ठाकुर और चौर ।
जिनको योगीजन भजें, वहै राम कहु और ।।

वेदान्तसूत्र के कर्त्ता योगविद्या के महत्त्व से भली-भाँति परिचित रहे, फिर भी—

एतेन योगः प्रत्युक्तः।

ब्रह्मसूत्र २/१३

की प्रतिज्ञा इन्हें स्वीकार्य है। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार शङ्कराचार्य ने योगमहत्त्वोपपत्तिजनक अनेक श्रुति प्रमाणों द्वारा स्पष्ट किया है कि हमें इस विषय में तो कुछ आपत्ति नहीं है, परन्तु सांख्यस्मृति के सदृश योगस्मृति भी ईश्वरसत्ता के लिये ही केवल प्रकृति-पुरुष द्वारा ही संस्कार का आविर्भाव मानती है। अतः सांख्यस्मृति के सदृश ही सङ्गदोषन्याय से योगस्मृति का भी निराकरण हो सकता है। परन्तु योगस्मृति से यदि पातञ्जलयोगदर्शन का अध्याहार कर लिया जाय तो शारीरकसूत्र की स्मृति ही स्तब्ध हो जायेगी। वेदान्तदर्शन भी तो स्मृति है, न कि श्रुति। इसी का नाम गजनिमीलिका है।

पातञ्जलदर्शन सेश्वर है। इनके अनुसार प्रकृति तो जड है ही, अतः संहत्यरूपा होने से स्वयं परार्था भी है। पुरुष चिद्घन है तथा अनेक जन्मोद्भव सुख-दुःखात्मक कर्मों के अकाट्य नियमों से ऐसे निगडित है कि पातञ्जलदर्शन में उन्हीं की पुरुषसंज्ञा मानी गयी है। इन पुरुषों से जो विशेष शक्तिमान् अर्थात् पुरुषोत्तम है, वह इस जगत् का नियन्ता है। सूत्र है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

योगसूत्र १/२४

यह तथ्य श्रीकृष्ण द्वारा भगवद्गीता में समर्थित है—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।

भगवद्गीता १५/१८

अर्थात् क्योंकि मैं क्षर से परे हूँ और अक्षर की अपेक्षा उत्तम हूँ, इसी से लोक और वेद दोनों में मैं पुरुषोत्तम नाम से विख्यात हूँ। उपनिषद् में भी यही उपपत्ति है—

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/१६

अर्थात् वह (परमात्मा) विश्व का कर्त्ता, विश्व का वेत्ता, स्वयंभू, ज्ञाता, काल का भी काल, गुणवान्, सर्वज्ञ, प्रकृति और पुरुष का स्वामी, गुणों का ईश और संसार के मोक्ष-स्थिति-बन्ध का हेतु है। सूर्य को दीपक दिखाना तो अपना ही अपमान करना है। जो पदार्थ सर्वशिरोधार्य है, वहाँ लिङ्ग-व्यय आदि की आपत्ति अकाण्डताण्डव ही तो है। अन्ततः हमें—

गुणा एव पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ।

उत्तररामचरित ४/११

अर्थात् गुणवान् पुरुषों में निहित उनके गुण ही पूजा के पात्र हैं, उनका लिङ्ग (चिह्न) और अवस्था इसमें कारण नहीं है—भवभूति की इस उक्ति को स्वीकार करना ही होगा। वेदान्तदर्शन ने अपने विषय के उपस्थापन में यथासाध्य पूर्ण प्रयास किया, परन्तु उन्हें भी घट्टकुटीरप्रभात इस न्याय के ही विश्रामभवन में आश्रय मिला।

वेदान्तस्मृतियोगाङ्गों में आसन-ध्यानादि का महत्त्व

आसीनः सम्भवात् ४/१/७, **ध्यानाच्च** ४/१/८, **अचलत्वं चापेक्ष्य** ४/१/९, **स्मरन्ति च** ४/१/१० इत्यादि स्मृतिवाक्यों द्वारा यही प्रतिपादन हुआ है कि आसन पर बैठकर उपासना करे क्योंकि तभी उपासना हो सकती है। ध्यान भी तभी हो सकता है। ध्यान अचलत्व की अपेक्षा रखता है। स्मृतियों में भी यही कहा गया है—**यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्** ४/१/११ जहाँ एकाग्रता हो, वहीं उपासना करनी चाहिए अन्य कोई विशेष बात नहीं है। और यह उपासना **आ प्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्** ४/१/१२ इस वचन के अनुसार मृत्युपर्यन्त करनी चाहिए—इत्यादि मधुर शब्दों से प्रतिपादन हो रहा था कि अकस्मात् वास्कलि नामक मुमुक्षु ऋषि योगेश्वर श्रीवाध्व के योगाश्रम में ब्रह्मजिज्ञासार्थ पधारे और प्रार्थना की कि हे प्रभो! उस योगैकगम्य सच्चिदानन्द परब्रह्म का क्या स्वरूप है? श्रीवाध्व महाराज मौनधारण किये रहे। पर वास्कलि के भूयोभूयः प्रश्न करते रहने पर श्रीवाध्व महाराज कुछ विस्मयभाव से बोले—अरे वास्कले! तेरे प्रश्नों का उत्तर तो मैं साथ-साथ देता रहा, तेरी समझ में न आये तो मैं क्या करूँ? उपदेश का सार है—

उपशान्तोऽयमात्मा ।

ब्रह्मसूत्र ३/२/१७

अभिप्राय यह है कि क्रियात्मक अष्टाङ्गयोगसाधना के विना वेदान्तपरिभाषा के मात्र शास्त्रीयज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है। नृसिंहाचार्य के वेदान्तडिण्डिम के सदृश हम भी—

प्रज्ञानं ब्रह्म । ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् ५/३

अहं ब्रह्मास्मि । यजुर्वेदीय बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१०

तत्त्वमसि । सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् ६/८/७

अयमात्मा ब्रह्म । अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् २/५/१९

इत्यादि मन्त्रों का अहर्निश पाठ किया करते हैं किन्तु इन शब्दों की ध्वनि दशवें द्वार के त्रिपुटीमहल (जो सच्चिदानन्द का आमोदकारी योगमठ है) में कभी नहीं सुनाई पड़ती। **ज्ञानं भारः क्रियां विना** अर्थात् क्रिया के विना ज्ञान भारस्वरूप है। अविद्यारूपी ग्रन्थि का नाश तो समाधि द्वारा ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। वेदान्तदर्शन के भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य अपने अनुभवनीय समाधि का वर्णन क्या मधुरता से करते हैं—

समाधिनानेन समस्तवासनाग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः ।
अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात् ।।

विवेकचूडामणि ३६४

अर्थात् इस समाधि से समस्त वासनारूप ग्रन्थि का विनाश और अखिल कर्मों का नाश होकर अन्तःबहिः सर्वत्र एवं सर्वदा विना यत्न किये ही स्वरूप की विस्फूर्ति होने लगती है।

निर्विकल्पकसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।
अन्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ।।

विवेकचूडामणि ३६५

अर्थात् निर्विकल्पक समाधि से निश्चय ही ब्रह्मतत्त्व का स्फुटज्ञान हो जाता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि अन्य अवस्थाओं में मनोवृत्ति चंचल होने से वह ज्ञान अन्य प्रतीतियों से मिश्रित रहता है।

फिर व्युत्थान अवस्था में भी उस योगिराज को चराचर जगत् में—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण, अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।

मुण्डकोपनिषद् २/२/११

अर्थात् अमृतस्वरूप ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिण में और ब्रह्म ही उत्तर में है तथा ऊपर-नीचे सर्वत्र ब्रह्म ही परिव्याप्त है। यह सारा विश्व ही ब्रह्म है और सबसे श्रेष्ठ भी है, इसी परमानन्द की प्राप्ति होती है। वेदों में इस प्रकार की समाधि के सहस्राधिक लक्षण विद्यमान हैं।

पातञ्जलयोगदर्शन और भक्तिदर्शन

लोकमान्य श्रीबालगङ्गाधर ने गीतारहस्य के परिशिष्ट प्रकरण के दूसरे भाग में थासन साहब तथा ज्ञानेश्वर महाराज के सिद्धान्तानुकूल 'गीता का विकास पातञ्जलयोगसूत्र से ही हुआ है' यह मानते हुए भी यह कहा कि पातञ्जलसूत्र की अपेक्षा शाण्डिल्य ऋषि का भक्तिदर्शन अतिप्राचीन है इत्यादि। परन्तु जब हम भक्तिदर्शन का दर्शन करते हैं तो यह धारणा हो जाती है कि पातञ्जलसूत्र का विकास भी श्रीशाण्डिल्य ऋषि के अवतार से भी बहुत प्राचीन है।

●

योगदर्शन एवं भगवद्गीता

षड्दर्शन में योगदर्शन एक महनीय शास्त्र है। योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि हैं। पतञ्जलिप्रणीत सूत्रों का भाव अत्यन्त गम्भीर, उपादेय, सरस एवं लाभकारी है। कल्याणकामियों को योगदर्शन का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। यह तो इतिहासविदों के शोध का विषय है कि योगदर्शन की रचना श्रीमद्भगवद्गीता के पश्चात् हुई है अथवा पूर्व हुई है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों ग्रन्थों के अनेक स्थलों में विलक्षण समानता है। कहीं शब्दों में समानता है तो कहीं भाव या अर्थों का सादृश्य है। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ स्थलों को प्रस्तुत किया जा सकता है—

पातञ्जलयोगदर्शन

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । १/१२

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः । १/१४

तस्य वाचकः प्रणवः । १/२७

तज्जपस्तदर्थभावनम् । १/२८

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । २/१५

श्रीमद्भगवद्गीता

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते । ६/३५

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । ८/१४

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् । ८/१३

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।। ५/२२

इनके अतिरिक्त भावार्थ की सदृशता वाले स्थल भी हैं। जैसे, योगदर्शन का सूत्र है—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।

योगसूत्र २/१९

इस सूत्र के अनुसार पञ्च महाभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और मन इन सोलह विकारों का समुदायरूप **'विशेष'**; अहंकार और पञ्चतन्मात्र इन छः का समुदायरूप **'अविशेष'**; समष्टि बुद्धिरूपी **'लिङ्ग'** और अव्याकृत प्रकृतिरूप **'अलिङ्ग'**—ये चौबीस तत्त्व प्रकृति के अवस्थाविशेष हैं। इसी तथ्य का प्रतिपादक श्लोक गीता में मिलता है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।

भगवद्गीता १३/५

अर्थात् पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति, दश इन्द्रियाँ, मन और पञ्चतन्मात्र—ये चौबीस तत्त्व हैं।

उपर्युक्त अवतरणों के अनुसार दोनों ग्रन्थों के अनेक स्थलों में समानता होने के कारण कुछ चिन्तकों का मत है कि श्रीमद्भगवद्गीता पातञ्जलयोगदर्शन की पश्चात्वर्ती रचना है और इसमें ये सब भाव योगदर्शन से गृहीत हैं। कुछ विद्वान् तो भगवद्गीता को योगदर्शन का रूपान्तर या उसी का प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं। किन्तु यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि भगवद्गीता के सिद्धान्त योगदर्शन की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक एवं सर्वदेशीय हैं।

योगदर्शन का 'योग' केवल एक ही अर्थ में प्रयुक्त है, परन्तु भगवद्गीता का 'योग' शब्द अनन्त समुद्र की भाँति विशाल है, उसमें सबका समावेश है। परमात्मा की प्राप्ति तक को गीता में योग कहा गया है। इसके अतिरिक्त निष्कामकर्म, भक्ति, ज्ञान, ध्यान आदि को भी योग के नाम से कहा गया है।

योगदर्शन में ईश्वर का स्वरूप है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः । १/२४

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् । १/२५

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । १/२६

भगवद्गीता के अनुसार ईश्वर का स्वरूप है—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।। ८/९

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।। १३/१४

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याऽव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।। १४/२७

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।। १५/१८

इन श्लोकों के अनुसार जो सर्वज्ञ, अनादि, सबका नियन्ता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करने वाला, अचिन्त्य स्वरूप, नित्य चेतन, प्रकाशस्वरूप, अविद्या से परे, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन, सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों का ज्ञाता होता हुआ भी इन्द्रियातीत, आसक्तिहीन, गुणातीत होने पर भी सबका धारण-पोषण करने वाला, गुणों का भोक्ता, अविनाशी परब्रह्म, अमृत, नित्यधर्म और अखण्ड एकरस आनन्द का आश्रय, नाशवान् जडवर्ग क्षेत्र से सर्वथा अतीत और मायास्थित अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम पुरुषोत्तम है, वह ईश्वर है।

पातञ्जलयोगदर्शन के अनुसार ईश्वर त्रिगुणों के विकार से रहित है, परन्तु भगवद्गीता के अनुसार वह गुणों से अतीत ही है। योगदर्शन का ईश्वर शुभाशुभ कर्म, सुख-दुःख और वासनारहित होने से ही पुरुषोत्तम है, परन्तु भगवद्गीता का ईश्वर जड जगत् से सर्वथा अतीत और मायास्थित जीव से भी उत्तम होने के कारण पुरुषोत्तम है। योगदर्शन का ईश्वर काल के अवच्छेद से रहित होने के कारण पूर्व-पूर्व सर्ग में होने वाले सृष्टि रचयिताओं का गुरु है, परन्तु भगवद्गीता का ईश्वर अव्यय परब्रह्म, शाश्वतधर्म और ऐकान्तिक आनन्द का भी परम आश्रय है। गुणातीत होकर भी अपनी अचिन्त्य शक्ति से गुणों का भोक्ता और सबका भरण-पोषण करने वाला है। इसी प्रकार 'ईश्वर शरणागति' के सिद्धान्त में भगवद्गीता का अभिप्राय बहुत उच्च है। योगदर्शन का ईश्वरप्रणिधान चित्तवृत्तिनिरोध के लिये किये जाने वाले

अभ्यास और वैराग्य आदि प्रमुख साधनों की अपेक्षा एक गौण साधन है। इसी अर्थ में **ईश्वरप्रणिधानाद्वा** (योगसूत्र १/२३) सूत्र में **'वा'** का प्रयोग हुआ है। परन्तु भगवद्गीता में ईश्वरशरणागति का साधन समस्त साधनों का सम्राट् है। इसमें अधोलिखित श्लोक प्रमाण हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।। ९/३२

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।। १८/६२

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।। १८/६६

भगवद्गीता का ध्यानयोग भी योगदर्शन से अधिक महत्त्वपूर्ण है। योगदर्शन कहता है—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः । २/११

अर्थात् ध्यान से क्लेशों की वृत्तियों का नाश होता है। परन्तु भगवद्गीता कहती है—

ध्यानेनाऽऽत्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना । १३/२४ पूर्वार्द्ध

अर्थात् कितने ही मनुष्य शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में परमात्मा को देखते हैं। वहाँ केवल क्लेशों की वृत्तियों का ही नाश है, पर यहाँ ध्यान से परमात्मसाक्षात्कार तक होने की बात है।

इसी तरह से अन्यान्य स्थल हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भगवद्गीता साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा के श्रीमुख की दिव्य वाणी है और योगदर्शन एक ज्ञानी महात्मा महर्षि के विचार हैं। भगवान् के साथ ज्ञानी की अभिन्नता पर भी भगवान् भगवान् ही हैं।

इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि भगवद्गीता का महत्त्व सभी तरह से उच्च है तथा भगवद्गीता का प्रतिपाद्य विषय भी विशेष महत्त्वपूर्ण, भावमय, सर्वदेशीय, सुगम और परम आदर्शरूप है।

●

भगवद्गीता में योग का उल्लेख : एक अनुसन्धान दृष्टि

'न' आदि अव्ययों को छोड़कर जितनी बार **'योग'** शब्द भगवद् गीता में प्रयुक्त हुआ है, सम्भवतः उतनी बार दूसरा कोई शब्द नहीं। भगवद्गीता के अठारह अध्यायों के विषयों को एक-न-एक योग ही कहा गया है। इसका अभिप्राय यही है कि समस्त भगवद्गीता योगविज्ञान का विस्तार है।

परन्तु यहाँ 'योग' से केवल चित्तवृत्तिनिरोध अथवा इन्द्रियधारणा ही विवक्षित नहीं है, अपितु 'योग' परागति अथवा ब्रह्मात्मैक्य स्थिति को व्यक्त करता है। प्रत्येक अध्याय के विषय-विवेचन का फल यह है कि साधक उससे ब्रह्मस्थित होता है। भगवद्गीता में योग का यही प्रधान अर्थ है। इसके अतिरिक्त प्रसंगवश भिन्नार्थ में भी यह शब्द व्यवहृत हुआ है। स्वयं श्रीकृष्ण ने दो स्थानों में योग की प्रासङ्गिक व्याख्या की है—

समत्वं योग उच्यते ।

भगवद्गीता २/४८

योगः कर्मसु कौशलम् ।

भगवद्गीता २/५०

अभिप्राय यह है कि योग बुद्धि की साम्यावस्था का नाम है। कर्म करने की वह रीति जिससे कर्मों के फल हमारे लिये बन्धन के कारण न हों, योग है। मूलभाव दोनों परिभाषाओं का एक ही साम्यबुद्धि है। क्योंकि साम्यबुद्धि ही वह कौशल है, जिससे कर्मों में प्रवृत्त रहकर भी मनुष्य उनसे अलिप्त रह सकता है।

भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोकांशों में 'योग' शब्द दिखलाई पड़ता है—

योगक्षेमं वहाम्यहम् । भगवद्गीता ९/२२

आस्थितो योगधारणम् । भगवद्गीता ८/१२

योगबलेन चैव ।	भगवद्गीता८/१०
योगभ्रष्टोऽभिजायते ।	भगवद्गीता ६/४१
योगमायासमावृतः ।	भगवद्गीता ७/२५
योगयज्ञाः ।	भगवद्गीता ४/२८
योगयुक्तो मुनिः ।	भगवद्गीता ५/६
योगयुक्तो विशुद्धात्मा ।	भगवद्गीता ५/७
योगयुक्तो भवाऽर्जुन ।	भगवद्गीता ८/२७
योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।	भगवद्गीता ६/२९
योगवित्तमाः ।	भगवद्गीता १२/१
योगसंज्ञितम् ।	भगवद्गीता ६/२३
योगसंन्यस्तकर्माणम् ।	भगवद्गीता ४/४१
योगसंसिद्धः ।	भगवद्गीता ४/३८
योगसंसिद्धिम् ।	भगवद्गीता ६/३७
योगसेवया ।	भगवद्गीता ६/२०
योगस्थः कुरु कर्मणि ।	भगवद्गीता २/४८
तदा योगमवाप्स्यसि ।	भगवद्गीता २/५३
इयं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् ।	भगवद्गीता ४/१
योगमातिष्ठ ।	भगवद्गीता ४/४२
पुनर्योगं च शंससि ।	भगवद्गीता ५/१
एकं सांख्यं च योगं च ।	भगवद्गीता ५/५
योगं तं विद्धि पाण्डव ।	भगवद्गीता ६/२
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम् ।	भगवद्गीता ६/३
युञ्ज्याद् योगम् ।	भगवद्गीता ६/१२
युञ्जतो योगम् ।	भगवद्गीता ६/१९
योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।	भगवद्गीता ७/१
पश्य मे योगमैश्वरम् ।	भगवद्गीता ९/५

एतां विभूतिं योगं च । भगवद्गीता १०/७
विस्तरेणाऽऽत्मनो योगम् । भगवद्गीता १०/१८
पश्य मे योगमैश्वरम् । भगवद्गीता ११/८
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् । भगवद्गीता १८/७५
योगो नष्टः परन्तप । भगवद्गीता ४/२
योगः प्रोक्तः पुरातनः । भगवद्गीता ४/३
नाऽत्यश्नतस्तु योगोऽस्ति । भगवद्गीता ६/१६
योगो भवति दुःखहा । भगवद्गीता ६/१७
स निश्चयेन योक्तव्यो योगः । भगवद्गीता ६/२३
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः । भगवद्गीता ६/३३
असंयतात्मना योगो दुष्प्रापः । भगवद्गीता ६/३६
योगाच्चलितमानसः । भगवद्गीता ६/३७
तस्माद् योगाय युज्यस्व । भगवद्गीता २/५०
योगारूढस्य तस्यैव । भगवद्गीता ६/३
योगारूढस्तदोच्यते । भगवद्गीता ६/४
योगे त्विमां शृणु । भगवद्गीता २/३९
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते । भगवद्गीता १०/७
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्तः । भगवद्गीता १२/६
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चाऽपरे । भगवद्गीता १३/२४
योगेनाऽव्यभिचारिण्या । भगवद्गीता १८/३३
तद्योगैरपि गम्यते । भगवद्गीता ५/५

'योग' पद अनेक विभक्तियों में जैसे प्रयुक्त हुआ है, वैसे ही अकारादिक्रम से प्रदर्शित किया गया है।

इसी प्रकार अट्ठाईस बार प्रयुक्त 'योगी' पद को अध्यायक्रम से प्रदर्शित किया जा रहा है—

कर्मयोगेन योगिनाम् । भगवद्गीता ३/३
योगिनः पर्युपासते । भगवद्गीता ४/२५

योगिनः कर्म कुर्वन्ति ।	भगवद्गीता ५/११
स योगी ब्रह्मनिर्वाणम् ।	भगवद्गीता ५/२४
स संन्यासी च योगी ।	भगवद्गीता ६/१
योगी भवति कश्चन ।	भगवद्गीता ६/२
युक्त इत्युच्यते योगी ।	भगवद्गीता ६/८
योगी युञ्जीत ।	भगवद्गीता ६/१०
योगी नियतमानसः ।	भगवद्गीता ६/१५
योगिनो यतचित्तस्य ।	भगवद्गीता ६/१९
योगिनं सुखमुत्तमम् ।	भगवद्गीता ६/२७
योगी विगतकल्मषः ।	भगवद्गीता ६/२८
स योगी मयि वर्तते ।	भगवद्गीता ६/३१
स योगी परमो मतः ।	भगवद्गीता ६/३२
अथवा योगिनामेव ।	भगवद्गीता ६/४२
योगी संशुद्धकिल्बिषः ।	भगवद्गीता ६/४५
तपस्विभ्योऽधिको योगी ।	भगवद्गीता ६/४६
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी ।	भगवद्गीता ६/४६
तस्माद् योगी भवार्जुन ।	भगवद्गीता ६/४६
योगिनामपि सर्वेषाम् ।	भगवद्गीता ६/४७
नित्ययुक्तस्य योगिनः ।	भगवद्गीता ८/१४
आवृत्तिं चैव योगिनः ।	भगवद्गीता ८/२३
योगी प्राप्य निवर्तते ।	भगवद्गीता ८/२५
न योगी मुह्यति कश्चन ।	भगवद्गीता ८/२७
योगी परं स्थानम् ।	भगवद्गीता ८/२८
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वाम् ।	भगवद्गीता १०/१७
सन्तुष्टः सततं योगी ।	भगवद्गीता १२/१४
यतन्तो योगिनश्चैनम् ।	भगवद्गीता १५/११

भगवद्गीता में 'योगेश्वर' पद का प्रयोग चार बार हुआ है—

योगेश्वरः ततो मे । भगवद्गीता ११/४

योगेश्वरो हरिः । भगवद्गीता ११/९

योगं योगेश्वरात् । भगवद्गीता १८/७५

यत्र योगेश्वरः कृष्णः । भगवद्गीता १८/७८

भगवद्गीता में एक बार 'अयोगतः' पद प्रयुक्त है—

दुःखमाप्तुमयोगतः । भगवद्गीता ५/६

इस प्रकार योगेश्वर हरि का योगविज्ञान भूतभावन है।

●

वेदान्तदर्शन एवं योगदर्शन में समानता

षड् आस्तिक दर्शनों का सूत्रात्मक-शैली में प्रणयन हुआ। कपिलप्रणीत सांख्यसूत्र, पतञ्जलिप्रणीत योगसूत्र, गौतमप्रणीत न्यायसूत्र, कणादप्रणीत वैशेषिकसूत्र, जैमिनिप्रणीत मीमांसासूत्र तथा बादरायणव्यासप्रणीत वेदान्तसूत्र है। इन्हें षड्विध शास्त्रीयसूत्र भी कहते हैं। शास्त्रीय बह्वर्थप्रतिपादक संक्षिप्त वाक्यविशेष को सूत्र कहते हैं। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार मध्वाचार्य ने सूत्र का लक्षण इस प्रकार किया है—

सूत्र का लक्षण

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभयमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।।

पूर्णप्रज्ञभाष्य, ब्रह्मसूत्र १/११

व्याकरणशास्त्रियों ने सूत्र का लक्षण इस प्रकार किया है—

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ।।

षड्विध सूत्र इस प्रकार विवेचनीय हैं—१. शक्तिनियामक संज्ञासूत्र २. विधिशास्त्रैकवाक्यताबोधक परिभाषासूत्र ३. मानान्तर अनधिगतार्थप्रापक विधिसूत्र ४. अन्यनिवृत्तिफलक सिद्धार्थप्रतिपादक नियमसूत्र ५. वक्तृ-इच्छाजन्यज्ञानबोधक अतिदेशसूत्र तथा ६. स्वदेश में प्रयोजनशून्य होने पर ही विधिशास्त्रैकवाक्यताबोधक अधिकारसूत्र।

राघवानन्दसरस्वती ने पातञ्जलरहस्य में **अथ योगानुशासनम्** को अधिकारसूत्र माना है। इसी प्रकार **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** अधिकारसूत्र है। ये दोनों सूत्र अपने-अपने देश (शास्त्र) में प्रयोजनशून्य होने पर भी विधिशास्त्रैकवाक्यता बोधक हैं।

भाष्य का लक्षण

सूत्रग्रन्थों की दुरूहता को दृष्टिपथ में रखते हुए ऋतम्भराप्रज्ञा के धनी महर्षियों ने तत्-तद् दर्शनसूत्रग्रन्थों में भाष्य की रचनाकर अध्येताओं

का अत्यन्त उपकार किया है। जिस प्रकार विना स्वच्छ दर्पण के मुखाकृति का स्वरूपज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार भाष्यविरहित सूत्र का तलस्पर्शी अर्थबोध नहीं हो सकता है। संस्कृतग्रन्थों में भाष्य का लक्षण इस प्रकार मिलता है—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ।।
पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपस्य समाधानं व्याख्या पञ्चविधा स्मृता ।।

अभिप्राय यह है कि उसे भाष्यवेत्ता कहते हैं जो सूत्रानुसारी पदों के द्वारा सूत्रार्थ को वर्णित करने के लिये स्वप्रतिभोत्थ दृष्टि को व्याख्यायित करता है। इसके लिये समस्त पद का पदच्छेद, पदार्थबोध, व्याकरणिक विग्रह, पदार्थों की अन्त:सङ्गति द्वारा वाक्यविश्लेषण तथा समुपस्थित आशङ्का का निवारण—ये पांच अपरिहार्य तत्त्व हैं।

भाष्यग्रन्थ एवं सूत्रकार

'व्यास' की प्रतिष्ठा से जैसे बादरायण व्यास का 'ब्रह्मसूत्र' प्रतिष्ठित है, वैसे ही 'योगसूत्र' वेदव्यास के योगभाष्य से संलङ्कृत है। वाचस्पतिमिश्र ने तत्त्ववैशारदी में इसका स्पष्टत: उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—

नत्वा पतञ्जलिमृषिं वेदव्यासेन भाषिते ।
संक्षिप्तस्पष्टबह्वर्था भाष्ये व्याख्या विधास्यते ।।

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १/१

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों की सर्वाधिक संख्या है। यही कारण है कि द्वैत-अद्वैत की विभिन्न मान्यताओं से संकुलित वेदान्तदर्शन में अनेक वादों की सृष्टि हुई—१. शङ्कर का निर्विशेषाद्वैत २. भास्कर का भेदाभेद ३. रामानुज का विशिष्टाद्वैत ४. मध्व का द्वैत ५. निम्बार्क का द्वैताद्वैत ६. श्रीकण्ठ का शैवविशिष्टाद्वैत, ७. श्रीपति का वीरशैव-विशिष्टाद्वैत ८. वल्लभ का शुद्धाद्वैत ९. विज्ञानभिक्षु का अविभागाद्वैत तथा १०. बलदेव का अनित्यभेदाभेद ।

जब कि योगसूत्र पर व्यासदेव का एक ही प्रामाणिक भाष्यग्रन्थ है, जो परिणामवाद के धरातल पर द्वैत की स्थापना करता है। ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय (समन्वयाध्याय, अविरोधाध्याय, साधनाध्याय तथा फ़लाध्याय) और प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं जब कि योगसूत्र में कुल चार पाद (समाधि, साधन, विभूति तथा कैवल्य) हैं। पांच सौ पचास सूत्रों में उपनिबद्ध ब्रह्मसूत्र के बृहत् कलेवर की दृष्टि से योगसूत्र का कलेवर एक सौ पचानव्वे सूत्रों में सिमट कर रह गया है। योगसूत्र पर वृत्तिप्रधान ग्रन्थों की रचना सर्वाधिक हुई।

योगसूत्र के भाष्यटीकाकारों में वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु ऐसे प्रमुख आचार्य हैं, जिन्होंने योगदर्शन और वेदान्तदर्शन दोनों सम्प्रदायों में पृथक्-पृथक् ग्रन्थ लिखे। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य पर वाचस्पतिमिश्रविरचित भामती को जो प्रतिष्ठा प्राप्त है, वही योगदर्शन के क्षेत्र में तत्त्ववैशारदी को। विज्ञानभिक्षु ने वेदान्तदर्शन के क्षेत्र में विज्ञानामृतभाष्य की रचनाकर अविभागाद्वैत का समर्थन किया है।

योगदर्शन एवं वेदान्तदर्शन के इन दोनों टीकाकारों में एक महान् अन्तर यह है कि सर्वदर्शनकाननपञ्चानन वाचस्पति मिश्र ने योगदर्शन पर लेखनी चलाते हुए उसे वेदान्त के सिद्धान्तों से विमिश्रित नहीं किया जब कि विज्ञानभिक्षु की समन्वयात्मक लेखनी ने योगवार्त्तिक में सांख्य-योग-वेदान्त में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया।

ग्रन्थ-परम्परा

कहा जाता है कि जिस वर्तमान का गौरवशाली अतीत नहीं होता है, उसका भविष्य भी नहीं होता है। भारतीयदर्शन का गौरवशाली अतीत है, वह वेदपरम्परा से अनुप्राणित है, अत: उसकी अक्षुण्णता युग-युगान्तर असन्दिग्ध है। पाश्चात्यदार्शनिक भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं है रामकृष्णपरमहंस सदृश साधक योगसाधना की प्रतिमूर्ति रहे और अद्वैतभाव को उन्होंने मानवमात्र में उतारा।

शङ्कराचार्य

जिस प्रकार कालिदास का नाम काव्याकाश में देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में अविस्मरणीय है, उसी प्रकार भारतीय दर्शनपरम्परा में शङ्कराचार्य का।

वे अलौकिक प्रतिभासम्पन्न आचार्य रहे। प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य) के आद्य उपलब्ध भाष्यकार रहे। उपदेशसाहस्त्री, सौन्दर्यलहरी आदि उनकी अन्यतम कृतियाँ हैं। उनके बुद्धिबोध एवं सौन्दर्यबोध को लेखनी से शब्दाङ्कित नहीं किया जा सकता। उन्होंने हिमालय से कन्याकुमारी तक, अटक से कटक तक **तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि** आदि महावाक्यों द्वारा मानवमात्र में समानता स्थापित करने का जो अथक प्रयास किया, वह आर्यावर्त के लिये गौरव का विषय है। शङ्कराचार्य के विषय में प्रसिद्ध है—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित् ।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात् ।।

पतञ्जलि

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में एक श्लोक द्वारा करणत्रयगत मलत्रयशोधक जिस शास्त्रत्रय का उल्लेख किया है, उससे पतञ्जलि का शास्त्रत्रय का निर्माता होना सिद्ध होता है। वचन है—

कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाःसमवस्थिताः ।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ।।

वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड

ऐसा ही प्राचीन पारम्पर्यागत एक प्रसिद्ध श्लोक है, जिसमें पतञ्जलि के प्रति समादरभाव व्यक्त हुआ है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।

योगदर्शन एवं वेदान्तदर्शन में सैद्धान्तिक समानता

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः, ज्ञानादेव हि कैवल्यम्, बन्धो विपर्ययात्—इन वचनों से समर्थित है कि कैवल्य पद की प्राप्ति केवलज्ञान से ही होती है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक, शास्त्रजन्य ज्ञान । दूसरा, विवेक-जन्यज्ञान।

इनमें शास्त्रजन्यज्ञान निम्न श्रेणी का है क्योंकि—

न निवर्तेत तिमिरं कदाचिद्दीपवार्तया ।

इस उक्ति के अनुसार दीपक की बात करने से ही जैसे अन्धकार दूर नहीं होता है, वैसे ही केवल शास्त्रजन्यज्ञान कभी मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। परन्तु जो योगाङ्गों के अनुष्ठान से निष्पादित विवेकजन्यज्ञान है, वही मुक्तिमन्दिर का द्वार उद्घाटित करने में समर्थ होता है। योगाभ्यास के विना कोई भी शुष्क वेदान्ती परब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता। विवेकचूडामणि में कहा भी गया है—

निर्विकल्पसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।
अन्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ।।

विवेकचूडामणि ३६५

अर्थात् निर्विकल्प समाधि के द्वारा निश्चित रूप से ब्रह्मतत्त्व का स्फुट ज्ञान होता है। अन्यथा मन की चंचल गति के कारण वह ब्रह्मतत्त्व विजातीय प्रतीतियों से मिश्रित हो जाता है। अथ च विना योगाभ्यास के आत्मज्ञान नहीं हो सकता है। योगविद्या, योगज्ञान, तपश्चर्या को वेदान्तग्रन्थों में भी समर्थन प्राप्त है। अतः मोक्षप्राप्ति के समस्त साधनमार्ग 'योगमार्ग' से अनतिक्रमित हैं। निष्कर्षतः रुधिर की रक्तिमता की भाँति योगविद्या की तेजस्विता सभी दर्शनशास्त्रों में अनुस्यूत है, भले ही रक्त के घटक की विविधता की भाँति भाषा-शैली एवं प्रतिपादन-शैली में भिन्नता प्रतीत होती है। सूत्र की सूत्रता से सब परस्पर सूत्रित हैं।

शङ्कराचार्य महान् योगी

अद्वैतवेदान्त तथा योगदर्शन के सिद्धान्तों का अनुशीलन करने से ऐसा विदित होता है कि इन दोनों के सिद्धान्तों में अत्यन्त साम्य है। यह तो स्पष्ट ही है कि अद्वैतवेदान्त के प्रस्थापक आचार्य शङ्कर एक महान् योगी थे। अपने योगबल से ही आचार्य ने मण्डनमिश्र की अर्द्धांगिनी को पराजित करने के निमित्त उनके योगशास्त्र के प्रश्नों का उत्तर देने के लिये अपने शरीर को नर्मदा नदी के समीपवर्ती वन में अपने प्रिय पद्मपादादि शिष्यों को समर्पित कर दिया था और अपना जीवतत्त्व मरणासन्न राजा अमरुक के शरीर में स्थापित कर दिया था। इतना ही नहीं, यह प्रसिद्ध है कि शङ्कराचार्य ने अपने जीवन के अन्तिम काल में केदारनाथ में जाकर समाधि ली थी।

अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन में चित्तवृत्तिनिरोध का साम्य

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

योगसूत्र १/२

यह योगदर्शन का बीजसूत्र है। तदनुसार चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है।

यह चित्तवृत्तिनिरोध अद्वैती के लिये भी अनिवार्यरूप से अपेक्षित है। चित्तवृत्ति का निरोध किये विना मोक्षोपलब्धि असम्भव है। चित्तवृत्ति का निरोध होने पर ही चित्त-प्रशान्ति होती है और मुमुक्षु की पात्रता का श्रीगणेश होता है। अत एव शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री में स्पष्ट कहा है—

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे ।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे ।।

उपदेशसाहस्री, पार्थिवप्रकरण ७२

उपदेशसाहस्री के इस वचन के अनुसार ऐसे मुमुक्षु के लिये ही आत्मज्ञान का उपदेश करना चाहिए जिसका चित्त प्रशान्त हो, जिसने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया हो, जिसका चित्त पूर्णतया शुद्ध हो, जो निषिद्ध काम्यकर्म के वर्जनपूर्वक पूर्वोक्त नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान करता हो, जिसमें विवेक-वैराग्यादि गुण विद्यमान हों, जो गुरु का अनुगामी हो और गुरुवाक्यों में श्रद्धा रखता हो।

अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन में मनोनिग्रह की आवश्यकता

योगदर्शन में मनोनिग्रह के लिये अभ्यास-वैराग्य पर बल दिया गया है। पतञ्जलि का सूत्र है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

योगसूत्र १/१२

अपने अन्तःकरण में निहित साधुता के विकास के लिये मैत्री-करुणा, मुदिता-उपेक्षा भावना की सुखी-दुःखी, पुण्यशील-अपुण्यकारी व्यक्तियों के प्रति निरत्यय आवृत्ति करनी चाहिए। चित्तप्रसादन के ये चार आधारभूत स्तम्भ हैं। पतञ्जलि का सूत्र है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना-तश्चित्तप्रसादनम् ।

योगसूत्र १/३३

सदानन्द ने भी वेदान्तसार में इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त किया है। वचन है—

शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः ।

वेदान्तसार ४

इस वचन के अनुसार वेदान्तविद्या के अधिकारी के लिये शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा की आवश्यकता बतलाई है। शमादि का स्वरूप है—

शम—अन्तःकरण की संसर्गनिवृत्ति को शम कहते हैं।

दम—बाह्य इन्द्रियों के निग्रह को दम कहते हैं।

उपरति—विक्षेपकारी ध्येयातिरिक्त वृत्ति का उदय न होना उपरति है।

तितिक्षा—शीतोष्णादि द्वन्द्वसहन को तितिक्षा कहते हैं।

समाधान—चित्त की एकाग्रता को समाधान कहते हैं।

श्रद्धा—वेदान्तशास्त्रवचनों पर विश्वास रखना श्रद्धा है।

श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा के प्रयोजन परिच्छेद में शमादि षट्सम्पत्ति के ज्ञान को ही नहीं, अपितु उन्हें जीवन में उतारने पर बल दिया है। षट्सम्पत्ति के अन्तिम भेद 'श्रद्धा' के विषय में योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव का मत है कि श्रद्धा कल्याणी जननी की भाँति योगी की रक्षा करती है, ऐसा कहकर बौद्धिक चिन्तन के समस्त प्रस्थानों में विराम लगा दिया और उनको एक सूत्र में ग्रथित कर दिया है। वचन है—

श्रद्धा = चेतसः सम्प्रसादः सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/२०

अद्वैतवेदान्त एवं योगदर्शन में ज्ञान-प्रक्रिया का साम्य

वेदान्तपरिभाषा के लेखक धर्मराजाध्वरीन्द्र अद्वैतवेदान्त के प्रमुख विवेचकों में हैं। वृत्ति के सम्बन्ध में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने विशेषरूप से विचार किया है। वृत्ति का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है—

तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुःकोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिना निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते । स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते ।

वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद

इस गद्यखण्ड का अर्थ यह है कि जिस प्रकार तडाग का जल तडाग के किसी एक छिद्र द्वारा निकलकर एवं कुल्या (नहर) रूप को प्राप्त होकर उन केदारों (क्यारियों) तक पहुँचकर तदनुरूप त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकारों को प्राप्त होता है। उसी प्रकार तैजस होने के कारण अन्तःकरण भी नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा निकलकर घट, पटादि देश पहुँचकर घट, पटादि विषय रूप से परिणाम को प्राप्त होता है। यही परिणाम 'वृत्ति' है।

योगसूत्रकार पतञ्जलि ने त्रिविध प्रमाण माने हैं—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।

योगसूत्र १/७

प्रत्यक्षप्रमाण का स्वरूप निर्धारित करते हुए योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव ने जिस शब्दावली का प्रयोग किया है और योगभाष्य के टीकाकार विज्ञानभिक्षु ने उसका जो व्याख्यान प्रस्तुत किया है, उससे वेदान्त की उक्त विषयवस्तु का परिदृश्य उपस्थित होता है। भाष्यकार व्यासदेव लिखते हैं—

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया... वृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणम् ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/७

व्यासदेव के उक्त वचन की टीका करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—

इन्द्रियाण्येव नाडी चित्तसंचरणमार्गाः तैः संयुज्य तद्गोलकद्वारा बाह्यवस्तुषूपरक्तस्य चित्तस्येन्द्रियसाहित्येनैवार्थाकारः परिणामो भवति ।

योगवार्त्तिक, योगसूत्र १/७

वेदान्त के आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र एवं योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेवसहित टीकाकार विज्ञानभिक्षु (दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों) ने 'तैजस अन्तःकरण' और चित्त को इन्द्रियप्रणाली के माध्यम से विषयदेश

तक पहुँचकर तदाकार (घटादि अर्थाकार) में परिणाम होने का तथ्य स्वीकार किया है। योग की भाँति वेदान्त भी अर्थाकारपरिणाम का पक्षधर है। इस अंश में दोनों दर्शनों में समानता है।

वेदान्त और योगदर्शन में अन्तःकरण की मान्यता

वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने प्रत्यक्षपरिच्छेद में अन्तःकरण के निरूपण को उपकारक माना है। तदनुसार अन्तःकरण एक होता हुआ भी संशय, निश्चय, गर्व और स्मरणनामक वृत्तिभेद से मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त इन चार शब्दों से व्यवहृत होता है। एतावता संशयाकारवृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को **'मन'**, निश्चयाकारवृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को **'बुद्धि'**, गर्वाकारवृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को **'अहंकार'** तथा स्मरणाकारवृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को **'चित्त'** संज्ञा प्राप्त होती है। वचन है—

सा च वृत्तिश्चतुर्विधा संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणमिति । एवंविधवृत्तिभेदेन एकमप्यन्तःकरणं मन इति बुद्धिरिति अहंकार इति चित्तमिति व्याख्यायते ।

वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद

अपने उक्त विवेचन के समर्थन में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तदर्शनपरम्परा से एक श्लोक भी उद्धृत किया है—

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम् ।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ।।

वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद

उक्त व्याख्यान को अद्वैत का पुट प्रदान करते हुए वेदान्तपरिभाषाकार ने स्पष्ट किया है कि शुद्धचैतन्य ही उपाधिभेद से तीन प्रकार का है—

१. **विषयचैतन्य**—घटादि से अवच्छिन्न अर्थात् जितने स्थल में घट स्थित है, उतने स्थल में वर्तित होने वाले चैतन्य का नाम 'विषयचैतन्य' है।

२. **प्रमाणचैतन्य**—अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति जितने प्रदेश में रहती है, उतने प्रदेश में वर्तित होने वाले चैतन्य का नाम 'प्रमाणचैतन्य' है।

३. **प्रमातृचैतन्य**—इसी प्रकार जितने प्रदेश में अन्तःकरण रहता है, उतने अन्तःकरणावच्छिन्नप्रदेशवर्ती वृत्तिचैतन्य को 'प्रमातृचैतन्य' कहते हैं।

योगदर्शन के अनुसार 'अन्त:करण' के घटकों पर विचार करने से पूर्व उसके समानतन्त्र सांख्यदर्शन; जो सृष्टि-सम्बन्धी तत्त्व-विकास-परम्परा का प्रबल विचारक है, में अन्त:करण की स्थिति दर्शनीय है। सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण का उद्घोष है—

करणं त्रयोदशविधम् ।

सांख्यकारिका ३२

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यम् ।

सांख्यकारिका ३३

इस पर व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं—

अन्तःकरणं त्रिविधम्-'बुद्धिरहङ्कारो मन' इति,

शरीराभ्यन्तरवर्तित्वादन्तःकरणम् ।

सांख्यतत्त्ववैशादी, सांख्यकारिका ३३

सांख्याचार्यों ने बुद्धि, अहंकार और मन—इन तीन घटकतत्त्वों के समूह को स्पष्टतया 'अन्त:करण' नाम से पुकारा है।

योगदर्शन सांख्यीय तत्त्वों की समाधानभूमि, साक्षात्कारभूमि और है—साधनाभूमि। पतञ्जलि का योगदर्शन साधना की पाठशाला है। योग की प्रयोगशाला में अनुभव की प्रणाली से दृष्टिप्राप्त साधक शिक्षित होता है। 'अनुभव' साधक का अन्तिम मापदण्ड है। वृत्तिनिरोध में पर्यवसित योगदर्शन में तत्त्वों की प्रासंगिक चर्चामात्र हुई है। इस दिशा में एक सूत्र अत्यन्त उपयोगी है। वह सूत्र है—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।

योगसूत्र २/१९

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार एवं टीकाकारों ने अपना अविरुद्धमत इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

१. विशेष—पञ्चमहाभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय एवं मन ये सोलह तत्त्व 'विशेष' वर्ग में आते है। 'अविशेष' वर्गीय तत्त्वों से पृथक् होने के कारण इन्हें 'विशेष' नाम से पुकारा जाता है।

२. अविशेष—पञ्चतन्मात्र एवं अस्मितामात्र अहंकार ये छः तत्त्व 'अविशेष' वर्ग में संगृहीत हैं। विशेषवर्गीय सोलह तत्त्व 'कार्य' रूप हैं, उनके 'कारण' रूप ये छः तत्त्व हैं। पञ्चमहाभूत का कारण पञ्चतन्मात्र है तो एकादशगण (पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय एवं मन) का कारण है—अहंकार (अस्मिता)।

३. लिङ्गमात्र—महत्तत्त्व; जिसे बुद्धि भी कहते हैं, 'लिङ्गमात्र' (एकतत्त्व) है।

४. अलिङ्ग—अव्यक्त को अलिङ्ग कहते है। यही प्रधान और प्रकृति पदवाच्य है। यही वेदान्त की माया है।

इस प्रकार सांख्यसम्मत अन्तःकरण के तीन घटक बुद्धि, अहंकार और मन की अन्तःसङ्गति लग जाती है। विचारणीय बिन्दु यह है कि योग के बीजसूत्र—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (योगसूत्र १/२) में उल्लिखित 'चित्त' तत्त्व कौन है? क्या यह पृथक् तत्त्व है? अथवा अन्तःकरणत्रय का सामूहिक नाम है? योगसूत्र में इन चारों पदों के प्रयोग की स्थिति इस प्रकार है—

'चित्त' पद का प्रयोग—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

योगसूत्र १/२

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-
भूमिकत्वानवस्थितत्त्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।

योगसूत्र १/३०

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या-
पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।

योगसूत्र १/३३

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।

योगसूत्र २/५४

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।

योगसूत्र ४/४

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकञ्चित्तमेकमनेकेषाम् ।

योगसूत्र ४/५

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्था ।

योगसूत्र ४/१५

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ।

योगसूत्र ४/१६

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञानम् ।

योगसूत्र ४/१७

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्

योगसूत्र ४/१८

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ।

योगसूत्र ४/२३

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ।

योगसूत्र ४/२१

'बुद्धि' पद का प्रयोग—

चित्तान्तरदृश्यत्वे बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ।

योगसूत्र ४/२१

चितेरप्रतिसङ्क्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्

योगसूत्र १/३५

'मन' पद का प्रयोग—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ।

योगसूत्र १/३५

धरणासु च योग्यता मनसः ।

योगसूत्र २/५३

'अस्मिता' (अहंकार) पद का प्रयोग—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।

योगसूत्र २/६

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।

योगसूत्र ४/४

महर्षि पतञ्जलि के उक्त सूत्रों में प्रयुक्त चित्त-बुद्धि-मन-अस्मिता इन चारों पदों के वाच्यभूत तत्त्वों में 'वृत्तिनिरोधत्व' बीज सन्निहित है। अत: व्यासभाष्य के टीकाकार विज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक में 'चित्त' को अन्त:करणसामान्य कह कर योगदर्शन में अन्त:करण के चतुर्भेद के सिद्धान्त की स्थापना की है। विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—

चित्तमन्तःकरणसामान्यमेकस्यैवान्तःकरणस्य वृत्तिभेदमात्रेण चतुर्धाऽत्र दर्शने विभागात् ।

योगवार्त्तिक, योगसूत्र १/२

द्वितीय समाधानपक्ष यह है कि चित्त और मन की एकता मानी जा सकती है। वाचस्पतिमिश्र ने 'मन' के लिये 'चित्त' पद का प्रयोग भी किया है—

एता वृत्तयोऽल्पेनैव कालेनोत्पन्नाश्चित्तम् ... निबध्नन्ति ।

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र २/३५

विज्ञानभिक्षु ने तो मन और चित्त की एकता मानते हुए अन्त:करणत्रय के सिद्धान्त को भी स्पष्टत: संरक्षित किया है—

अत्र च मनस इति वचनात् मनश्चित्तयोरेकतैव बोध्यम् ।

योगवार्त्तिक, योगसूत्र २/३५

फलाभिसन्धि है कि अद्वैतदर्शन की भाँति योगदर्शन को अन्त:करणचतुष्टयवादी मानने से कोई वचोव्याघात नहीं होता है। वेदान्तदर्शन की भाँति योगदर्शन में भी संशय मन का, निश्चय बुद्धि का तथा गर्व (अभिमान) अहंकार का विषय है। वेदान्त में स्मरण चित्त का विषय बतलाया है इसका समायोजन मन, बुद्धि और अहंकार के विषय के स्मरण के रूप में किया जा सकता है।

अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन में 'अविद्या' की अवधारणा

अविद्या-सम्बन्धी सिद्धान्त की कथा उतनी ही पुरानी एवं रहस्यमयी है जितनी जीवविज्ञान की कहानी। बीजाङ्कुरन्याय से इसकी अनादिता-अनन्तता सबको एक कण्ठ से स्वीकार्य है। भले ही, तत्-तद् दर्शनों की चिन्तनपद्धति ने इसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकार कर उसके बाह्यस्वरूप को

प्रभावित किया हो, किन्तु अग्नि की दाहकत्वशक्ति की भाँति उसका मूलभूतस्वरूप सर्वथा एवं सर्वदा एकरूप रहा है। इतना ही नहीं, आविद्यिक अवस्था में ही अस्तित्वधारी जीव की एक उत्कृष्टतम प्रजाति महामानव ने ऋषि-महर्षि उपाधि से विभूषित होकर दर्शनशास्त्र का आविर्भाव किया, अन्यथा जीवन के इस बौद्धिक विकास-क्रम को पूर्णविराम लग जाता। अस्तु

अविद्या एवं मायावाद के सिद्धान्त के आधार पर ही आचार्य शङ्कर ने अद्वैतवाद का ढाचा खड़ा किया है। अविद्या अज्ञान का पर्याय है। अद्वैतवेदान्त में अविद्या अथवा अज्ञान की दो शक्तियाँ स्वीकार की गई हैं— आवरणशक्ति तथा विक्षेपशक्ति ।

आवरणशक्ति और योगदर्शन

आत्मा के वास्तविक स्वरूप अर्थात् आत्मा के सत्-चित्-आनन्दस्वरूप को आवृत्त कर लेने के कारण अज्ञान की इस शक्ति को आवरणशक्ति कहते हैं। आवरणशक्ति के द्वारा वस्तु अन्यथारूप से भासित होती है। आवरणरूपा अविद्या अध्यारोप की जननी है। अध्यास का लक्षण वेदान्त में **'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः'** (ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, उपोद्घात) कहकर किया गया है। योगदर्शन के अन्तर्गत भोजवृत्ति में अविद्या का लक्षण **'अतस्मिंस्तत् प्रतिभासो अविद्या** (भोजवृत्ति, योगसूत्र २/५) कहकर किया गया है। इस प्रकार योगदर्शन की अविद्या भी आरोपवाद की ही समर्थक है। शुक्ति में रजत का आभास अविद्याजन्य आरोप ही है। पतञ्जलि का सूत्र है—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानं अतद्रूपप्रतिष्ठम् ।

योगसूत्र १/८

महर्षि पतञ्जलि ने—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।

योगसूत्र २/५२

सूत्र में 'प्रकाशावरण' पद के द्वारा अविद्या की आवरणक्रिया को ही उपपादित किया है जो बुद्धिरूप प्रकाश को आवृत्त करती है। ऐसा आवरण क्लेशकारी होता है, अतः विपर्यय के अन्तर्गत आता है। यह तथ्य वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में स्पष्ट किया है। उनका वक्तव्य है—

आव्रियतेऽनेन बुद्धिसत्त्वप्रकाश इत्यावरणं क्लेशः ।

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र २/५२

विक्षेपशक्ति और योगदर्शन

ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त जगत् की सृष्टि करने के कारण अज्ञान की यह शक्ति विक्षेपशक्ति कही जाती है। शङ्कराचार्य ने विवेकचूडामणि में विक्षेपरूपा अविद्या को रागादि एवं दुःखादि मानसिक विकारों की जननी कहा है—

रागादयोऽस्या प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः ।

विवेकचूडामणि

पातञ्जलयोग में भी अविद्या को रागादि की प्रसवभूमि कहा गया है। व्यासभाष्य में लिखा है—

अविद्याक्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनाम् ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र २/४

जिस प्रकार वेदान्तदर्शन के अनुसार मिथ्याज्ञानरूपा अविद्या ही समस्त क्लेशों की जननी है और पूर्ण ज्ञान द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने पर क्लेशादि की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार योगदर्शन के अन्तर्गत भी अविद्या को ही समस्त क्लेशों का मूल कहा गया है और उसी अविद्या की निवृत्ति होने पर क्लेशों का पूर्णतया नाश हो जाता है।

अद्वैतदर्शन में विक्षेपशक्ति को दुःखादि मानसिक विकारों की जननी कहा है। योगदर्शन में भी विक्षेपशक्ति की भयावहता कुछ इस प्रकार कही गई है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।

योगसूत्र १/३०

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ।

योगसूत्र १/३१

योग दर्शन में इन दो सूत्रों के द्वारा अविद्या की विक्षेपकारी स्थिति का उपपादन हुआ है। इस प्रकार विचार करने पर वेदान्त और योगदर्शन के

अविद्यासम्बन्धी दृष्टिकोण में पर्याप्त साम्य प्रतीत होता है। अन्तर इतना है कि वेदान्त में अविद्या का शक्तिरूप में प्रतिपादन मिलता है, उसका योगदर्शन में अभाव है। किन्तु इतना सुविचार्य है कि योगदर्शन में 'अविद्या' विद्या की अभावरूपा अवस्था नहीं, अपितु वह विद्याविरोधी भावपदार्थ है, अत: उसकी शक्तिमत्ता का सहज आकलन किया जा सकता है।

अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन में ईश्वर की मान्यता

योगदर्शनसम्मत ईश्वर एक विलक्षण पुरुषविशेष है। इसके विपरीत अद्वैतवेदान्तियों का ईश्वर मायाशक्तिसम्पन्न है। मायाशक्तिसम्पन्न ईश्वर ही सृष्टि का रचयिता है। विना मायाशक्ति के ईश्वर का स्रष्टृत्व नहीं सिद्ध होता है। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में आचार्य शङ्कर ने लिखा है—

न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति ।

शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र १/४/३

योगदर्शन के पुरुषविशेष ईश्वर के लिये इस प्रकार की किसी शक्ति की अपेक्षा नहीं है। वह तो क्लेशकर्मविपाकाशय से अपरामृष्ट पुरुषविशेष के रूप में वर्णित है। पतञ्जलि का सूत्र है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

योगसूत्र १/२४

योगदर्शन में ईश्वर को स्रष्टृत्वरूप में नहीं उपपादित किया गया है। किन्तु हाँ, योगसूत्र के टीकाकारों ने ईश्वर को प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त से युक्त बतलाया है। प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्तरूप उपाधि के साथ ईश्वर का सम्बन्ध अविद्यामूलक न होकर जीवों के कल्याणार्थ आहार्यज्ञानपूर्वक है। अत: योगदर्शन में सृष्टिकर्त्ता के रूप में नहीं, अपितु ध्यान के विषयरूप में ईश्वर की परिकल्पना हुई है। चित्तवृत्तिनिरोधार्थ ईश्वर की वैकल्पिक व्यवस्था है। सूत्रद्वय द्रष्टव्य हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।

योगसूत्र १/२३

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

योगसूत्र १/२८

ईश्वर में उद्धारेच्छा

ईश्वर का अपनी उपाधि के साथ सम्बन्ध होने का प्रयोजन यह है कि ज्ञान और धर्म के उपदेश द्वारा तापत्रय से पीडित मानवमात्र का संसार के आवागमन से उद्धार कर सकूँ, न कि अविद्या के कारण। अविद्या को अवास्तविक समझने वाला व्यक्ति भ्रान्त नहीं होता है। तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—

नेश्वरस्य पृथग्जनस्येवाविद्यानिबन्धनश्चित्तसत्त्वेन स्वस्वामिभावः, किन्तु तापत्रयपरीतान् प्रेत्यभावमहार्णवाज्जन्तूनुद्धरिष्यामि ज्ञानधर्मोपदेशेन ।

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १/२४

इतना ही नहीं, प्रत्येक सृष्टि के संहारकाल में ईश्वर ऐसा सङ्कल्प करके प्रकृष्टचित्तसत्त्व को मूलकारण प्रकृति में तिरोहित करता है कि प्रलय की अवधि समाप्त होने पर जीवकल्याणार्थ विशुद्धचित्त को पुनः धारण करूँगा—

अनादौ तु सर्गसंहारप्रबन्धे सर्गान्तरसमुत्पन्नसंजिहीर्षाऽवधिसमये पूर्णे मया सत्त्वप्रकर्ष उपादेय इति प्रणिधानं कृत्वा भगवान् जगत्संजहार ।

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १/२४

उपर्युक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि 'ईश्वरोपाधि' की कल्पना में अद्वैतवेदान्त एवं योगदर्शन में किसी अंश में समानता है। रही बात भूतानुग्रह की तो कहा जा सकता है कि अद्वैतवेदान्त एवं योगदर्शन में ईश्वर में लोकोद्धार की प्रवृत्ति समान ही है। अद्वैतवेदान्त में भी ईश्वर की लीलारूप प्रवृत्ति का समर्थन किया गया है। तभी अधोलिखित ब्रह्मसूत्र की सङ्गति लगाई जा सकती है—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।

ब्रह्मसूत्र २/१/३३

उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए शङ्कराचार्य ने स्पष्टतया लिखा है—

ईश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किंचित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति ।... परमेश्वरस्य लीला, अपरिमितशक्तित्वात् ।

शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र २/१/३३

अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन की मुक्ति

अद्वैतवेदान्त एवं योगदर्शन दोनों दर्शनपद्धतियों में मुक्ति को स्वीकार किया गया है। अद्वैतवेदान्त में जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की जो विवेचना मिलती है, वैसी योगदर्शन में नहीं है। योगदर्शन में मुक्ति को कैवल्य कहा है। योगसूत्र के कैवल्यपाद का अन्तिम सूत्र इस दिशा में अत्यन्त सहायक है। सूत्र है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।

योगसूत्र ४/३४

योगदर्शन में पुरुषार्थशून्य चरिताधिकार गुणों की तत्पुरुषीय आत्यन्तिक लयावस्था कैवल्य है, यह प्रथम कैवल्य है और चितिशक्तिरूप पुरुष की अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थिति, यह द्वितीय कैवल्य है। दूसरे शब्द में बुद्धि के साथ पुरुष के औपाधिक सम्बन्ध की आत्यन्तिक निवृत्ति (परस्परसंबन्धनिरपेक्षता) से बुद्धिकैवल्य और पुरुषकैवल्य दोनों कैवल्य निष्पादित होते हैं।

जहाँ तक अद्वैतवेदान्तियों की जीवन्मुक्ति की वार्ता है, तो क्या इसके समकक्ष सम्प्रज्ञातसमाधिसम्पन्न साधक को नहीं रखा जा सकता है? विवेकख्यातिसम्पन्न साधक की अवशिष्ट जीवनयात्रा जीवन्मुक्ति का पर्याय है और विवेकज्ञानपूर्वक उपायप्रत्ययक साधक की सर्ववृत्तिनिरोध की अवस्था के साथ आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक देहत्यागक्रिया विदेहमुक्ति है। यह विदेहमुक्ति—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।

योगसूत्र १/२०

इस सूत्र से ध्वनित हुई है। सम्पूर्ण योगसूत्र में मात्र एक स्थान पर 'विदेह' शब्द का प्रयोग मिलता है। परन्तु इस 'विदेह' शब्द से अद्वैतवेदान्त में प्रतिपादित विदेहमुक्ति को नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यह भवमूलक है। इस स्थिति में साधक की सर्ववृत्तियों का निरोध तो हो जाता है किन्तु अनात्म वस्तु में आत्मभाव का अविद्यारूप बीज अवस्थित रहता है, जो साधक के पुनर्भव का कारण बनता है। योगशास्त्र को ऐसी मुक्ति स्पृहणीय नहीं है।

दोनों दर्शनों में समानता इस अंश में है कि अविद्यानिवृत्ति होने पर ही मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य अथवा अपवर्ग मिलता है।

निष्कर्ष

ब्रह्मसूत्र में एक सूत्र आता है—

एतेन योगः प्रत्युक्तः ।

ब्रह्मसूत्र २/१/३

योगप्रयुक्त्यधिकरण में आगत इस सूत्र का प्रथमदृष्ट्या यही अर्थ प्रतीत होता है कि सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यान से योगस्मृति भी प्रत्याख्यात हो जाती है। किन्तु शाङ्करभाष्य के अनुशीलन से यह विदित होता है कि यहाँ वेदनिरपेक्ष सांख्यज्ञान अथवा योगमार्ग से नि:श्रेयस् की समधिगता निराकृत हुई है, न कि वेदसापेक्ष (वेदानुमोदित) सांख्ययोग की। शङ्कराचार्य लिखते हैं—

निराकरणं तु-न सांख्यज्ञानेन वेदनिरपेक्षेण योगमार्गेण वा निःश्रेय-समधिगम्यत इति।

शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र २/१/३

इस प्रकार वेदान्तदर्शन और योगदर्शन के उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि दोनों दर्शनपद्धतियों के सिद्धान्तों में पारस्परिक साम्य भी है, भले ही प्रतिपादन-शैली भिन्न-भिन्न हो। वेदान्तदर्शन में जिन विषयों का प्रतिपादन सैद्धान्तिकरूप से ही किया गया है, योगदर्शन में उनका विवेचन व्यावहारिकरूप में मिलता है। चित्तवृत्तिनिरोध आदि के उपाय योग के व्यावहारिक विवेचन ही हैं। अत: वेदान्ती को योग की महती उपादेयता माननी चाहिए। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त एवं योगदर्शन का सम्बन्ध स्वत: सिद्ध है।

●

योग से ही वेदान्त की उत्पत्ति

विना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती—**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।**

ज्ञान से ही मुक्ति होती है—**ज्ञानान्मुक्तिः ।**

इसके विपरीत अज्ञान से बन्ध होता है—**बन्धो विपर्ययात् ।**

अतः यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि कैवल्य पद की प्राप्ति केवल ज्ञान से ही होती है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक शास्त्रजन्यज्ञान, दूसरा विवेकजन्यज्ञान। इनमें शास्त्रजन्यज्ञान निम्न श्रेणी का है, क्योंकि दीपक की बात करने से ही अन्धकार कभी दूर नहीं हो सकता है—

न निवर्तेत तिमिरं कदाचिद् दीपवार्तया ।

इस उक्ति के अनुसार केवल शास्त्रजन्यज्ञान कभी मोक्ष का साधन नहीं हो सकता है। परन्तु जो योगाङ्गों के अनुष्ठान से निष्पादित विवेकजन्य ज्ञान है, वही मुक्ति-मन्दिर के कपाट को उद्घाटित करने में समर्थ है, यह सर्वशास्त्रसमम्त सिद्धान्त पूर्वनिर्दिष्ट है। विष्णुपुराण में भी कहा है—

आत्मोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते ।
शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम् ।।

विष्णुपुराण ६/५/६१

अर्थात् ज्ञान के दो प्रकारों में शब्दब्रह्म का ज्ञान शास्त्रजन्य है तथा परब्रह्म का विवेकजन्य। विवेक की प्राप्ति का उपाय पतञ्जलि ने योगदर्शन में बतलाया है—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।

योगसूत्र २/२८

इस सूत्र की व्याख्या के रूप में योग के साधनरूप से जो अग्रिम सूत्र में कहे जाने वाले हैं, वे ही योगाङ्ग हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।

योगसूत्र २/२९

इन योगाङ्गों के अनुष्ठान से अर्थात् श्रद्धा और उत्साह के साथ गुरु के द्वारा उपदिष्ट साधना के अनुसार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि का निष्पादन करने से ज्ञानदीप्तिपूर्वक अशुद्धि का क्षय हो जाता है। यहाँ 'अशुद्धि' शब्द से उस पञ्च पर्वा अविद्या का ग्रहण होता है, जिसके द्वारा उत्क्रमण और गमनागमन का आश्रय लेकर जीव कूपरज्जु से आबद्ध घट की तरह इस संसार-सागर में परिभ्रमण करता रहता है, ऐसी अविद्यारूपी अशुद्धि का क्षय अर्थात् तिरोभाव (लोप) होता है। अथवा अविद्याबीज दग्धवत् हो जाता है, किन्तु पूर्णतया विनष्ट नहीं होता। क्यों नहीं होता? क्योंकि कारण का लय होने पर नाश होता है। जैसा कि सांख्यसूत्र में कहा गया है—

नाशः कारणलयः ।

सांख्यसूत्र १/१२१

महाभारत के अधोलिखित वचन से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है—

गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव प्रविशन्ति च ।

महाभारत शान्तिपर्व ३०५/२३

अर्थात् गुण गुणों से उत्पन्न होते हैं और उन्हीं में लीन होते हैं। विज्ञानवेत्ताओं का कहना है कि ईश्वर की सृष्टि में किसी भी पदार्थ का आत्यन्तिक विनाश नहीं होता है। अन्यथा—

न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ।

सांख्यसूत्र १/१७

नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव के पुरुष का प्रकृति से संयोग के अतिरिक्त बन्धन नहीं होता—इत्यादि वचनों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। इस प्रकार पूर्वोक्त अशुद्धि का क्षय हो जाने पर ज्ञानदीप्ति होती है। जिसके द्वारा सजातीय और विजातीय वस्तुओं के विभागपूर्वक त्याज्य और ग्राह्य वस्तु जानी जाय, वही ज्ञान है।

सर्वे वै ज्ञानिनो लोके पशुपक्षिमृगादयः—संसार में पशु, पक्षी और मृग आदि जितने भी जीव हैं सभी ज्ञानी हैं, इस लोकोक्ति के अनुसार

आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि के ज्ञान में आसक्त हुए सर्वसाधारण जीवों में ज्ञान का सम्बन्ध नहीं मानना चाहिए। अपितु योगाङ्गों के अनुष्ठान के बल से अविद्यारूपी लता का उच्छेद कर देने पर शनैः-शनैः जो आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है, उसी ज्ञान को तत्त्वज्ञों ने शास्त्र में प्रतिपादित किया है। इस विशिष्टज्ञान की दीप्ति-अभिव्यक्ति-प्रकाश होता है। यदि प्रश्न किया जाय कि ज्ञान का प्रकाश कब तक अभिव्यक्त होता है? इसका उत्तर सूत्र में ही समाहित है—

.... आविवेकख्यातेः ।

योगसूत्र २/२८

विवेकख्यातिपर्यन्तं ज्ञेयं प्रकृतिचेष्टितम् ।

पञ्चशिखाचार्यवचन

पञ्चशिखाचार्य की उक्ति से भी यही बात सिद्ध होती है। 'विवेक' शब्द का अर्थ है—जिसके द्वारा ब्रह्म आदि के ज्ञान का विवेचन-अवधान-निश्चय किया जाय। इसका निहितार्थ यह है—

यह अन्तर्यामी आत्मा निर्गुण होकर भी कूटस्थ होने के कारण एकरस है और सत्त्वादि त्रिगुणमयी प्रकृतिदर्पण का अनुसरण करता है। जिस समय वैराग्यसहित अष्टाङ्गयोग के अनुष्ठानरूप जल से इस प्रकृतिरूप दर्पण को प्रक्षालित किया जाता है, उस समय अविद्या, अस्मिता आदि क्लेशरूप मल से रहित हो जाने पर इस प्रकृतिरूप दर्पण में पुरुष का वास्तविक स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है, जिससे यह पुरुष विवेकमयी ज्योति को प्राप्त कर लेता है और तू प्रकृति है—मैं पुरुष हूँ, तू जड है—मैं चेतन हूँ, तू दृश्य है—मैं द्रष्टा हूँ, तू कर्त्री है—मैं अकर्ता हूँ, तू विकृत होती है—मैं निर्विकार हूँ, तू चञ्चला है, मैं अचल हूँ, तू संघातरूप है—मैं एकरूप हूँ, तू भ्रान्त है—मैं निर्भ्रान्त हूँ, तू मुक्त होना चाहती है—मैं नित्यमुक्त हूँ, इत्यादि प्रकार से प्रकृति के दोषों को स्फुटित करता है। इसके लिये सांख्य की अधोलिखित कारिका स्मर्तव्य है—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ।।

सांख्यकारिका ११

इसके पश्चात् पुरुष से संयोग होने पर भी प्रकृति लज्जित कुलवधू की तरह पुन: दर्शनार्थ उपस्थित नहीं होती है—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ।।

सांख्यकारिका ६१

यही तथ्य श्रीमद्भागवत में वर्णित है कि जो उपभोग करके त्याग दी गई है, जिसके प्रतिदिन दोष देखे जा रहे हैं, ऐसी वह प्रकृति अपनी महिमा में स्थित हुए ईश्वर (पुरुष) का अमङ्गल नहीं करती है। वचन है—

भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः ।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ।।

श्रीमद्भागवत ३/२७/२४

इधर पुरुष भी उस विमल प्रकृतिरूप दर्पण में सरोवर में प्रतिबिम्बित तटीय वृक्षों की भाँति, प्रतिबिम्बित होकर सम्पूर्ण ग्राह्य और त्याज्य वस्तुओं का सङ्कलन करता हुआ निर्लेप तुम्बी की भाँति स्वभावत: केवल होकर भी योगाभ्यास से कैवल्यनामक आनन्द का अनुभव करता है। जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् २/१४

केवल शास्त्रीय ज्ञान रखने वाले वेदान्तियों की यही चरम समाधि है, परन्तु परब्रह्म की प्राप्ति तो विवेकजन्य ज्ञान से ही होती है और विवेक होता है अष्टाङ्गयोग के अनुष्ठान से। योगाभ्यास के विना कोई भी शुष्क वेदान्ती परब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकता। कहा भी है—

निर्विकल्पसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।
अन्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ।।

विवेकचूडामणि ३६५

निर्विकल्पक समाधि के द्वारा ही निश्चितरूप से ब्रह्मतत्त्व का स्फुट ज्ञान होता है। अन्यथा मन की चंचल गति के कारण वह ब्रह्मतत्त्व विजातीय प्रतीतियों से मिश्रित हो जाता है।

परन्तु सदा ही इन्द्रियों का रस सेवन करने वाले; स्त्री, पुत्र आदि भौतिक सम्पदा से उदासीन न रहने वाले; व्यर्थ ही आत्मवाद पर वितण्डा करने वाले; कपटभाव से केसरिया वस्त्र धारण करने वाले मिथ्याचारियों और अपने अन्तःकरण में चण्डियों का चिन्तन करने वाले नामधारी योगी, संन्यासी, विरागी, ब्रह्मवादी, परमहंस, कर्मयोगी, महात्मा आदि को निर्विकल्पक समाधि की सिद्धि नहीं होती है। इसलिये जो लोग—

क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ।

मुण्डकोपनिषद् ३/१/४

'क्रियावान् ही ब्रह्मवेत्ताओं में अत्यन्त उत्तम है' इस श्रुति के रहस्य की अवहेलना करके धर्माचरण और समाधि से शून्य होकर—

अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि ।

इत्यादि वाग्देवता को जीवनोपार्जन का साधन समझते हैं, वे केवल शास्त्र का ज्ञान रखने वाले वेदान्ती शोचनीय हैं। क्योंकि वेद की ऋचा भी यही कहती है—

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/८

यही नहीं, श्रुति योगरहस्य का भी उपदेश करती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।

मुण्डकोपनिषद् ३/२/३

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यास ! योगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।।

मुण्डकोपनिषद् ३/२/६

इस श्रुति का अभिप्राय वेदान्तसिद्धान्त के द्वारा संन्यासी के प्रति योग की महिमा प्रकट करना है—जिसने संन्यास ले लिया है उस संन्यासी को ही यहाँ संन्यास कहा है। संन्यास शब्द में 'मतुप्' प्रत्यय के अर्थ में **'अर्श आदिभ्योऽच्'** (५/२/१२७) इस पाणिनि सूत्र से 'अच्' प्रत्यय हुआ है।

अतः संन्यास पद का अर्थ है—संन्यासी। श्रुति के **'संन्यास! योगात्'** इस पद में संन्यास सम्बोधन का रूप है। अर्थात् हे संन्यास = हे संन्यासिन्! अष्टाङ्गयोग के अभ्यास से जिनके अन्तःकरण शुद्ध हो गये हैं ऐसे प्रयत्नशील यति = योगिजन लिङ्गदेह का परित्याग करते समय सर्वोत्तम अमरभाव को प्राप्त होकर ब्रह्मरूप लोक में मुक्त हो जाते हैं। पूर्वोक्त प्रक्रिया की सिद्धि के लिये श्रुति वेदान्तसिद्धान्त का प्रतिपादन करती है—**'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः'** वेदान्तों का जो विज्ञान है, उसे वेदान्तविज्ञान कहते हैं, उसमें ये सुष्ठुरूपेण निश्चित किये हुए सिद्धान्तभूत अर्थ हैं। तात्पर्य यह है कि वेदान्ती संन्यासियों के ये ही सिद्धान्त हैं कि पूर्वोक्त सभी योगी योग से शुद्धचित्त होकर लिङ्गशरीर का त्याग करते समय परम अमृतभाव को प्राप्त होकर मुक्त हो जाते हैं। यहाँ **'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः'** इस समस्त पद में बहुवचन का प्रयोग अत्यन्त आदर प्रदर्शन के लिये है। यह सिद्धान्त स्कन्दपुराण द्वारा भी समर्थित है—

आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते न हि ।

स्कन्दपुराण का. खण्ड ४१/४२

अर्थात् मुक्ति आत्मज्ञान से होती है और आत्मज्ञान विना योगाभ्यास के नहीं होता है। इसलिये शुष्क वेदान्तपरिभाषा का अध्ययन छोड़कर योगाभ्यास में चित्त को एकाग्र करना चाहिए। फिर समय आने पर योग से ही वेदान्तज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है।

●

भारतीय प्रस्तरकला और योग

'प्रस्तरकला' शब्द का अर्थ है विविध प्रकार से आकलित प्रकृष्ट प्रस्तरखण्ड। भारतखण्ड में चौंसठ प्रयोगात्मक कलाएँ हैं, जिनमें एक प्रस्तरकला है। दूसरी ओर वैदिकयुग से योगविद्या प्रचलित है। इस आलेख में यह विचार करना है कि ललितकला में योग का प्रादुर्भाव किस समय से हुआ तथा शनैः-शनैः इसका प्रचार कैसे बढता गया। भारतीय ललितकला का धर्म से अटूट सम्बन्ध है। जैसे-जैसे धर्म की भावना वृद्धि-ह्रास को प्राप्त होती गई, वैसे ही कला पर भी उसका प्रभाव परिलक्षित होता गया। गुप्तकाल से पूर्व भागवतधर्म का उदय हुआ। इसके प्रभाव से बौद्धधर्म में महायान की उत्पत्ति हुई। महायानधर्म ने बौद्धकला में एक नये युग का सूत्रपात किया। महायान (ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी) के जन्म से पूर्व मौर्य, शुङ्ग तथा आन्ध्रकलाओं में बुद्ध भगवान् के प्रतीक (बौद्धिवृक्ष, चूडा तथा धर्मचक्र आदि) की ही पूजा होती थी। सांची तथा अमरावती की वेष्टनी और तारणों पर इन्हीं के पूजा-प्रकार तथा बुद्ध की जन्मकथाओं (जातकों) का ही दिग्दर्शन देखने में आता है। महायान के प्रचार से उत्तर-पश्चिमी भारत में एक नवीन कला का जन्म हुआ, जिसे गान्धार नाम से जानते हैं। ईसा की पहली सदी से गान्धारकला में बुद्ध की मूर्तियाँ बनने लगीं, जो उन्हें महापुरुष एवं योगी समझकर तैयार की जाती थीं। गुप्तकाल में ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के कारण हिन्दू मूर्तियाँ बनने लगीं।

कला में योग

भारत में सबसे प्रथम बुद्ध भगवान् की मूर्ति गान्धारकला से प्राप्त होती है। अत एव प्रथम शताब्दी से पूर्व भारतीय कला में योग के प्रचार के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। बुद्ध सर्वोत्कृष्ट योगी थे। अतः उनकी मूर्तियाँ योगासनों तथा मुद्राओं से युक्त मिलती हैं। बौद्धकला से हिन्दूप्रस्तरकलापर्यन्त योग का प्रचार-प्रसार मिलता है। प्राचीन समय में मूर्तिकला धर्मप्रधान होने से देवताओं की ही प्रतिमाएँ यौगिक आसनों तथा

मुद्राओं से युक्त मिलती हैं। योगी स्वयं सिद्ध महात्मा हुआ करते थे। अत एव मूर्तिपूजा की उन्हें आवश्यकता अनुभूत न हुई। जाबालदर्शनोपनिषद् में कहा गया है कि योगी शिव को अपने अन्तःकरण में देखते हैं, प्रतिमाओं में नहीं। प्रतिमा तो अज्ञजनों के भावना करने के लिये निर्माण की गई हैं।

उपनिषद् का वचन है—

शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः ।
अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ।।

जाबालदर्शनोपनिषद् ४/५९

यही कारण है कि योगियों की विभिन्न भावनाओं से युक्त प्रतिमाएँ प्राचीनकाल में निर्मित नहीं होती थीं। किन्तु देवताओं की मूर्तियाँ उन भावों के साथ मिलती हैं। इस लेख में संक्षेप से योगसम्बन्धी आसन, मुद्रा तथा चक्र आदि का प्रतिपादन किया जा रहा है। जिससे बौद्ध एवं हिन्दू प्रतिमाओं में उनके रूपों का समन्वय स्थापित किया जा सके।

आसन

योगियों को समाधिस्थ तथा एकाग्रचित्त होने के लिये यह अपेक्षित रहता था कि वे समयानुकूल आसन लगाकर बैठें। योगशास्त्र में पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, पर्यङ्कासन आदि तेरह आसनों का वर्णन मुख्यतया मिलता है, किन्तु प्रस्तरकला में इन सब आसनों का प्रयोग नहीं किया जाता था। कला में पद्मासन का प्रयोग सर्वाधिक मिलता है। अथ च पर्यङ्कासन, वीरासन तथा ललितासन की अवस्था में भी मूर्तियाँ अल्प मिलती हैं।

पद्मासन

इस आसन में दाहिने चरण को बायीं जांघ पर तथा बायें चरण को दाहिनी जांघ पर रखा जाता है। इसके अतिरिक्त समाधिस्थ होने के लिये योगिजन हाथों से अन्य पैर के अंगूठे को पकड़ते थे, जो हाथ पीछे की ओर से सम्बद्ध होते थे। जैसा कि पीछे विवेचन किया गया है कि योगियों की मूर्तियाँ कम संख्या में बनती थीं, परन्तु इसी आसन में देवताओं की मूर्तियाँ मिलती हैं। देवता लोग हाथों में अन्य चीजें धारण करते थे अथवा उनका हाथ किसी मुद्रा में होता था। अतः शिल्पियों ने साधारण पद्मासन का

अधिक प्रयोग कियां है। बौद्ध तथा हिन्दूमूर्ति कला में भी पद्मासन का बहुत अधिक प्रयोग दिखलाई पड़ता है। भगवान् बुद्ध परम योगी थे। अत एव उनकी मूर्ति पद्मासन अवस्था में बनती थी, चाहे वह किसी मुद्रा में क्यों न हो।[१] भगवान् विष्णु और गणेश की भी मूर्तियाँ इसी अवस्था में उपलब्ध हो जाती हैं।[२] जैन तीर्थङ्करों की जितनी भी बैठी मूर्तियाँ हैं, वे सभी पद्मासन में हैं। मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से अनेक तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ मिली हैं। जो लखनऊ म्यूजियम में सुरक्षित हैं।

पर्यङ्कासन

इस आसन का भी प्रस्तरकला में प्रयोग दिखलाई पड़ता है। इसमें बायां पैर नीचे लटका रहता है तथा दाहिने पैर को ऊपर की ओर मोड़कर रखा जाता है। कभी-कभी दोनों पैर संकुचित दिखलाये जाते हैं। गोपीनाथ राव इस मुद्रा को सिंहासन कहते हैं। परन्तु यौगिक सिंहासन का भाव इसमें पूर्णरूप से परिदृष्ट नहीं रहता है।

योगासन

पद्मासन के पश्चात् योगासन का भाव प्रस्तरकला में योगशास्त्र में वर्णित योगासन के सदृश उपलब्ध होता है। इसमें दोनों पैरों को जंघाओं में रखा जाता है तथा हाथों को उत्तानभाव से आसन पर रखा जाता है। इस आसन में निर्मित प्रस्तरमूर्ति समाधिमुद्रा की प्रतीत होती है। दक्षिण भारत में विष्णु की ऐसी मूर्तियाँ समुपलब्ध हैं। इनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष योगशास्त्र से नहीं है, परन्तु इनकी पूजा से मनुष्य योग की ओर आकृष्ट होता है।

मुद्राएँ

शरीर के ऊपरी अङ्गों के प्रयोग को मुद्रा कहते हैं। योगशास्त्र में अनेक प्रकार की मुद्राओं के नाम मिलते हैं, जैसे नभोमुद्रा, मूलबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी आदि। परन्तु इन मुद्राओं का प्रयोग शिल्प में नहीं किया जा सका है। नाट्यशास्त्र में भी भरत मुनि ने साठ विभिन्न प्रकार

---

१. साहनी, कैटलॉग आफ सारनाथ म्यूजियम नं बी. १७०-१८०

२. एलेमेण्ड्स ....पृ० ५८, प्लेट नं. २४

की हस्तमुद्राओं का उल्लेख किया है।[१] परन्तु न तो यौगिक मुद्राओं का और न ही नाट्यशास्त्र में वर्णित हस्तविन्यास का ही प्रयोग प्रस्तरकला में हो सका है। शिल्पियों ने प्रस्तरकला में मूर्तियों के हस्तविन्यास से भिन्न-भिन्न मुद्राओं को प्रदर्शित किया है। मूर्तिविज्ञान के ज्ञाता इसी को मुद्रा के नाम से अभिहित करते हैं। मुख्यत: पांच प्रकार की प्रस्तरमुद्राएँ मिलती हैं।

ध्यान या योगमुद्रा

इस मुद्रा का प्रयोग जैन, बौद्ध तथा हिन्दू मूर्तिकला में दिखलाई पडता है। प्रस्तरप्रतिमा पद्मासन की अवस्था में बैठी रहती है। उस पर एक हथेली पर दूसरी हथेली रखी रहती है, जिनमें अंगुलियाँ प्रतिकूल दिशाओं में दिखलाई पड़ती हैं।

अभयमुद्रा

इसमें हाथ से अभय प्रदान करती हुई प्रतिमा दिखलाई जाती है। मूर्ति के दाहिने हाथ की अंगुलियाँ ऊपरी दिशा में सीधी रहती हैं तथा हथेली बाहर की ओर (देखने वाले की ओर) बनाई जाती है।

वरदमुद्रा

'वरद' शब्द से ही प्रकट होता है कि प्रतिमा आशीर्वाद देती हुई दिखलाई जाती है। गोपीनाथ राव का मत है कि बायें हाथ की अंगुलियाँ नीचे की ओर लटकी रहती हैं और हथेली बाहर की ओर उन्मुक्त रहती है।[२] परन्तु सर्वत्र ऐसी स्थिति नहीं होती। हिन्दू तथा बौद्ध मूर्तियों में दाहिना हाथ वरदमुद्रा में पाया जाता है। बौद्ध मूर्तियाँ अभय तथा वरदमुद्रा में खड़ी रहती हैं। सारनाथ के संग्रहालय में ऐसी सहस्र मूर्तियाँ सुरक्षित हैं।

व्याख्यानमुद्रा

इस मुद्रा में प्रस्तर-प्रतिमाएँ शिक्षा देती हुई दिखलाई जाती हैं। इसमें मूर्ति पद्मासन में बैठी रहती हैं। दाहिने हाथ की तर्जनी अंगूठे को स्पर्श करती हुई निर्मित की जाती है, जिससे एक वृत्त बन जाता है। बौद्ध मूर्तियों

---

१. नाट्यशास्त्र, नवम अध्याय १७.२०० श्लोक

२. एलेमण्ट्स .... पृ० १४, प्लेट ५, नं० ४-५

में धर्म-चक्र-परिवर्तन (सारनाथ में पाँच भिक्षुओं को बौद्ध धर्म का उपदेश करते समय का) करने के भाव को प्रकट करने के लिये ऐसी प्रतिमा बनाई जाती है। अत एव वे इस मुद्रा को धर्म-चक्र-परिवर्तन-मुद्रा का नाम देते हैं।

ज्ञानमुद्रा

हिन्दू प्रतिमाओं में इसका प्रयोग मिलता है। बैठी हुई मूर्तियों में अंगुलियों के अन्तिम भाग अंगुष्ठ को स्पर्श करता दिखलाया गया है। ये अंगुलियाँ हृदय के समीप अवस्थित रहती हैं तथा हथेली वक्षःस्थल की ओर दिखलाई जाती है।

भूमिस्पर्शमुद्रा

इसका सम्बन्ध केवल बौद्धमूर्तिकला से ही है। भगवान् बुद्ध ने बौद्धगया में बुद्धत्वप्राप्ति के पश्चात् भूमिदेवी को साक्षी के लिये बुलाया था, ऐसा शिल्पी दिखलाते हैं। बुद्धदेव पद्मासन में बैठे रहते हैं तथा दाहिना हाथ नीचे की ओर लटका रहता है। हाथ की हथेली भी भूमि की ओर बनाई जाती है।

हिन्दू शिल्पशास्त्र के ज्ञाताओं ने मुद्रा के कारण ही भगवान् विष्णु की मूर्ति को सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी प्रकार का बतलाया है। भगवान् विष्णु के दो हाथ अभय तथा वरदमुद्रा में दिखलाये जाते हैं तथा अन्य दो हाथों में शंख, चक्र रहता है। ऐसी मूर्ति सात्त्विकी कही जाती है।[१] इन उपर्युक्त विभिन्न मुद्राओं से यही ज्ञात होता है कि प्रस्तरकला में यौगिक मुद्राओं का समावेश नहीं पाया जाता है।

चक्र

योगियों के अनुसार जितनी शक्तियाँ इस विश्व का संचालन करती हैं, वे सबकी सब इस नरदेह में पाई जाती हैं। मनुष्य शरीर का आधार मेरुदण्ड है। इस मेरुदण्ड के मध्य भाग से होकर ब्रह्मनाडी जाती है, जिसमें स्थित छः कमलदल की कल्पना की गई है। ये ही कमलचक्र के नाम से पुकारे जाते हैं। इन षट्चक्रों तथा सहस्रारचक्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु भारतीय प्रस्तरकला में इन सबका प्रयोग नहीं मिलता है। मूलाधार,

---

१. गोपीनाथराव, तालमान, पृ. 41. A.S.I. Memoir No. 3.

स्वाधिष्ठान आदि चक्रों को तो कलाविद् दिखला नहीं सकते थे, परन्तु आज्ञाचक्र की कल्पना को कुछ अंशों से समझाया गया है। भगवान् बुद्ध महायोगी थे, अत एव शिल्पकारों ने कुछ योगमुद्राओं तथा चक्रों का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया था। बुद्ध की प्रस्तर मूर्तियों में दोनों भृकुटियों के मध्य ऊर्णा भी बनायी जाती थी। योगी भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र का स्थान मानते हैं, जिसके कमल श्वेत होते हैं तथा ऊपर बिन्दु स्थित रहता है। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो ऊर्णा की आज्ञाचक्र से समता करने में कुछ भी अनुचित नहीं प्रतीत होता है।

इन चक्रों के पश्चात् मेरुदण्ड के ऊपरी भाग पर सहस्रदल का सहस्रारचक्र स्थित है। कलाकारों के द्वारा बुद्ध प्रतिमा के सिर पर घुंघराले केश बनाये जाते थे। साधारणजन के लिये ये तो वस्तुतः केश के द्योतक हैं, परन्तु योगशास्त्र में उन्हें सहस्रारचक्र के दलों का द्योतक मानते हैं। मूर्तियों में इन्हीं दो आज्ञाचक्र और सहस्रारचक्र का समावेश मिलता है। सम्भव है कि इन्हीं दोनों का प्रयोग प्रस्तरकला में सुगम हो। प्रायः हिन्दू मूर्तिकला में इसका सर्वथा अभाव ही है। हिन्दू देवताओं को कहीं योगी नहीं माना गया है। परन्तु बौद्धों के यहाँ बुद्ध को सिद्धयोगी मानते हैं, यही कारण है कि यौगिक बातों का यथासम्भव समावेश बुद्ध प्रतिमाओं में ही मिलता है। योगसिद्धान्तों का प्रयोग प्रस्तरकला में बहुत कम मिलता है। अत एव इतना ही विवरण दिया जा सकता है।

●

योगपरम्परा : जीवनमूल्यादर्श

जैनदर्शन एवं योगदर्शन के परिप्रेक्ष्य में

योगमार्ग को भारतीय संस्कृति में जो अप्रतिम महत्त्व प्राप्त हुआ है, उसके मूलाधार की गवेषणा करते हुए विदित होता है कि 'योग' आर्यजाति की अप्रतिम साधन-प्रणाली है। प्रत्येक युग के महामानव ने इसी योगविद्या का आश्रय लेकर वे चिरस्मरणीय कार्य सम्पादित किये हैं, जिनकी गाथा प्राचीन ग्रन्थों में सुवर्णाङ्कित है। योगसाधन ही एक ऐसा उपाय है, जिससे मनुष्य अपनी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों को पूर्ण विकसित कर उन्हें लौकिक एवं पारलौकिक सद् उद्देश्यों की पूर्ति में प्रयुक्त कर सकता है। यों परमात्मा और प्रकृति ने सभी जीवात्माओं को अभूतपूर्व शक्तियाँ प्रदान की हैं, जिनके द्वारा मनुष्य सांसारिक वैभव और सम्पदा ही प्राप्त नहीं कर सकता, अपितु स्वर्ग एवं ब्रह्मलोक के दिव्य ऐश्वर्य का स्वामी भी बन सकता है। किन्तु उनका लाभ वही उठा सकता है, जो उनको विकसित करके विधि पूर्वक उनके प्रयोग का ज्ञाता होता है। पृथ्वी में कोयला, शोरा, गन्धक आदि तत्त्व यत्र-तत्र विकीर्ण हैं परन्तु उनका आनुपातिक सम्मिश्रण करके विस्फोटक बनाने की विधि जो जानता है, वही उनके द्वारा बलवान् शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है। एक महत्-शक्ति संसार के प्रत्येक अणु में परिव्याप्त है, परन्तु जब तक किसी कर्मयोगी ने उसको वश में कर अणुबम के रूप में संयोजित नहीं किया, तब तक उसकी महत्ता किसी ने स्वीकार नहीं की। योगविद्या भी एक ऐसी ही शक्ति का महास्रोत है, जिसे प्राप्त करके मनुष्य असम्भवसदृश कार्यों को भी सहजता से पूर्ण कर डालता है। यही कारण है कि महान् विचारकों ने योगविद्या की महत्ता मुक्तकण्ठ से स्वीकृत की है।

साध्य की सिद्धि के लिये जिन हेतुओं का आश्रय लिया जाता है उन्हें 'साधन' कहते हैं तथा उनके अभ्यासक्रम को 'साधना'। साध्य की सम्पूर्ति के लिये साधना-पद्धति अपेक्षित होती है।

'योग' भारतीय संस्कृति और दर्शनशास्त्र की अमूल्य सम्पत्ति है।

योगविद्या ही एक ऐसी विद्या है, जो प्राय: सभी धर्मग्रन्थों एवं विद्याग्रन्थों में स्वीकृत है। चतुर्दश धर्मस्थानों एवं षोडश विद्यास्थानों में प्रतिपादित योगसाधन जैनदर्शन तथा पातञ्जलयोगदर्शन में पूर्ण विकास को प्राप्त हुए। इस प्रकार योगविद्या दर्शनशास्त्र की परिधि में आई।

वेद एवं उपनिषद् में वर्णित योगविद्या

वेद और उपनिषद् भारतीय संस्कृति के मूलाधार हैं। गङ्गा के उद्गमस्थल हिमालय की भाँति योग की गङ्गोत्री वेदराशि है। वैदिकयुग से लेकर आज तक योग की अविरल धारा प्रवाहित हो रही है। विभिन्न कालखण्डों में वृद्धि-ह्रास को प्राप्त होते हुए इसके बाह्य स्वरूप में शाब्दिक परिवर्तन अवश्य परिलक्षित होता है, किन्तु योग का आत्मतत्त्व एकरूप है, जो मोक्ष में पर्यवसित होता है। योग मानवजीवन का शृङ्गार है तो अध्यात्म का सङ्गीत। तपश्चर्या योग का पर्याय है तो आत्मबल संजीवनी। योग किसी शास्त्रविशेष की सम्पदा नहीं, अपितु समस्त शास्त्रों एवं सम्प्रदायों से निर्झरित मधुर रस है। विभक्त नहीं अविभक्त का जीवन-दर्पण है। अत: योग को शास्त्रशिरोमणि तत्त्व कहा जाता है।

ऋग्वेद में कहा गया है कि विद्वानों का भी कोई यज्ञकर्म विना योग के सिद्ध नहीं होता है—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन । स धीनां योगमिन्वति ।

ऋग्वेद १/१८/७

ऋग्वेद में लिखा है कि हिरण्यगर्भ ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुए, जो सम्पूर्ण विश्व के एकमात्र पति हैं। उन्होंने अन्तरिक्ष, स्वर्ग और पृथ्वी को धारण किया है। ऐसे प्रजापति देव का हम हव्य द्वारा पूजन करते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

ऋग्वेद १०/१२१/१

ऋग्वेद के उपरिनिर्दिष्ट प्रथम वचन से योग की महत्ता सिद्ध होती है तथा द्वितीय वचन से योगविद्या की प्राचीन परम्परा का अवबोध होता है, क्योंकि सृष्टिक्रम में सर्वप्रथम उत्पन्न हिरण्यगर्भ प्राचीनतम पुरुष तथा

योगशास्त्र के प्रथम वक्ता हैं। इससे योगविद्या की प्राचीन परम्परा ध्वनित होती है।

उपनिषद्वाङ्मय में योगविद्या का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। आचार्य शङ्कर ने एकादश प्रमुख उपनिषदों पर भाष्य लिखते हुए यथावसर अध्यात्मयोग को ब्रह्मप्राप्ति का साधन बतलाया है। कठोपनिषद् का वचन है—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।

कठोपनिषद् १/२/१२

अपरतः जीवनमूल्यादर्श के रूप में तप-ब्रह्मचर्य-श्रद्धा आदि आचार-विचार के समुन्नयन पर बल दिया है। प्रश्नोपनिषद् का वचन है—

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्य-मभिजयन्ते ।

प्रश्नोपनिषद् १/१०

पुराणवाङ्मय में वर्णित योगविद्या

अष्टादश पुराणों में श्रीमद्भागवत एक ऐसा महापुराण है, जिसमें योगविद्या व्यवस्थित रूप से दिखलाई पड़ती है। अवधूतवेशधारी श्रीशुकदेव का राजा परीक्षित् के प्रति योगसाधन का उपदेश अनुपम बन बड़ा है। ब्रह्मज्ञानविषयिणी समस्त अन्तर्कथाएँ योगविद्या से अवभासित हैं। श्रीमद्भागवत में नारद मुनि ने ध्रुव को आसन लगाकर प्राणायाम के द्वारा प्राण-इन्द्रिय-मन के कालुष्य को दूर करके ध्यानस्थ हो जाने का उपदेश किया है—

प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम् ।
शनैर्व्युदास्याभिध्यायेन्मनसा गुरूणां गुरुम् ।।

श्रीमद्भागवत ४/८/४४

शिवपुराण में प्राणायाम के सगर्भ और अगर्भ दो भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है—

अगर्भश्च गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः ।
तस्मात् गर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ।।

शिवपुराण ३७/३३

स्मृतिग्रन्थों में उल्लिखित योगविद्या

स्मृतिग्रन्थों का महनीय विषय आचार-मीमांसा है। विधिसम्मत सामाजिक एवं पारिवारिक मर्यादाएँ याज्ञवल्क्यस्मृति, मनुस्मृति, पराशरस्मृति, हारीतस्मृति आदि स्मृतिग्रन्थों में सुव्यवस्थित शैली से उपदिष्ट होने के कारण उन्हें जीवनमूल्यों का स्वच्छ दर्पण कहा जाता है। ये मानवीय संवेदनाओं के आकरग्रन्थ हैं। मर्यादित जीवन का व्यवहारपक्ष 'योगविद्या' से अनुप्राणित है।

महाभारत में प्रतिपादित योगविद्या

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थ का सारभूत अंश है। योगविद्या के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप में श्रीमद्भगवद्गीता प्रतिष्ठित है। योग-योगी-योगयुक्त की प्रवाहित त्रिवेणी से प्रत्येक अध्याय योग के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करता है। व्यष्टि की तुलना में समष्टि की पीडा जहाँ व्यक्ति को उद्वेलित करती है, वहाँ असाधारण वेदना विषादयोग को जन्म देती है। अर्जुन के विषादयोग की भूमि में योगीश्वर श्रीकृष्ण की योगविद्या मुखरित हुई और विषाद का गीत जीवनसंगीत बन जनमानस को आन्दोलित करने लगा। क्रौञ्च-क्रौञ्ची-वध से जैसे रामायण का प्रणयन हुआ वैसे ही अर्जुन के विषादगीत से 'सुगीता' की उत्पत्ति हुई। भगवद्गीता एवं रामायण हमारे राष्ट्रीय काव्य हैं। पीडा का दूसरा छोर आनन्दप्रद होता है। इन दोनों काव्यों में प्रतिपादित आचार-मीमांसा योगविद्या का चूडान्त निदर्शन है। जीवनमूल्यों का अनुपालन इन ग्रन्थों की सर्वोच्च प्राथमिकता है। सन्तपुरुष वाल्मीकि के श्रीराम कर्मयोगी रहे। योग-योगी-योगयुक्त में अन्तर्सङ्गति बनी रही। योगीश्वर श्रीकृष्ण का उद्घोष है—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।

भगवद्गीता ६/२०

योगवासिष्ठ में प्रतिपादित योगविद्या

जो महत्त्व; योगभक्तों के लिये श्रीमद्भागवत का और कर्मयोगियों के लिये भगवद्गीता का है, वही महत्त्व ज्ञानयोगियों के लिये योगवासिष्ठ का है। योगवासिष्ठ वैदिक संस्कृति का एक प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें कथाओं,

उपदेशों एवं प्रेरक प्रसङ्गों के माध्यम से योग को संसार-सागर से निवृत्त होने का साधन बतलाया है। इसमें आचार-विचार के सम्यक् परिपालन पर बल दिया गया है और विचार को परमज्ञान कहा गया है—

विचारः परमं ज्ञानम् ।

योगवासिष्ठ २/१६/१९

इसमें सदाचार और ज्ञान को दीपक एवं सूर्य से क्रमशः उपमित किया गया है। योगवासिष्ठकार का विचार है कि जब तक ज्ञानरूपी सूर्य उदित नहीं होता, तब तक अज्ञानरूप तिमिर में सदाचार का ही दीपक मार्गदर्शन करता है—

साधु सङ्गतयो लोके सन्मार्गस्य च दीपिकाः ।
हार्दान्धिकारहारिण्यो भासो ज्ञानविवस्वतः ।।

योगवासिष्ठ २/१६/९

हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता आदि में प्रतिपादित योगविद्या

हठयोग का उद्देश्य शारीरिक एवं मानसिक उन्नति करना है। हठयोग-प्रदीपिका, घेरण्डसंहिता आदि हठयोग के ग्रन्थों में आचार-विचार को विशेष महत्त्व दिया गया है। यम-नियमों का पालन करता हुआ हठयोगी स्थूलशरीर द्वारा अपनी शक्ति को सर्वप्रथम अन्तर्मुखी बनाता है। तदनन्तर सूक्ष्मशरीर को वश में करके चित्तवृत्तिनिरोधपूर्वक परमात्मसाक्षात्कार की ओर क्रमशः अग्रसर होता है। घेरण्डसंहिता में हठयोग के सात अङ्ग कहे गये हैं। वे हैं—षट्कर्म, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, प्रत्याहार, ध्यान तथा समाधि। वचन है—

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम् ।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ।।
प्राणायामं लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि ।
समाधिना निर्लिप्तश्च मुक्तिरेव न संशयः ।।

घेरण्डसंहिता १/१०-११

शैवागम में प्रतिपादित योगविद्या

शैवागम शिव के पञ्च मुख से निर्गत अनुभूतियों का दर्शन है। शैव दर्शन के अनुसार योग के चार पाद हैं—क्रिया, चर्या, ज्ञान एवं योग। इनसे

प्रवाहित दार्शनिक धाराएँ द्वैत, द्वैताद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत का भी निरूपण करती हैं। इसमें पूर्णस्वरूप को शिव और परमशिव नाम से सम्बोधित किया गया है। शिव के पाँच रूप हैं—सद्योयान, वामदेव, अघोर, ईशान्य तथा तत्त्वांश। इन पाँच मुखों से निर्गत आगम को शिव, रुद्र एवं भैरव आगम भी कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में योग के स्थान पर **'समवेश'** शब्द का प्रयोग हुआ है और योग शब्द से उसका विलक्षण अर्थ प्रतिपादित हुआ है। परमार्थसार में कहा गया है कि शिवयोगी के लिये समाधि-उत्थान का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वह स्वयं शिवस्वरूप में स्थित होता है। वस्तुतस्तु सुप्तशक्ति का शिव से सम्मिलन ही 'योग' पद का अर्थ है।

वेदान्तदर्शन में प्रतिपादित योगविद्या

भारतीय दर्शन की वैदिक एवं अवैदिक दो धाराएँ हैं। योगविद्या का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। भारतीय दर्शनों में वेदान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह दर्शन केवल सैद्धान्तिक ही नहीं, व्यावहारिक भी है। वेदान्त में आत्मोपलब्धि के लिये जिन साधनों का विचार किया गया है, वे योगसाधना के लिये आवश्यक हैं। वेदान्त के ग्रन्थ विवेकचूडामणि में कहा गया है कि आत्मदर्शन में मग्न रहकर तथा योगारूढ होकर ही इस संसार-वारिधि को पार किया जा सकता है। वचन है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं मग्नं संसारवारिधौ ।
योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया ।।

विवेकचूडामणि ९

अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मजिज्ञासा के लिये जिन साधनचतुष्टय का प्रतिपादन वेदान्तदर्शन में हुआ है, वे साधनचतुष्टय पतञ्जलि की योगसाधना के अत्यन्त निकट हैं। दोनों के योगसाधना का स्वरूप समान है। वे चार साधन हैं—नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति (शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान) तथा मुमुक्षुत्व । वचन है—

आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते ।
इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम् ।
शमादिषट्सम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम् ।।

विवेकचूडामणि १९

शास्त्रजन्यज्ञान कभी मोक्ष का साधन नहीं हो सकता, अपितु योगसाधन से उत्पन्न विवेकजन्यज्ञान ही मोक्ष का द्वार उद्घाटित करता है। इस न्याय से योग से ही वेदान्त की उत्पत्ति मानी गई है।

बौद्धदर्शन में वर्णित योगविद्या

बौद्धदर्शन के चार आर्यसत्य—दुःख, दुःखहेतु, दुःखनिरोध तथा दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्ति—योगदर्शन के चतुर्व्यूह-हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय हैं। बौद्धदर्शन में जीवात्मा और परमात्मा शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। उनके स्थान पर बोधिचित्त और शून्य शब्द व्यवहृत हुए हैं। बौद्धवाङ्मय में बोधिचित्त एक प्रकार से जीवात्मा अथवा व्यष्टि चेतन का पर्याय है, जिसमें शून्य, विज्ञान और महासुख ये तीन गुण माने गये हैं। योग एक विशुद्ध रहस्यशास्त्र है। राजयोग और हठयोग-सम्बन्धी साधनाओं का विवेचन हमें बौद्धग्रन्थों में समुपलब्ध है। प्रस्तरकला में भगवान् बुद्ध की विभिन्न आसनप्रधान मूर्तियाँ बौद्धयोग की मान्यता को दिग्दर्शित करती हैं। बौद्धयोगसाधना में चार स्मृतियाँ—कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना तथा धर्मानुपश्यना महत्त्वपूर्ण हैं। इन स्मृतियों के अन्तर्गत ही इन्द्रियसंयम, चार आर्यसत्य, अष्टाङ्गिक मार्ग, सप्त बौध्यङ्ग, चार ध्यान आदि आते हैं। संयमपूर्ण आचार-विचार की अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए बुद्ध ने जिस शील, समाधि एवं प्रज्ञा का विधान किया है, वह योग का ही स्रोत है। बौद्धिचर्यावतार में लिखा है—

उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठा दानपारमितादयः ।
नेतरार्थे त्यजेच्छ्रेष्ठामन्यत्राऽऽचारसेतुतः ।।

बौद्धिचर्यावतार ५/८३

योगपरम्परा की अक्षुण्णता

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भारतीयदर्शन के इतिहास में योगपरम्परा को निश्चितरूप से तीन कालखण्डों में विभक्त किया जा सकता है—वैदिककाल, उत्तरवैदिककाल (जिसमें जैन तथा बौद्धधर्मों का आविर्भाव हो गया था) तथा दर्शनकाल। इन तीनों कालखण्डों में विकसित योगविद्या का व्यावहारिक उद्देश्य सर्वदा एकरूप रहा। क्योंकि विचारशास्त्र ही किसी भी

देश की सभ्यता एवं संस्कृति का मूल्यवान् पदार्थ होता है। गौरवशाली ग्रन्थों में प्रतिपादित योगविद्या की आचार-मीमांसा ने जनमानस को आन्दोलित किया तथा अनुकरणीय जीवनपथ को उद्‌भासित किया। मनुस्मृतिकार का उद्‌घोष है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।

मनुस्मृति २/२०

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना जीवनदर्शन होता है, क्योंकि श्रद्धाओं और विचारों के अनुरूप ही मनुष्य होता है। निखिल मानवीय कार्यविधानों की आधारशिला मानवीय विचार है। भगवद्‌गीता कहती है—

यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।

भगवद्‌गीता १७/३

आदर्शग्रन्थों में संरक्षित जीवनमूल्यों की एकरूपता

जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण (आदर्श) में प्रतिबिम्बग्राहक शक्ति निहित रहती है उसी प्रकार आर्षग्रन्थों में जीवनमूल्य की संवाहिका शक्ति संरक्षित है। जीवनमूल्य का आदर्श अर्थात् दर्पणस्वरूप होने के कारण जैनयोग एवं पातञ्जलयोग को मुख्यतः कर्तव्यशास्त्र कहते हैं। आचार एवं कर्तव्य का विश्लेषण इसमें हुआ है। यद्यपि विचारशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर वैचारिक मतभेद आपाततः दिखलाई पड़ता है, तथापि शास्त्र का निहितार्थ समान रहता है। इन सम्प्रदायों में एकता है, भिन्नता नहीं; सामरस्य है, विरोध नहीं। भारतीयदर्शन संश्लेषणप्रधान है। इसमें नाना दृष्टियों से विवेचित जीवनमूल्यों को एक सूत्र में ग्रथित करने का श्लाघनीय उद्योग है। यदि सुख की अनुकूलवेदनीयता और दुःख की प्रतिकूलवेदनीयता मानवीय अनुभव का ध्रुवसत्य है तो जीवनमूल्य का सुविचारित निकष कैसे पृथक् हो सकता है? उन्नत आध्यात्मिक पथ पर आरूढ होने के लिये अनेक सद्‌गुणों का विकास आवश्यक है। इन आर्षग्रन्थों की आचार-मीमांसा नितान्त उपयोगी एवं मनोरम है। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रतिपादित दकारत्रय की शिक्षा को जीवनमूल्य का सर्वसमाहित आदर्शसूत्र कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। उपनिषद् का वचन है—

एषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति ।
तदेतत् त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति ।

बृहदारण्यकोपनिषद् ५/२/३

जैनयोग एवं पातञ्जलयोग में प्रतिपादित जीवनमूल्य

सांख्यदर्शन की साधना पद्धति का अविरलरूप महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र में मिलता है। पतञ्जलि ने योगसूत्र में ऐसे अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, जो वैदिक साहित्य के पारिभाषिक शब्दों से भिन्न हैं किन्तु श्रमणों के पारिभाषिक शब्दों से अभिन्न हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि पतञ्जलि की साधना पद्धति में श्रमणों का प्रभाव पड़ा। जैनों के आद्य तीर्थङ्कर अर्थात् धर्म के प्रचारक ऋषभदेव थे तथा अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर। कुछ इतिहासकार पार्श्वनाथ को ही इस धर्म का आद्य प्रवर्तक स्वीकार करते हैं। इस दर्शन में सर्वज्ञ, राग-द्वेष के विजयी, त्रैलोक्यपूजित, यथास्थितार्थवादी तथा सामर्थ्यवान् सिद्ध पुरुषों की संज्ञा 'अर्हत्' है। वचन है—

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हत् परमेश्वरः ।।

सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शन ६

'योग' शब्द **'युजिर् योगे'** तथा **'युज समाधौ'** इन दो धातुओं से निष्पन्न होता है। एक का अर्थ जोड़ना तथा दूसरे का अर्थ समाधि है। जैनाचार्यों ने संयोगार्थक युज् धातु से योग शब्द को निष्पन्न माना है। वचन है—

मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते ।

श्रीयजोविजयकृता, द्वात्रिंशिका १०/१

मुक्खेण जोयणाओ जोगो ।

श्रीहरिभद्रसूरिकृता, योगविंशिका १

अर्थात् जिन-जिन साधनों से आत्मा की शुद्धि तथा मोक्ष का योग होता है, उन सब साधनों को योग कहते हैं। जब कि योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव ने व्यासभाष्य में **'योगः समाधिः'** कहकर योग शब्द को समाध्यर्थक माना है। पातञ्जलयोगदर्शन में योग का लक्षणपरक सूत्र है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

योगसूत्र १/२

इसी लक्षण को उपाध्याय यशोविजय ने इस प्रकार कहा है—

समितिगुप्तिधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम् ।

पातञ्जलयोगदर्शनवृत्ति

यतः समितिगुप्तीनां प्रपञ्चो योग उत्तमः ।

योगभेदद्वात्रिंशिका ३०

अर्थात् मन, वचन, शरीरादि को संयत करने वाला धर्मव्यापार ही योग है, क्योंकि यही आत्मा को उसके साध्य मोक्ष के साथ जोडता है। पतञ्जलि ने जैसे योग शब्द को आत्मसाधना के अर्थ में प्रयुक्त किया है, वैसे योग शब्द का प्रयोग जैनदर्शन में आत्मसाधना के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यहाँ मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को योग कहा गया है। आगे चलकर जैन-परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्र ने योग शब्द का पातञ्जलयोगसम्मत अर्थ स्वीकृत किया है। योग को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा है कि मोक्षप्राप्ति के लिये जो धर्मक्रिया अथवा विशुद्ध व्यापार किया जाता है, वह धर्मव्यापार योग है—

मुक्खेन जीयणाओ, जोगी सण्वो वि धम्मवावारो ।

योगविंशिका १

यम-नियमादि व्यापार जीव के परिणामों की शुद्धि के लिये ही किये जाते हैं तथा इनका उद्देश्य मन-वचन-काय द्वारा अर्जित कर्मों की शुद्धि करना ही है। इस दृष्टि से समिति, गुप्ति आदि आचार-विचारों का अनुष्ठान उत्तमयोग है—

यतः समितिगुप्तिना प्रपञ्चौ योग उत्तमः ।

योगभेदद्वात्रिंशिका ३०

श्रीहरिभद्रसूरि ने दृष्टियोगसमुच्चय में बतलाया है कि सभी धार्मिक अनुष्ठान योग के अङ्ग हैं तथापि विशेषरूप से तो मोक्षप्राप्ति के समीपतमवर्तिपूर्वकाल का ध्यान ही अव्यवहित उत्कृष्ट योग है। केवल उन ज्ञानी योगियों को जिन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं, मोक्षस्थिति प्राप्त करने के पूर्व

मन, वाणी और शरीर की समस्त क्रियाओं का निरोध (संक्षम) करना पड़ता है। योगदृष्टिसमुच्चय में लिखा है—

तत्रानिवृत्तिशब्दान्तं समुच्छिन्नक्रियात्मकम् ।
चतुर्थं भवति ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ।।
समुच्छिन्ना क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिकापि च ।
समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं तद्द्वारं मुक्तिवेश्मनः ।।

योगदृष्टिसमुच्चय, गुणस्थानक्रमारोह १०५-१०६

जीवन-मूल्यों की निरवच्छिन्न परम्परा

हमारा गौरवशाली अतीत जीवनमूल्यों का स्वच्छ दर्पण है। गुरुकुलों की शिक्षा-प्रणाली में सामाजिक एवं राजनैतिक सौहार्द की धुरी पारिवारिक व्यवस्था रही। 'शिवसंकल्पयुक्त' मन का प्रथम उद्घोष ऋग्वेद की ऋचा से हुआ। संस्कृतवाङ्मय द्वारा निःसृत आचार-मीमांसा का वह मेरुदण्ड है। यह सूत्रवाक्य समुद्रसदृश गम्भीर तथा हिमालयसदृश उच्च विचारों की अनुपमेय सम्पदा है। वेदेतर ग्रन्थों में यही शिवसंकल्प अपने अवान्तरभेदों के साथ व्याख्यायित हुआ। शाण्डिल्योपनिषद् में प्रतिपादित यम के दस भेद इसी आत्मिक गुण का व्याख्यान करते हैं—

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयाजपक्षमा-
धृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश ।

शाण्डिल्योपनिषद् १

स्मृतिशास्त्रों में आचार, विचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त, दण्ड आदि का विधान स्पष्टतया वर्णित है। याज्ञवल्क्यस्मृतिकार का वचन है—

इज्याचारदमाहिंसादानं स्वाध्यायकर्म च ।
अयं तु परमो धर्म्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम् ।।

याज्ञवल्क्यस्मृति ८

महाभारत तो वैदिक संस्कृति का आचारकोश ही है। इसमें गृहस्थ, योगी, त्यागी आदि के आचार-विचार-आहार की शिक्षा पग-पग पर दी गई है। इसमें यति को इन्द्रियसंयमी होना बतलाया गया है। भगवद्गीता का वचन है—

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।

भगवद्गीता ५/२८

पुराणों में भी आख्यान-शैली से जीवनमूल्यों की स्थापना हुई है। न्यायवैशेषिक दर्शन में भी यम-नियम को अध्यात्मविद्या के उपायरूप में मान्यता प्राप्त है। न्यायसूत्र है—

तदर्थयमनियमाभ्यासात्मसंस्कारयोगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ।

न्यायदर्शन ४/२/४६

बौद्धपरम्परा में श्रावकों एवं श्रमणों के आचार-विचार पर विशेष बल दिया गया है। बुद्ध की शिक्षाओं का सारांश शील-समाधि-प्रज्ञा इन तीन शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। धम्मपद में यह पापाकरण-पुण्यसंचय-चित्तपरिशुद्धि के नाम से वर्णित है। वचन है—

सब्बपापस्य अकरणं कुसलस्य उपसम्पदा ।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनम् ।।

धम्मपद १४/५

जैनपरम्परा में उपदिष्ट आचार-मीमांसा का प्रभाव योगदर्शन में स्पष्टतया परिलक्षित होता है, भले ही शब्दप्रयोग में अन्तर दिखलाई पड़ता है। किन्तु दोनों शास्त्रों का निहितार्थ एक ही है।

पार्श्वनाथ का दर्शन महावीर के पञ्च महाव्रतों में परिणत हुआ है। यही तत्त्व बुद्ध के अष्टाङ्गिक मार्ग में और पातञ्जलयोग के यम-नियमों में प्रकट हुआ है। गाँधी जी के आश्रमधर्म में भी प्रधानतया चातुर्याम धर्म दृष्टिगोचर होता है। भगवान् पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे शब्दों की व्यवस्था नहीं थी। उनकी व्यवस्था में बाह्य वस्तुओं की अनासक्ति का सूचक शब्द था—बहिस्तात् आदान-विरमण। भगवान् महावीर ने इस व्यवस्था में परिवर्तन किया और बहिस्तात् आदान-विरमण को ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दो शब्दों में विभक्त कर दिया। महावीर ने एक महाव्रत के रूप में ब्रह्मचर्य का प्रयोग किया। इसी प्रकार अपरिग्रह का भी महाव्रत के रूप में सर्वप्रथम भगवान् महावीर ने ही प्रयोग किया था।

जाबालोपनिषद्, नारदपरिव्राजकोपनिषद्, तेजोबिन्दूपनिषद्, याज्ञवल्क्योपनिषद्, आरुणिकोपनिषद्, भगवद्गीता, योगसूत्र आदि ग्रन्थों में अपरिग्रह शब्द मिलता है।

जैनदर्शन में मोक्ष के तीन साधन हैं—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र। तत्त्वार्थसूत्र है—

सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्गः ।

तत्त्वार्थसूत्र १/१

यहाँ 'दर्शन' शब्द का अर्थ है—श्रद्धा। अतः मोक्षमार्ग में जाने के लिये साधक के पास प्रथम साधन होना चाहिए सम्यक् श्रद्धा। इसमें तत्त्वार्थसूत्र द्रष्टव्य है—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।

तत्त्वार्थसूत्र १/२

तीर्थङ्करों द्वारा प्रतिपादित शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रति आस्थावान् होना अत्यन्त आवश्यक है। श्रद्धा अध्यात्ममार्ग का महत्त्वपूर्ण पाथेय है। 'सम्यक्ज्ञान' दूसरा साधन है। शास्त्र के द्वारा उपपादित निखिल सिद्धान्तों एवं तत्त्वों का यथार्थ एवं गम्भीर अनुभव प्राप्त करना भी श्रद्धा के समान ही आवश्यक एवं उपादेय है। सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान की चरितार्थता सम्यक्चरित्र में ही सम्पन्न होती है। जैनदर्शन में मोक्षोपयोगी ये तीन साधन 'रत्नत्रय' के नाम से अभिहित हैं। ज्ञातव्य है कि उत्तराध्ययनसूत्र में मोक्ष के उक्त तीन साधनों में तप को चतुर्थ साधन के रूप में मान्यता प्राप्त है। फलितार्थ है कि ज्ञान से सत्य का अवबोध होता है और दर्शन (सम्यक्त्व) से सत्य के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसलिये ये दोनों सत्य की प्राप्ति के साधन हैं। चारित्र्य से आने वाले कर्मों का निरोध होता है और तप से पूर्व सञ्चित कर्म क्षीण होते हैं। इसलिये ये दोनों सत्य की उपलब्धि के साधन हैं।

सम्यक्-दर्शन के भेद

जैनदर्शन में सम्यक्दर्शन की साधना के अष्ट अङ्ग हैं—निःशङ्कित, निष्काङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

सम्यक्-ज्ञान के भेद

जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान की साधना के पाँच अङ्ग हैं—वाचना (अध्यापन करना), प्रतिपृच्छा (प्रश्न पूछना), परिवर्तना (पुनरावृत्ति करना), अनुप्रेक्षा (चिन्तन करना) तथा धर्मकथा (धर्मचर्चा करना)।

सम्यक्-चारित्र के भेद

जैनदर्शन में सम्यक् चारित्र की साधना के पाँच अङ्ग हैं—सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धीय, सूक्ष्मसम्पराय तथा यथाख्यात ।

तप के भेद

जैनदर्शन में तप की साधना के बारह अङ्ग हैं—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कामक्लेश, संलीनता (विविक्त शयनासन), प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान तथा व्युत्सर्ग ।

इस प्रकार अनेकान्तवादी जैनदर्शन श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तथा तप में सामञ्जस्य स्थापित करता है और श्रद्धा आदि में से किसी एक को मान्यता देने वाले चिन्तक उसकी दृष्टि में अपूर्ण हैं।

श्रवणपरम्परा में व्रत

श्रवणपरम्परा में व्रत का बहुत महत्त्व है। भगवान् महावीर ने साधु के लिये पाँच महाव्रत एवं रात्रिभोजनविरमण व्रत का विधान किया है। पाँच महाव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। आचाराङ्ग (२/३/१५/४०२) के अनुसार प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं—

अहिंसामहाव्रत के भेद

अहिंसामहाव्रत के पाँच भेद हैं—ईर्या-समिति, मन-परिज्ञा, वचन-परिज्ञा, आदान-निक्षेप-समिति तथा आलोकित-पान-भोजन।

सत्यमहाव्रत के भेद

सत्यमहाव्रत के पाँच भेद हैं—अनुवीचि-भाषण, क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भयप्रत्याख्यान (अभय) तथा हास्यप्रत्याख्यान।

अचौर्यमहाव्रत के भेद

अचौर्यमहाव्रत के पाँच भेद हैं—अनुवीचि-मितावग्रह-याचन, अनुज्ञापित-पान-भोजन, अवग्रह का अवधारण, अतिमात्र और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन तथा स्त्री आदि से संसक्त शयनासन का वर्जन है।

ब्रह्मचर्यमहाव्रत के भेद

ब्रह्मचर्यमहाव्रत के पाँच भेद हैं—स्त्रीकथात्याग, मनोहर क्रिया-वलोकनत्याग, पूर्वरतिविलासस्मरणत्याग, प्रणीतरसभोजनत्याग तथा शयना-सनत्याग।

अपरिग्रहमहाव्रत के भेद

अपरिग्रहमहाव्रत के पाँच भेद हैं—मनोज्ञ-अमनोज्ञ; शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध में समभाव।

योगदर्शन में भी ये पाँच व्रत 'यम' नाम से उपवर्णित हैं। सूत्र है—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहयमाः ।

योगसूत्र २/३०

जैनदर्शन में प्रतिपादित मैत्री-करुणा-मुदिता-माध्यस्थ्य ये चार भावनाएँ योगदर्शन में चित्तपरिशुद्धि के नाम से व्याख्यात हुई हैं। पातञ्जलि का सूत्र है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-
पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।

योगसूत्र १/३३

इस प्रकार सम्यक् चारित्र्य की सिद्धि के लिये इन सार्वभौम पाँच महाव्रतों का परिपालन नितान्त आवश्यक है। ज्ञानसहित चारित्र्य ही मोक्ष का हेतु है। दूसरे शब्दों में अज्ञानपूर्वक चारित्र्य का ग्रहण सम्यक् नहीं होता है। यह तथ्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में उपवर्णित है—

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।
ज्ञानान्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ।।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ३८

एतावता पतञ्जलि के यम-नियम के द्वारा प्रतिपादित जीवनमूल्यादर्शन का समाहार जैनयोग के सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य-तप में किया जा सकता है।

योगसूत्र में वर्णित आसनादि अङ्ग

पतञ्जलि के अष्टाङ्गयोग के तृतीय अङ्ग 'आसन' को जैनदर्शन में 'स्थान' कहा गया है। आसन का अर्थ है बैठना और स्थान का अर्थ है—

गतिनिवृत्ति। स्थिरता आसन का महत्त्वपूर्ण स्वरूप है। आसन खड़े रहकर, बैठकर अथवा लेटकर किसी भी प्रकार से किया जा सकता है। इस दृष्टि से आसन की अपेक्षा 'स्थान' शब्द अधिक व्यापक है।

जैनाचार्य ध्यान के लिये प्राणायाम को आवश्यक नहीं मानते हैं। उनका अभिमत है कि तीव्र प्राणायाम से मन व्याकुल हो जाता है। मानसिक व्याकुलता से समाधि भङ्ग होती है किंवा समाधि-भङ्ग से ध्यान घनीभूत नहीं हो पाता है।

प्रत्याहार इन्द्रियों की विषयाभिमुखता के नियन्त्रणपूर्वक यति को जितेन्द्रिय बनाता है। क्योंकि इन्द्रियनिग्रहपूर्वक ही यति का तत्त्वार्थचिन्तन धारणा-ध्यान-समाधि के सोपानों पर क्रमशः घनीभूतता को प्राप्त होता है। इस प्रकार जीवनमूल्यादर्श की स्थापना करता हुआ जैनयोगी 'तीर्थङ्कर' की उपाधि से विभूषित होता है।

निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि मनुष्य की मनुष्यता का मानदण्ड है उसकी नैतिकता। जब तक विचारों में नैतिकता की प्रतिध्वनि न हो और व्यवहार में नैतिकता का प्रतिबिम्ब न पडे, तब तक किसी भी मनुष्य को मनुष्य होने का प्रमाण नहीं मिल सकता है। मनुष्य इस सत्य को जानने के पश्चात् भी अनैतिक बना रहता है। वचन है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः ।

जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।।

अतः आत्मबोध के लिये गौरवशाली अध्यात्मपरायण ग्रन्थों का अनुशीलन करते रहना चाहिए।

बुद्ध की योगदृष्टि एवं पतञ्जलि : एक समन्वयात्मक विश्लेषण

मुण्डकोपनिषद् का वचन है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।

मुण्डकोपनिषद् ३/२/८

अर्थात् जिस प्रकार प्रवहमान् नदियाँ नाम-रूप त्यागकर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नाम-रूप से विहीन होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है।

अतः भगवान् बुद्ध प्रणम्य हैं—

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासबुद्धस्स ।

भारतीय चिन्तन-धारा की विराटता को समझने के लिये उसकी विराट सीमा को समझना आवश्यक है। अनादि अनन्त रहस्यमय सृष्टि को जानने की जिज्ञासा मानव का सहज स्वभाव है। किन्तु इन रहस्यों के अतल में पहुँचकर समाधान के दुर्लभ मोती अन्वेषित करना कठिनतम साधना की अपेक्षा करता है। इस देश के जिन तत्त्व-चिन्तकों ने अपने ऐहिक जीवन के सुखों को तिलाञ्जलि देकर सृष्टि सत्य के अन्वेषण में जीवन समर्पित किया, हमने उन्हें ऋषि संज्ञा से सम्बोधित किया। 'ऋत्' अर्थात् सत्य का दर्शन करने वाले इन ऋषियों ने जिस ज्ञान का दर्शन किया उसे वेद कहा गया। वेद का अर्थ ही है विशुद्ध ज्ञान। इस प्रकार वेद मनुष्यकृत नहीं हैं, ये अपौरुषेय हैं, ईश्वरीय हैं।

विशुद्धज्ञान का स्वरूप

ज्ञातव्य है कि विशुद्धज्ञान के नियमों का कोई निर्माता या आविष्कारक नहीं हो सकता। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त अथवा पृथ्वी द्वारा

सूर्य की परिक्रमा करने या चन्द्रमा द्वारा पृथ्वी की परिक्रमा करने का सिद्धान्त किसी वैज्ञानिक द्वारा निर्मित नहीं है, अपितु आविष्कृत है, उसी प्रकार सृष्टि-रहस्य और नियमन का विज्ञान अर्थात् वेद भी मनुष्यकृत नहीं हैं।

भगवान् बुद्ध की दर्शनदृष्टि

भगवान् बुद्ध ने भी यह कभी नहीं कहा कि उन्होंने किसी नये धर्म अर्थात् दर्शन की उद्भावना की है। उन्होंने हिन्दू परिवार में जन्म लिया। वे इसी धर्म-संस्कृति में पले, बढ़े और इसी के मूल तत्त्वों का प्रतिपादन किया। उन्होंने प्राचीन वैदिक आदर्शों और जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना की। संयुक्तनिकाय में बुद्ध स्वयं कहते हैं—

'हे भिक्षुओं! मैंने उस प्राचीन मार्ग को, उस प्राचीन सत्य को देखा है, प्राचीन ऋषियों ने जिसका अनुगमन किया था। मैंने उसी सत्य मार्ग से यात्रा की है और सत्य पथ पर चलते हुए परम सत्य को पाया है।'

भगवान् बुद्ध ऐसे ही लोक कल्याणकारी धर्मदर्शन के प्रज्ञापक थे। उन्होंने सार्वजनीन वैज्ञानिक धर्म सिखाया व उसे 'धर्म' कहा न कि 'बौद्ध धर्म'। सारी बुद्धवाणी में न 'बौद्ध' शब्द मिलता है, न 'बौद्ध धर्म'। जैसे अपनी शिक्षा को उन्होंने 'धम्म' कहा वैसे ही उस शिक्षा के पालकों को धम्मिक (धार्मिक), धम्मट्ठो (धर्मस्थ), धम्मी (धर्मी), धम्मचारी (धर्मचारी और धम्मविहारी (धर्मविहारी) कहा। भगवान् बुद्ध ने अपने आप को भिषक् कहा, वैद्य कहा, चिकित्सक कहा।

इससे एक बात स्पष्ट हुई कि यह दर्शनपरक धर्म कोई व्यक्तिप्रेरक, जातिबोधक, समूहबोधक या राष्ट्रबोधक चिन्तन नहीं, अपितु मानवमात्र के लिये जिस प्रकार विविध विज्ञान जैसे भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, जीवविज्ञान आदि समानरूप से विहित हैं, उसी प्रकार यह भी मानवमात्र के लिये ही है। इसलिये इसे मानवदर्शन भी कह सकते हैं।

कहते हैं कि भगवान् बुद्ध कोई दार्शनिक नहीं थे। न उनकी कोई दार्शनिक मान्यता थी और न उन्होंने कोई दार्शनिक मान्यता स्थापित की थी। जब किसी ने उनसे पूछा कि आपकी दार्शनिक मान्यता क्या है तो उन्होंने कहा—

दिदि्ठगतं ति खो, वच्छ, अपनीतमेतं तथागतस्स।

अर्थात् हे वत्स! तथागत की दार्शनिक मान्यताएँ दूर हो गई हैं।

मञ्ञितं भिक्खु रोगो।

अर्थात् हे भिक्षु! मान्यता रोग है।

मञ्ञितं गण्डो।

अर्थात् मान्यता व्रण है।

मञ्ञितं सल्लं।

अर्थात् मान्यता शल्य है।

भगवान् बुद्ध ने जनसाधारण की जिस बोली में अपना उपदेश किया, वह उस समय कोशल और मगध में बोली जाती थी और इसलिये इसका नाम 'मगही' (मागधी) भाषा था। इसे ही आजकल पालि के नाम से व्यवहृत करते हैं। भगवान् बुद्ध के वचन और उपदेशों के प्रतिपादक ग्रन्थों को 'पिटक' (पेटारी) कहते हैं। पिटक तीन हैं—१. विनय, २. सुत्त (सूत्र) तथा ३. अभिधम्म (अभिधर्म)। इनके भीतर अनेक ग्रन्थों का समावेश किया जाता है। इनमें विनयपिटक आचारप्रधान ग्रन्थ है। सुत्तपिटक का प्रधान उद्देश्य धर्म का प्रतिपादन करना है। बौद्धसाहित्य का सबसे प्रसिद्ध तथा जनप्रिय ग्रन्थ धम्मपद है। इसमें ४२३ गाथाएँ हैं, जिन्हें भगवान् बुद्ध ने अपने जीवनकाल में विभिन्न शिष्यों को उपदेश किया था। ये गाथाएँ नीति और आचार की शिक्षा से ओतप्रोत हैं।

बोधि प्राप्त करने के पश्चात् तथागत ने सारनाथ में प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन के समय चार आर्य सत्यों की देशना की।

भगवान् बुद्ध के चार आर्यसत्य और पतञ्जलि का चतुर्व्यूहवाद

भगवान् बुद्ध के चार आर्यसत्य व पतञ्जलि के योगसूत्र में वर्णित चतुर्व्यूह में अत्यन्त समानता है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र रोग, रोगहेतु, आरोग्य और आरोग्योपाय पर अवलम्बित है उसी प्रकार योगशास्त्र में भी संसार, संसारहेतु, मोक्ष, मोक्षोपाय का विवेचन हुआ है। व्यासभाष्य में लिखा है—

यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं–रोगो रोगहेतुः आरोग्यं भैषज्यमिति ।
एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहं-तद् यथा संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र २/१५

इसी प्रकार भगवान् बुद्ध के चार आर्यसत्य हैं—

१. दुःखम्—यह संसार दुःख से परिपूर्ण है।

२. दुःखसमुदयः—इस दुःख का कारण विद्यमान है।

३. दुःखनिरोधः—इस दुःख से वास्तविक मुक्ति मिलती है।

४. दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा—दुःखों के नाश (निरोध) का मार्ग (प्रतिपद् = उपाय) है।

इसी प्रकार योगसूत्र में हेय (संसार), हेयहेतु (संसारहेतु), हान (मोक्ष) और हानोपाय (मोक्षोपाय) के प्रतिपादक चार सूत्र हैं—

१. हेय—**हेयं दुःखमनागतम् ।**

योगसूत्र २/१६

२. हेयहेतु—**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।**

योगसूत्र २/१७

३. हान—**तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ।**

योगसूत्र २/२५

४. हानोपाय—**विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।**

योगसूत्र २/२६

दुःख—प्रथम आर्यसत्य

को नु हासो किमानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति ।

धम्मपद गाथा १४६

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

योगसूत्र २/१५

अभिप्राय यह है कि यह संसार जलते हुए घर के समान है, तब इसमें हंसी क्या हो सकती है? और आनन्द कौन सा मनाया जाय? धम्मपद में प्रतिपादित दुःख के इस स्वरूप को पतञ्जलि ने सत्त्वादिगुणमूलक माना है। विवेकी पुरुष की दृष्टि में यह समग्र संसार ही दुःख है। बुद्ध की भी यही दृष्टि है।

सृष्टि के रहस्य को जानने की जिज्ञासा का प्रेरणास्रोत आध्यात्मिक है जो मूलतः दुःख की अनुभूति में निहित है। जरा-मरण के दुःख का यह वही बोध था जिसने 'सिद्धार्थ' को यथार्थता का बोध प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया, जिससे उसमें महाकरुणा के भाव का उदय हुआ और प्राणिमात्र के कल्याण के लिये वह उस परम सत्य के अन्वेषण में निकल पडा। जिसे छः वर्षों की कठोर तपस्या के पश्चात् पाकर वह 'बुद्ध' कहलाये। यह वही दुःखबोध है जिसने ऋषियों को **'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा अमृतं गमय'** की अभिलाषा से परम चैतन्य आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिये उत्कण्ठित किया।

दुःखसमुदय–द्वितीय आर्यसत्य

द्वितीय आर्यसत्य है—दुःखसमुदय। 'समुदय' शब्द का अर्थ है—कारण। कार्यकारण का अविनाभावसम्बन्ध है। जब दुःख कार्य है तो उसका कारण भी अवश्य ही होगा। दुःख का हेतु है—तृष्णा। मज्झिमनिकाय में कहा है—

इदं खो पन भिक्खवे दुक्खवे दुक्खसमुदयं अरियसच्चं ।
योयं तृण्हा पोनब्भविका ...

मज्झिमनिकाय (महाहत्थिपदोपमसुत्त)

पौनर्भविका तृष्णा; जो कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा के भेद से तीन प्रकार की है, से व्यक्ति संसार और संसार के जीवों से ऊर्णातन्तुन्याय से आबद्ध रहता है। वचन है—

ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं, सयंकतं मक्कटको व जालं ।

धम्मपद, गाथा ३४७

तृष्णा अविद्या की पुत्री है। मिथ्यात्व इसका स्वरूप है। अतः विपर्ययवंशोद्भवा अविद्या को; जो परस्पर-विरोधी-तत्त्व द्रष्टा और दृश्य में अभेदबुद्धि का आपादन करती है, दुःख (हेय) का हेतु बतलाते हुए पतञ्जलि कहते हैं—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः । योगसूत्र २/१७

तस्य हेतुरविद्या । योगसूत्र २/२४

दुःखनिरोध–तृतीय आर्यसत्य

तृतीय आर्यसत्य का नाम दुःखनिरोध है। बौद्धों के अनुसार 'निरोध' शब्द का अर्थ नाश या त्याग है। दुःख को दूर करने का उपाय उसके कारण को दूर करना है। यह सत्य बतलाता है कि दुःख का अन्त होता है। दुःख की सत्ता बतलाकर ही बुद्ध की शिक्षा पूर्ण नहीं होती है, प्रत्युत उनका उपदेश है कि इस दुःख का अन्त भी है। जिस प्रकार चिकित्सक रोग और रोगहेतु को जानकर रोगी को आरोग्य स्थिति में पहुँचाता है। अर्थात् रोगी को रोग से मुक्त कराता है। एतावता दुःख की कारणभूता तृष्णा का क्षय ही दुःखनिरोध है। दुःखनिरोध की ही लोकप्रिय संज्ञा 'निर्वाण' है। इसे ही तृष्णा के त्याग, प्रतिसर्ग, मुक्ति तथा अनालय शब्द से जानते हैं। भिक्षुओं के प्रति बुद्ध का उपदेश है—

'इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खनिरोधं अरियसच्चं । यो तस्सायेव तण्हाय असेसविरागनिरोधो, चागो, षटिनिस्सग्गो मुत्ति, अनालयो ।'

तृतीय आर्यसत्य में दुःखनाश की चर्चा से बौद्धों के असत्कार्यवाद की स्थापना होती है, जब कि सांख्ययोगदर्शन के अनुसार दुःख को उसकी आत्यन्तिक अतीतावस्था में पहुँचाया जाता है, अतः ये सत्कार्यवाद के समर्थक हैं। सांख्ययोग में सद्रूप कार्य का नाश नहीं माना जाता है।

योगदर्शन के तृतीय चरण में दुःख के हेतुभूत द्रष्टृ-दृश्य-संयोग की आत्यन्तिक अतीत स्थिति ही 'हान' है, जिसे द्रष्टा पुरुष का कैवल्य कहा जाता है। सूत्र है—

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ।

योगसूत्र २/२५

सूत्रगत 'अभाव' पद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए व्यासदेव ने उसे आत्यन्तिक 'बन्धोपरम' कहा है—

बुद्धिपुरुषसंयोगाभावः = आत्यन्तिको बन्धोपरम इत्यर्थः ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र २/२५

अभाव-उपरम, निर्वाण-कैवल्य का समन्वयात्मक पक्ष यथावसर आगे स्पष्ट किया जायेगा।

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा–चतुर्थ आर्यसत्य

'प्रतिपद्' शब्द का अर्थ है—मार्ग। चतुर्थ आर्यसत्य; दुःखनिरोध, जो प्राप्तत्व है, उस तक कैसे पहुँचा जाय की व्याख्या करता है। 'निर्वाण' रूप गन्तव्य तक पहुँचने के उपाय का प्रतिपादन चतुर्थ आर्यसत्य में किया गया है। इस मार्ग का नाम 'अष्टाङ्गिक मार्ग' है। धम्मपद में इसे श्रेष्ठतम मार्ग बतलाया है—

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो ।

धम्मपद २०/१

योगदर्शन में भी ज्ञान की चरमोत्कृष्ट अवस्था में पहुँचाने का मार्ग 'अष्टाङ्गयोग' को कहा गया है। इसके लिये सूत्रद्वय स्मरणीय हैं—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।

योगसूत्र २/२६

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।

योगसूत्र २/२८

समन्वयात्मक दृष्टि से बौद्ध तथा योगदर्शन के प्रथम तीन चरण सैद्धान्तिक पक्ष से सम्बन्धित हैं तथा चतुर्थ चरण व्यावहारिक पक्ष से। भगवान् बुद्ध ने इसी चौथे आर्यसत्य को व्यावहारिक रूप देने में अपने शेष सम्पूर्ण जीवन का उत्सर्ग किया था। भगवान् बुद्ध की शिक्षा व्यावहारिक होती थी। सभी क्षेत्रों में उग्रता अथवा अतिशयता का त्यागकर मध्यममार्ग का अवलम्बन करने का उनका उपदेश मानवजाति के लिये एक बहुत बड़ी देन है। बुद्ध ने सदाचार और चित्तशुद्धि पर बल दिया। उनकी शिक्षा है—

सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा ।
सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं ।

बौद्ध और योगदर्शन में प्रतिपादित अष्टाङ्गिक मार्ग

अष्टाङ्गिक मार्ग बौद्धदर्शन की आचारमीमांसा का चरम साधन है। बौद्धदर्शन में आचार की प्रधानता है। उनके अनुसार केवल शब्दतः इस मार्ग का आश्रय कभी उचित फल देने में समर्थ नहीं हो सकता। धम्मपद में भिक्षुओं के प्रति दिये गये उपदेश का सारसर्वस्व यही है कि—

"हे भिक्षुओं! उद्योग तुम्हें करना होगा। उपदेश के श्रवणमात्र से दुःखनिरोध कथमपि नहीं हो सकता। मार्ग बतलाना मेरा काम है, किन्तु उस मार्ग पर चलना तुम्हारा काम है।" वचन है—

तुम्हेहि किच्चमातप्पं अक्खातारो तथागता ।

धम्मपद २०/४

महर्षि पतञ्जलि द्वारा उपदिष्ट योगसाधना का मुख्य द्वार यम-नियम है। यम-नियम आचार-मीमांसा की वह दिव्य निधि है, जिससे प्रकटित भावशुद्धिमूलक सुगन्धि सम्पूर्ण योगपीठ (समाधिभवन) को सुवासित करती है। यम और नियम के द्वारा पतञ्जलि ने जीवन के प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक दिशा-तत्त्वों की ओर इंगित किया। बौद्ध एवं पातञ्जलयोग दोनों दर्शनों में जीवनदर्शन के प्रथम सूत्र आचार-मीमांसा की उद्भावना की गई है। दोनों दर्शनों में साधना का धरातल एक समान है।

बौद्धदर्शन में प्रज्ञा, शील और समाधि इन तीन साधनों के अन्तर्गत अष्टाङ्गिक मार्ग का पल्लवन हुआ है, जब कि योगदर्शन में बहिरंग साधन एवं अन्तरङ्ग साधन अष्टाङ्गयोगान्तर्वर्ती हैं, न कि उससे पृथग्भूत ।

बौद्धसम्मत अष्टाङ्गिक मार्ग

आठ अङ्ग ये हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि। प्रथम दो '**प्रज्ञासाधन**', द्वितीय तीन '**शीलसाधन**' तथा अन्तिम तीन '**समाधिसाधन**' के भेद हैं।

बौद्धिक अष्टाङ्गिक मार्ग में एक समान तत्त्व है—**सम्यक्**। यहाँ '**सम्यक्**' पद मध्यम मार्ग का वाचक है। किसी भी वस्तु के दोनों अन्त उन्मार्ग की ओर ले जाने वाले होते हैं। किसी भी वस्तु के प्रति अत्यधिक प्रवणता (तल्लीनता) अथवा अत्यधिक उदासीनता (वैराग्य) दोनों स्पृहणीय नहीं हैं। वाद्ययन्त्र के तारों को इतना अधिक शिथिल न कर दिया जाय कि वे भङ्कृत ही न हो सकें और इतना अधिक न दृढ कर दिया जाय कि वे विखण्डित हो जाएँ। सत्य तो दोनों अन्तों के मध्य ही रहता है। इसी मध्यम मार्ग को 'मध्यमप्रतिपदा' कहते हैं। भगवान् बुद्ध का उपदेश है—

द्वेमे भिक्खवे, अन्ता पब्बज्जितेन न सेवितब्बा ।

अर्थात् "हे भिक्षुगण! संसार का परित्याग कर निवृत्तिमार्ग में चलने वाले प्रव्रजित व्यक्ति को चाहिए कि दोनों अन्तों का सेवन न करे।"

ज्ञातव्य है कि चतुर्थ आर्यसत्य 'दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपद्' की देशना के क्रम में भगवान् बुद्ध द्वारा दु:खनाश हेतु आठ मार्गों के अनुसरण की बात कही है।

सम्यक् दृष्टि

बौद्ध तथा योग दोनों दर्शनों में **'दृष्टि'** और **'ख्याति'** शब्दों का अर्थ ज्ञान है। ज्ञानभूमि में ही आचार का बीज रोपित किया जा सकता है। एतावता दु:खादि आर्यसत्य तथा हेयादि चतुर्व्यूह का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके ही साधक गन्तव्य की ओर अभिमुख होता है। विचार की भित्ति पर आचार अवस्थित है। इसीलिये भगवान् बुद्ध ने आचारमार्ग में सम्यक् दृष्टि को पहला अङ्ग माना है। सम्यक् दृष्टि करणीय एवं अकरणीय कर्मों की विभाजक रेखा है। महर्षि पतञ्जलि ने यम-नियम के अन्तर्गत निवृत्ति और प्रवृत्तिरूप जिन आदर्शमूल्यों को स्थापित किया है उन्हीं का समाहार हमें 'सम्यक् दृष्टि' में परिलक्षित होता है। शब्दभेद एवं प्रभेदभेद की विसदृशता से आदर्शमूलक सिद्धान्तों को व्याघात नहीं पहुँचता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की प्राणप्रतिष्ठा दोनों दर्शनों में हुई है।

सम्यक् संकल्प

स्थाणुनिखननन्याय से अधीत ज्ञान के प्रति दृढ निश्चयवान् होना सम्यक् संकल्प है। सम्यक् ज्ञान होने पर ही सम्यक् निश्चय होता है। असद्वृत्ति के बहिष्कार का सम्यक् संकल्प तभी प्रबल एवं सफल होता है जब हमारी अशङ्कित 'सम्यक् दृष्टि' बनती है। असद्वृत्तिपरिहार सम्यक् संकल्प की कायिक क्रिया है।

एतावता सम्यक्दृष्टि तथा सम्यक्संकल्प 'प्रज्ञा' नामक साधन के भेद हैं।

सम्यक् वचन

इस अङ्ग में वाचिक संशुद्धि पर बल दिया है। मृषावचन, पिशुनवचन, परुषवचन तथा संप्रलाप निषिद्ध हैं। धम्मपद में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि

वैर की शान्ति कटुवचनों से नहीं होती, प्रत्युत अवैर से ही होती है। वचन है—

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं ।
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो ।।

धम्मपद १/५

योगदर्शन में 'यम' के द्वितीय भेद 'सत्य' में उक्त भावना का पल्लवन हुआ है।

सम्यक् कर्मान्त

धम्मपद का वचन है—

अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया ।
अत्तनो हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ।।

अभिप्राय यह है कि "आत्मा ही अपना नाथ (स्वामी) है। स्वेतर नाथ (स्वामी) नहीं है। अपने को दमन कर लेने पर जीव दुर्लभ नाथ (निर्वाण) को प्राप्त कर लेता है।"

'विनयपिटक' में सम्यक् कर्मान्त का उल्लेख मिलता है। बौद्धभिक्षु और गृहस्थ सभी के लिये पाँच कर्मों के अनुपालन पर विशेष बल दिया है और उन्हें 'पञ्चशील' कहा है। पञ्चशील हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा सुरा-मैरेय। पतञ्जलि ने योगसूत्र में प्रथम चार भेदों के साथ अपरिग्रह का समावेश कर उन्हें 'यम' की संज्ञा प्रदान की है।

भिक्षुओं के निवृत्तिप्रधान जीवन को उन्नत करने के लिये उपर्युक्त सार्वजनीन कर्म में पाँच अन्य कर्मों का समावेश कर उन्हें दश शील कहा है। वे पाँच सम्यक् कर्मान्त हैं—अपराह्णभोजन, मालाधारण, सङ्गीत, सुवर्ण और बहुमूल्य शय्या का परित्याग। अभिप्राय यह है कि अपरिग्रहभावना से भावित होकर मोहनीय और रञ्जनीय पदार्थों के प्रति भिक्षु में आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

सम्यक् आजीव

'आजीव' शब्द का अर्थ जीविका है। यह अङ्ग सम्यक् कर्मान्त की अभिव्यक्ति है। प्रतिषिद्ध कर्मों के परित्यागपूर्वक शास्त्रविधि से जीविकोपार्जन करना सम्यक् आजीव है।

अष्टाङ्गिक मार्ग के ये तीन भेद; सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त तथा सम्यक् आजीविका; समन्वितरूप से 'शील' साधन के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार अन्तिम तीन अङ्ग 'समाधि' साधन में परिगणित हैं। वे हैं—

सम्यक् व्यायाम

सम्यक् व्यायाम भिक्षु के साधनाक्रम की वह प्रक्रिया है, जिसमें अपने में अन्तर्निहित साधुता के विकासक्रम में भिक्षु निरन्तर उद्योगशील रहता है। मैत्रीभाव से द्वेष, करुणाभाव से विहिंसा, मुदिताभाव से अरति (अप्रीति) तथा उपेक्षाभाव से राग का उपशम करना है। बौद्धदर्शन में ये चार चित्त की सर्वोत्कृष्ट और दिव्य अवस्थाएँ हैं। इनको ब्रह्मविहार कहते हैं। चित्त-विशुद्धि के ये उत्तम साधन हैं। योगदर्शन में ये चित्तपरिकर्म तथा चित्तप्रसादन नाम से कहे गये हैं—

यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/३३

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-
पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।

योगसूत्र १/३३

सम्यक् स्मृति

इस अङ्ग का विस्तृत वर्णन दीर्घनिकाय में किया गया है। सम्यक् स्मृति के चार भेद हैं—कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना तथा धर्मानुपश्यना। काय और चित्त की साङ्गोपाङ्ग संवेदनाओं के प्रति सतत प्रहरी बने रहते हुए आपातरमणीय वस्तुओं से विमुख रहना सम्यक् स्मृति का उद्देश्य है। उदाहरण के रूप में शरीर को मल-मूत्रादि का समुच्चयमात्र समझने वाला भिक्षु ही 'कायानुपश्यी' कहलाता है। काय के प्रति जुगुप्सावृत्ति पण्डितजन में ही जागरित होती है। व्यासभाष्य में कहा है—

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ।।

व्यासभाष्य, योगसूत्र २/५

बौद्धों की चित्तानुपश्यना की व्याख्या योगदर्शन में पदे-पदे देखने को मिलती है। योगभाष्यकार व्यासदेव ने चित्तभूमि, चित्तनदीधारा, चित्तवृत्ति आदि अनेक स्थलों में चित्त का साङ्गोपाङ्ग स्वरूप प्रस्तुत किया है। एक शब्द में अभ्यास और वैराग्य चित्तरूपी पक्षी के दो पर्ण हैं। जिससे अनासक्त एकाग्रचित्त असम्प्रज्ञातयोग तक अपनी उड़ान भर चरम कैवल्य तक पहुँचता है।

सम्यक् समाधि

बौद्धों के अष्टाङ्गिक मार्ग का यह अन्तिम अङ्ग है। यहाँ समाधि शब्द ज्ञान की उस पराकाष्ठा को द्योतित करता है जिससे **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** सिद्धान्त समर्थित होता है। ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती, यह सिद्धान्त बुद्ध को भी सर्वथा मान्य था। परन्तु शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती है, जब तक उसे धारण करने की योग्यता शरीर में उत्पन्न नहीं होती। ज्ञान के उदय के लिये शरीर की शुद्धि नितान्त आवश्यक है। इसीलिये बुद्ध ने शील और समाधि के द्वारा क्रमशः कायशुद्धि और चित्तशुद्धि पर विशेष बल दिया है।

इस सम्यक् समाधि के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ ध्यान—ये चार सोपान हैं—

प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता—इन पाँच चित्तवृत्तियों का प्राधान्य रहता है।

द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार नहीं रहता है। प्रीति, सुख एवं एकाग्रता इन तीन ही मनोवृत्तियों की बहुलता होती है।

तृतीय ध्यान में प्रीति नहीं रहती, केवल सुख और एकाग्रता का वैशिष्ट्य रहता है।

चतुर्थ ध्यान में सुख न रहकर उपेक्षा और एकाग्रता का प्राधान्य रहता है।

ज्ञातव्य है कि समाधि विषय में चित्त के प्रथम प्रवेश को **'वितर्क'** कहते हैं। इस विषय में अनुमज्जन करने को **'विचार'** कहते है। उससे जो आनन्द उत्पन्न होता है,वह है—**'प्रीति'**। उसके कारण मन में जो समाधान होता है वह है—**'सुख'**। इस विषय में चित्त की जो एकवाक्यता है, उसका

नाम **'एकाग्रता'** है और उस विषय में जो अत्यन्त निष्कम्पता है, उसे **'उपेक्षा'** कहते हैं।

सम्यक् समाधि के चार सोपानों का दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण

सम्यक् समाधि में प्रवेश की उत्तरोत्तर गहन स्थितियों को साइकिल के दृष्टान्त से; जैसे योगदर्शन में शरसन्धान के अभ्यासक्रम से, समझा जा सकता है। जब हम सर्वप्रथम साइकिल में चढ़ना सीखते हैं तब यन्त्र-सन्तुलन (समतोल) साधना ही क़ठिन होती है। इस समतोल को 'वितर्क' कहा जा सकता है। यन्त्र में सन्तुलन प्राप्त हो जाने के पश्चात् साइकिल की गति-प्रणाली में हमारा मन अनुमज्जन करता है, यही 'विचार' है। वितर्क और विचार के द्वारा साइकिल पर प्रभुत्वसम्पादन करने पर मन में जो विलक्षण आनन्द की अनुभूति होती है, वही 'प्रीति' है। शनैः-शनैः शरीर को समाधान का अनुभव होने लगता है, वही 'सुख' है। तदनन्तर जागरित तन्मयता को 'एकाग्रता' कहते हैं।

चक्रयान-आरोहण की परिपक्वावस्था में 'वितर्क' और 'विचार' का चिन्तन समाप्त हो जाता है। केवल प्रीति, सुख और एकाग्रता इन वृत्तियों का प्राधान्य रहता है। अन्त में ये भी क्रमशः धूमिल होते जाते हैं। इस प्रकार एकाग्रता की परिपक्वता में साधक किसी सर्वव्यापी विषय के ध्यान में तल्लीन हो जाता है।

योगदर्शन में प्रतिपादित ध्यान

पतञ्जलि के ध्यानयोग (सम्प्रज्ञातसमाधि) में भी वितर्क, विचार, आनन्द शब्दों का प्रयोग मिलता है। किंवा योगदर्शन प्रमेयवादी शास्त्र है। अतः उसमें ध्यानयोग का अभ्यास-विस्तार विषय (तत्त्व-प्रमेय) मूलक है। किन्तु ध्यान की तकनीक समान है। योगदर्शन में ध्यान की पराकाष्ठा को अर्थमात्रनिर्भासक माना है जहाँ ध्याता और ध्येय का अवभास समाप्त हो जाता है। सूत्र है—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

योगसूत्र ३/३

हीनयान और महायान में ध्यानयोग

ज्ञातव्य है कि बौद्धों के हीनयान तथा महायान सम्प्रदाय में ध्यान का महत्त्व प्रतिपादित है, किन्तु दोनों के लक्ष्य के विषय में मौलिक भेद है। हीनयान के अनुसार निर्वाण प्राप्ति ही चरम लक्ष्य है। अर्हत् पद की प्राप्ति प्रधान उद्देश्य है। अर्हत् केवल अपने क्लेश की निवृत्ति का अभिलाषी रहता है। वह तो अपने को अपने में सीमित रखता है।

जब कि महायान का लक्ष्य ही दूसरा है। महायान में चरम उद्देश्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। साधक को जीवन का अन्तिम ध्येय बुद्ध बनाना है।

पातञ्जलयोगदर्शन में हीनयान और महायान के चरम उद्देश्य को समन्वित रूप से प्रतिपादित किया है। महायान का बुद्धत्व पतञ्जलि के अविप्लुतविवेकख्याति की व्याख्या करता है और हीनयान के अनुसार समस्त क्लेशों की निवृत्ति पतञ्जलि के पुरुष की निरुपाधिक स्वस्थिति है। पतञ्जलि के योगसूत्र के अन्तिम सूत्र में दोनों स्थितियों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। सूत्र है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।

योगसूत्र ४/३४

गुणव्यापार की निवृत्ति; अविद्या के क्षीण होने के कारण, बुद्धत्व की स्थिति है और स्वरूपप्रतिष्ठा साधक के निर्वाण को इङ्गित करती है।

बौद्ध और योगदर्शन में ज्ञानमूलक ध्यानयोग की स्थापना

योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव ने ध्यान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था, जिसे असम्प्रज्ञात योग कहा गया है, को मुमुक्षुओं के लिये उपयोगी बतलाया है और अज्ञानमूलक सर्ववृत्तिनिरोध को हेयकोटि में रखा है—

स खल्वयं द्विविध उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च । तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/१९

किञ्च—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।

योगसूत्र १/२०

इस सूत्र द्वारा प्रतिपादित श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा—वे ही उपाय हैं जो विशुद्धिमार्ग आदि बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित हैं। ये पाँच मानसिक शक्तियाँ हैं, जिनमें सामञ्जस्य अपेक्षित है। बौद्धग्रन्थों में श्रद्धादि की व्याख्या इस प्रकार हुई है—

आचार्य कहते हैं कि श्रद्धा का अतिरेक होने से और प्रज्ञा के मन्द होने पर मनुष्य सारहीन बातों पर विश्वास करने लगता है। इसी प्रकार प्रज्ञा बलशालिनी हुई और श्रद्धा मन्द हुई तो मनुष्य स्वार्थसाधक हो जाता है। इसमें क्या? और उसमें क्या? इस प्रकार के प्रश्नात्मक विचारों से परोपकारादि धार्मिक कृत्यों में उसका विश्वास नहीं रहता,वह तो केवल स्वकेन्द्रित हो जाता है। अतः दोनों मनोवृत्तियों का समन्वय आवश्यक है।

समाधि मन्द हुई और केवल उत्साह ही द्विगुणित हुआ तो मनुष्य भ्रान्तचित्त हो जाता है। एक विदेशी प्राध्यापक कहा करते थे कि हम लोगों को अत्यन्त द्रुतगामी रेलगाडी तो चाहिए, परन्तु इष्ट स्थान पर पहुँचने पर क्या करना है? ऐसा ज्ञान नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि समाधि के विना केवल उत्साह से मनुष्य को सुख प्राप्त नहीं होता है। इसके विपरीत समाधि बलवती हुई और उत्साह मन्द हुआ तो मनुष्य आलस्ययुक्त हो जाता है। अतः समाधि और उत्साह दोनों में समन्वय आवश्यक है।

इन सबके लिये स्मृति अर्थात् जागृति सर्वत्र होनी चाहिए। 'स्मृति' साधक को कुशल पर्यवेक्षक बनाती है। अतः श्रद्धा आदि के प्रति सचेष्ट दृष्टि बनाये रखने के लिये 'स्मृति' आवश्यक है।

पलिबोध अथवा योगान्तराय

साध्य की सम्पूर्ति के लिये साधना-पद्धति अपेक्षित है। साध्य की सिद्धि के लिये जिन हेतुओं का आलम्बन लिया जाता है, उन्हें 'साधन' और उनके अभ्यासक्रम को 'साधना' कहा जाता है। साधनाकाल में अनेक बाधाएँ आती हैं, जो दुर्बल चित्त वाले व्यक्तियों को प्रभावित कर उन्हें समाधिमार्ग से दूर कर देती हैं। योगसूत्र में इन्हें योगान्तराय कहा है। विसुद्धिमग्ग में पलिबोध कहा है। बुद्धघोष ने इन सब अन्तरायों का निर्देश एकत्र एक गाथा में किया है—

आवासो च कुलं लाभो गणो कम्मं च पंचमं ।
अद्धानं ञाति आबाधो गन्थो इद्धीति ते दसा ति ।।

विसुद्धिमग्ग पृ. ६१

ये दश हैं—आवास, कुल, लाभ, गण, कम्म, अद्धान, ज्ञाति, आबाध, गन्ध, तथा इद्धि।

योगसूत्र के अनुसार नौ अन्तराय हैं—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व तथा अनवस्थितत्व। सूत्र है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वान-वस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।

योगसूत्र १/३०

बौद्धदर्शन के अन्तराय व्यावहारिक हैं जब कि योगदर्शन में प्रति-पादित अन्तराय साधनापद्धति के अधिक निकट हैं, किन्तु समाधिप्राप्ति में दोनों बाधास्वरूप हैं। लक्ष्यसिद्धि में दोनों का गतिरोध तुल्य है।

भूमिविचार

साधना के विकासक्रम में साधक शनैः-शनैः आत्मिक शक्तियों का विकास करता है। साधक के चैत्तिक उत्थान का बोध उसके अन्तर्वर्ती परिवर्तन से होता है। यह तो निश्चित बात है कि आध्यात्मिक उन्नति एक दिन के अध्यवसाय का फल नहीं है।

हीनयान के अनुसार अर्हत पद की प्राप्ति तक चार भूमियाँ हैं। उनके नाम हैं—१. स्रोतापन्न २. सकृदागामी ३. अनागामी ४. अर्हत्।

महायान के अनुसार बुद्धत्व या निर्वाण प्राप्ति के लिये दश भूमियाँ मानी जाती हैं। उनके नाम है—१. मुदिता २. विमला ३. प्रभाकरी ४. अर्चिष्मती ५. सुदुर्जया ६. अभिमुक्ति ७. दूरंगमा ८. अचला ९. साधमती १०. धर्ममेघ।

पतञ्जलि के योगदर्शन में सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा का उल्लेख मिलता है। सूत्र है—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ।

योगसूत्र २/२७

'प्रान्तभूमि' शब्द का विग्रह करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी टीका में लिखा है—

प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमीनाम् अवस्थानां तास्तथोक्ताः ।

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र २/२७

विवेकज्ञान समस्त ज्ञानों में उत्कृष्टतम है। राजस और तामस वृत्तियों से रहित विशुद्धसत्त्वगुणप्रधान एकाग्रचित्त में इन सात प्रकार की प्रज्ञाओं का उदय होता है। व्यासभाष्यकार व्यासदेव ने इन्हें १. कार्यविमुक्तिप्रज्ञा तथा २. चित्तविमुक्तिप्रज्ञा इन दो वर्गों में विभाजित किया है। इनमें प्रथम चार प्रयत्नसाध्य 'कार्यविमुक्ति' प्रज्ञाएँ हैं तथा अन्तिम तीन स्वतःसिद्ध 'चित्तविमुक्ति' प्रज्ञाएँ हैं। व्यासभाष्य में कहा है—

इत्येषा चतुष्टयी कार्य्या विमुक्तिः प्रज्ञायाः । चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र २/२७

योगशास्त्र में ज्ञान की चरमावस्था को अविप्लुतविवेकख्याति कहते हैं। इसी का अपर पर्याय 'धर्ममेघ' है। यह सम्प्रज्ञातयोग की पराकाष्ठा है। योगवार्त्तिककार विज्ञानभिक्षु ने अधोलिखित सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ।

योगसूत्र ४/२९

अविद्याऽन्तराणि यदा न जायन्ते तदा धर्ममेघसमाधिरित्यर्थः, क्लेशकर्मादीनां निःशेषेणोन्मूलकं धर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेघः ।

योगवार्त्तिक, योगसूत्र ४/२९

बौद्धदर्शन में बोधिसत्त्व भूमियों में 'धर्ममेघ' भूमि का स्वरूप पतञ्जलि के योगदर्शन से साम्य रखता है। बौद्धदर्शन के अनुसार इस अवस्था में बोधिसत्त्व सब प्रकार की समाधियों को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार से राजा अपने पुत्र को युवराज के पद पर अभिषिक्त करता है, उसी प्रकार साधक बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। बोधिसत्त्व भूमियों में यही चरम पर्यवसान है। इस प्रकार 'धर्म' रूप ज्ञान का वर्षा दोनों दर्शनों में समान है।

इसी प्रकार बौद्धदर्शन में प्रसंख्याननिरोध और योगदर्शन में प्रसंख्यानसमाधि भी प्रज्ञा या ज्ञान की एक अवस्थाविशेष है।

निर्वाण और कैवल्य की अवधारणा

बौद्धदर्शन का परमार्थ है—'निब्बान'। यह पाली भाषा का शब्द है, जो 'नि' और 'वान' से निष्पन्न होता है। 'नि' निपात नकारात्मकता का बोध कराता है। 'वान' का अर्थ है तृष्णा। इस प्रकार तृष्णा का निवारण है—निर्वाण। निर्वाण क्लेशों का क्षय है। निर्वाण को निरोध कहा गया है। निर्वाण या निरोध को विनाश का सूचक नहीं समझना चाहिए। अग्नि का बुझना अग्नि का नाश नहीं, अपितु उसका अपने मूल प्रभव में लय होना है। उसी प्रकार जो निर्वाण को पाता है वह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, दिग्-दिगन्त कहीं नहीं जाता है, वह कर्म-क्लेशों का क्षय होने से प्राप्त शान्तिमात्र है। भगवान् बुद्ध कहते हैं—

परिमं तीरं खेमं अप्परिभयं ति खो भक्खवे निब्बानस्सेतं अधिवचनं ।

संयुक्तनिकाय (आसीविसोपमसुत्त), २३८

अभिप्राय यह है कि 'यह निर्वाण संसार का पार है, दुःखों का तीर है, क्षेमस्वरूप है, भयरहित है।' यही निर्वाण का अधिवचन है। निर्वाण परम सुख है—

निब्बानं परमं सुखम् ।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की भाँति बुद्धपरम्परा में भी दो प्रकार का निर्वाण है—

१. सोपादिसेस निब्बान ।

२. अनुपादिसेस निब्बान ।

'सोपादिसेस निब्बान' में छः इन्द्रियाँ बची रह जाती हैं किन्तु इच्छा, घृणा और भ्रम अर्थात् जगत् को अन्तिम सत्य अथवा परम चैतन्य मानने की भ्रान्ति का नाश हो जाता है।

'अनुपादिसेस निब्बान' (परिनिर्वाण) में न 'आसव' अर्थात् बन्धनकारी इच्छाएँ, संस्कार, अज्ञान अवशिष्ट रहते हैं, न ही छः इन्द्रियों वाला शरीर। कहा है—

सरीरं विजहं परिनिब्बिस्सति अनासवो ।

अर्थात् परिनिर्वाण में संकल्पशून्यता की स्थिति होती है, चरमशान्ति, नितान्तचेतना ।

योगदर्शन में प्रतिपादित कैवल्य बौद्धों के निर्वाण के अत्यन्त निकट है। बौद्ध के अनुसार क्लेशों का क्षय और पतञ्जलि के अनुसार गुणों की प्रतिप्रसवता एक है। प्रति पुरुष के प्रति बुद्धि तभी चरिताधिकारा होती है जब ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था में वह क्षीणक्लेश हो जाती है। बुद्धि की वन्ध्यक्लेशावस्था को ही परमार्थरूप में परमार्थशून्य गुणों की प्रतिप्रसवता कहते हैं। इसी की अभिव्यक्ति पुरुष के अपने केवल स्वरूप में प्रतिष्ठित होने से की गई है। यही बौद्धों का परमसुख है। पतञ्जलि का सूत्र है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्,
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।

योगसूत्र ४/३४

एक शब्द में निर्वाण है जाग उठना एक दुःस्वप्न से। जगत् की आसक्ति का, तृष्णा का, ऐन्द्रिय सुखों के अन्वेषण का दुःस्वप्न हमें निस्तेज बना देता है। निर्वाण सम्यक् दृष्टि है। निर्वाण समस्त काल्पनिक एवं अयथार्थ अनुभूतियों से रिक्त है। बुद्ध के अधरों में अन्तिम क्षणों में यही शब्द थे—

अप्प दीपो भव ।

कैवल्य और निर्वाण तत्त्वतः एक ही हैं।

शून्यताः निर्वाणः निस्सीमता

शून्यता का अर्थ है—वादों-विवादों-प्रतिवादों से शून्यता—

शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः ।
येषां तु शून्यता दृष्टितानसाध्यान् बभाषिरे ।।

कौन मानेगा कि भगवान् बुद्ध का शून्य एक रीतापन, खालीपन, रिक्तता है। यदि वैसा होता तो निर्वाण कैसे होता अस्खलित, शिव, क्षेम, शान्त, ध्रुव, सत्य आदि। तथागत का शून्य रीता है पदार्थ से, उन सब से जिसे हम होना कहते हैं, जो इन्द्रियगम्य है। शून्यता निःस्वभावता है अर्थात् प्रकृति से सर्वथा मुक्त परम पुरुष है। भगवान् बुद्ध तथागत हुए, तथता की

संबोधि उन्हें प्राप्त हुई। उन्होंने जान लिया कि इस सापेक्ष जगत् के पीछे एक निरपेक्ष सारतत्त्व विद्यमान है, जो इक्षुरस के माधुर्य की तरह अनिर्वचनीय है।

शून्यता : आत्मा : ब्रह्म—तत्त्वत: एकरूप

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि बौद्धदर्शन में जिसे शून्यता कहा गया है, क्या वह ब्रह्म-आत्मा-चैतन्य से भिन्न है। इस प्रश्न का समाधान अन्वेषित करने के लिये सर्वप्रथम हमें बुद्ध को अन्वेषित करना होगा और समझना होगा कि भगवान् बुद्ध सनातन भारतीय धर्म और चेतना का आत्मविस्तार है। उन्होंने उसकी ही साधना की और उसकी ही संबोधि प्राप्त की।

भगवान् बुद्ध द्रष्टा बने, उन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार किया उस ब्रह्म का जो गूंगे का गुड है।

शून्यता-अनिर्वचनीय माधुर्य की अनुभूति

शून्यता अथवा चैतन्य अनिर्वचनीय माधुर्य है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—गुड मीठा लग रहा है, गूंगा उसे खाकर मुस्करा रहा है, परन्तु बता नहीं पाता कि वह मीठा है। गूंगे की बात छोड़ दें, जो लोग बोल सकते हैं क्या वे बता सकते हैं कि मिठास क्या है? मिठास की परिभाषा क्या है? इसके अतिरिक्त कोई उत्तर नहीं है कि मिठास वह अनुभूति है जो मीठा खाने पर होती है और मीठा उसे कहते हैं जिसमें मिठास होता है।

मिठास की कोई परिभाषा नहीं है। खजूर में मिठास कहाँ रहता है, उसका क्या रूप है? क्या माप है? क्या रंग है? कोई बता सकता है? नहीं, तथापि यह सब जानते हैं कि मिठास खजूर में व्याप्त है, किन्तु मिठास में खजूर नहीं है। गुड़ में मिठास है परन्तु उसमें खजूर नहीं है। मिठास गुड और खजूर से शून्य है। इसी प्रकार चैतन्य आत्मा जगत् से शून्य है।

शून्यता-परमार्थ सत्य

शून्यता की देशना भगवान् बुद्ध ने महायान सूत्रों में, विशेषत: प्रज्ञापारमिता सूत्रों में की है। राष्ट्रपालपरिपृच्छा सूत्र में कहा गया है कि शून्यता, अनुत्पाद और शान्ततत्त्व को न जानने के कारण यह जगत् भ्रमित हो रहा है। माध्यमिकों का कहना है कि शून्यता केवल महायान सूत्रों में ही उपदिष्ट नहीं है, अपितु हीनयान सूत्रों में भी संकेतित है।

शून्यता का अर्थ कुछ न होना नहीं, अपितु मन का मौन है, उस

मन का जो समस्त सीमाओं से परे मुक्त उडान भरता है। शून्य इस प्रकार का स्वभाव है, जिसमें समग्र प्रपञ्च की निवृत्ति होती है। यह 'भाव' पदार्थ है न कि 'अभाव' पदार्थ।

भगवान् बुद्ध के **नैरात्म्यवाद** का अर्थ आत्म-अभाव अथवा ब्रह्म-अभाव नहीं है। आत्मविषयक प्रश्न होने पर भगवान् बुद्ध का मौन हो जाना 'मध्यममार्ग' की स्वीकृति है और विनयी शिष्यों पर योग्यता के आधार पर करुणा का भाव है। शून्यावस्था का प्रतिपादन करना 'योगप्रभाव' तथा महायोगी होने के कारण समाधि-अवस्था का वर्णन है। नागार्जुन प्रतिष्ठापित शून्यवाद तथा वसुबन्धु द्वारा वर्णित विज्ञानवाद स्पष्टतः योग की परावस्था उत्तमस्थिति का विशद उत्कृष्टतम भाष्य है। अतः आत्मवाद और शून्यवाद में जो नितान्त भिन्नता प्रतीत होती है, वह बाह्य है, शाब्दिक है तथा तत्-तत्-सम्प्रदायजन्य मनोभाव है।

बौद्धदर्शन में कर्म और पुनर्जन्म

बौद्धदर्शन में कर्म एवं पुनर्जन्म के विषय में विचार करने पर इसके कार्यकारणनियम जिसे **'प्रतीत्यसमुत्पादवाद'** के नाम से जाना जाता है, पर दृष्टि जाना स्वाभाविक है।

बौद्धदर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानता है। अब प्रश्न यह होता है कि आत्मा के अनित्य संघातमात्र होने से पुनर्जन्म किसका होता है? वैदिक दर्शन में भी पुनर्जन्म की मान्यता है किन्तु वहाँ इस प्रकार की कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, क्योंकि आत्मा को नित्य मानने के कारण पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस विप्रतिपत्ति की सीमा में आता ही नहीं है। बौद्धदर्शन आत्मा के अस्तित्व को ही नित्यरूप में नहीं स्वीकार करता है। तब पुनर्जन्म किसका होता है? जिसने कर्म किया वह अतीत में विलीन हो जाता है और जो जन्म धारण करता है, उसने वे कर्म ही नहीं किये जिसके फल को भोगने के लिये नूतन जन्म की आवश्यकता पड़े? यह चर्चा मिलिन्द पन्हों में अत्यधिक रोचक प्रकार से की गई है—

राजा मिलिन्द का यही प्रश्न था कि जो उत्पन्न होता है वह वही व्यक्ति है या दूसरा। नागसेन का उत्तर है कि न वही है और न दूसरा। इस सिद्धान्त को नागसेन ने **दीपशिखा** के दृष्टान्त से समझाया है। मनुष्य रात्रि

में जो दीपक प्रज्ज्वलित करता है, क्या रात्रिपर्यन्त वही दीपक जलता है? साधारणरीति से यही प्रतीति होती है कि सम्पूर्ण रात्रि वही दीपक जलता है, परन्तु वस्तुस्थिति तो बदलती है कि रात्रिकाल में उस दीपक की प्रतिक्षण की दीपशिखा भिन्न थी। दीपक की शिखा प्रतिक्षण परिवर्तमान है। आत्मा के विषय में भी यही दशा चरितार्थ होती है और इस तरह निरन्तर प्रवाह बना रहता है। प्रवाह की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता, क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उठ खड़ी होती है। इसी कारण पुनर्जन्म के समय न वही जीव रहता है और न दूसरा ही हो जाता है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही दूसरे जन्म का विज्ञान खडा हो जाता है।

पुनर्जन्म के समय जन्म लेने वाला जीव न तो वही है और न उससे भिन्न। विज्ञान की शृङ्खला प्रतिक्षण बदलती रहती है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान खडा होता है। प्रतिक्षण कर्म नष्ट होते चले जाते हैं परन्तु उनकी वासना अग्रिम क्षण में अनुस्थूल रूप में प्रवाहित होती है। इसलिये अनित्यता को मानते हुए भी बौद्धदर्शन में पुनर्जन्म को तर्कयुक्त माना है। श्रीमद्भागवत में बतलाया है कि जिस प्रकार विना कारण के कार्योत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार जन्मादि भी विना कारण के सम्भव नहीं, कारण उसी शरीर का पूर्वकृत कर्म ही है—

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते ।

श्रीमद्भागवत १०/२४/१३

प्रतीत्यसमुत्पाद-द्वादशनिदान

बौद्धों के कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त 'प्रतीत्यसमुत्पाद' अर्थात् 'कार्यकारणनियम' से जाना जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश अङ्ग हैं, जिनमें से प्रत्येक दूसरे के कारण उत्पन्न होता है। इसे 'भवचक्र' के नाम से जानते हैं। इन अङ्गों की संज्ञा 'निदान' भी है। वे द्वादश निदान हैं—

अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति तथा जरा।

पुनर्जन्म के परिप्रेक्ष्य में ये द्वादशनिदान तीन जन्मों से सम्बद्ध माने गये हैं। इनमें से प्रथम दो निदानों अविद्या तथा संस्कार का सम्बन्ध अतीत जन्म से है, अग्रिम आठ निदानों विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना,

तृष्णा, उपादान तथा भव का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है तथा अन्तिम दो निदानों जाति तथा जरा को भविष्य जीवन से सम्बद्ध मानते हैं। इसी कारण वसुबन्धु ने इसे त्रिकाण्डात्मक बतलाया है।

योगदर्शन में 'अविद्या' को पञ्चक्लेश के अन्तर्गत रखा है। सूत्र है—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ।

योगसूत्र २/३

मानव का कर्म अविद्यामूलक होता है। अस्मिता आदि अविद्या की प्रजातियाँ हैं। ऐसे ही बौद्धसम्मत द्वादशनिदानों का उत्पत्तिस्थल अविद्या ही है। द्वादशनिदान का ऐसा कोई भेद नहीं है, जिसकी उद्भावना योगदर्शन में न हुई हो। योगदर्शन में भी कर्मजनित वासना, जिसे बौद्धदर्शन में संस्कार शब्द से कहा गया है; वर्तमान (दृष्ट) तथा भविष्य (अदृष्ट) जन्मों में अपना अनुभव कराती है। कर्मवासना की अनुभवनीयता के तीन आधार हैं—जाति, आयु तथा भोग। इसके लिये पतञ्जलि के सूत्रद्वय अवलोकनीय हैं—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।

योगसूत्र २/१२-१३

कर्म और कर्मफल का सिद्धान्त दोनों दर्शनों में समान है। जातक कथाओं में अनेकशः तथागत बुद्ध के विभिन्न जन्मों की कथा कही गई है। वे चेतना के सतत प्रवाह की बात कहते हैं। योगदर्शन के व्यासभाष्य में भी आवट्य-जैगीषव्य, संवाद द्वारा भी पुनर्जन्म का सिद्धान्त परिपुष्ट होता है। इस प्रकार ऋषिपरम्परा और श्रवणपरम्परा में कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म की अवधारणाएँ एक दूसरे के समानान्तर हैं। कर्म अर्थात् कार्य-कारण-शृङ्खला और आघात-प्रत्याघात के ताने-बाने से बुनी गई चदरिया। कबीरदास इसी चदरिया को मैली न करने का आग्रह करते हैं। कर्म की मीमांसा करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है कि पापकर्म ताजे दूध की भाँति तुरन्त विकार नहीं लाता। वह राख से ढकी आग की तरह जलाता हुआ मूर्ख व्यक्ति का पीछा करता है। वचन है—

न हि पापं कतं कम्मं सज्जु खीरं व मुच्चति ।
उहन्तं बालमन्वेति भस्मच्छन्नो छन्नो व पावको ।।

धम्मपद ५/१२

आत्मवाद और अनात्मवाद—एक ही सत्य के दो रूप

जब आप अपने आप से पूछते हैं कि आप इस शरीर में कहाँ हैं तो आपको दो उत्तर प्राप्त होते हैं—१. शरीर में सर्वत्र तथा २. शरीर में कहीं भी नहीं। जब आप कहते हैं कि आप शरीर में सर्वत्र हैं तब यह वैदिक दृष्टि है और जब आप कहते हैं कि आप शरीर में कहीं नहीं है तब यह बौद्ध दृष्टि है। ये दोनों दृष्टियाँ एक साथ मिलकर सत्य का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनको एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।

प्राय: हम लोग कहते हैं कि हमें आत्मदर्शन हो गया। परन्तु सत्य यह है कि आत्मा दृष्टि का विषय नहीं हो सकता। इसी कारण भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद का प्रतिपादन किया। उन्होंने आत्मा के विषय में चर्चा का निषेध किया। यही है उनका अनात्मवाद।

भगवान् बुद्ध के शिष्य बनने वाले लोग परम विद्वान् थे। वे ज्ञानी थे। उन्हें आत्मा के विषय में ग्रन्थों में प्रतिपादित ज्ञान की पूरी जानकारी थी, फिर भी वे बुद्ध की शरण में गये। इसका कारण यह था कि आत्मा के प्रश्न पर मौन रह जाने वाले बुद्ध की चुप्पी स्वयं आत्मा अर्थात् शुद्ध चेतना में ही उत्पन्न हुई थी। उन्होंने अपने शिष्यों को केवल इतना कहा—

१. **कायानुपश्यिन्**—अर्थात् काया को देखो ।

२. **वेदनानुपश्यिन्**—अर्थात् काया के भीतर होने वाली हलचल को देखो।

३. **चित्तानुपश्यिन्**—अर्थात् अपने चित्त में होने वाली हलचल को देखो।

४. **धर्मानुपश्यिन्**—अर्थात् अपनी प्रकृति को देखो, जानने की चेष्टा करो कि तुम्हारी वास्तविक प्रकृति क्या है?

संक्षेप में चेतना और आत्मा एक ही है। आत्मा संज्ञा है। बुद्ध इसे समस्त संस्कारों, प्रवृत्तियों, रुचियों और अरुचियों की संज्ञा देते हैं।

बौद्धदर्शन में व्यावहारिक रूप से आत्मा का निषेध नहीं किया गया है, प्रत्युत पारमार्थिक रूप से ही। इनके अनुसार आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पञ्च स्कन्धों का समुदायमात्र है। परन्तु इनके अतिरिक्त आत्मा कोई स्वतन्त्र परमार्थभूत पदार्थ नहीं है। आत्मा के लिये बौद्ध लोग सन्तान शब्द का प्रयोग करते हैं। आत्मा मानसिक तथा भौतिक, आभ्यन्तर तथा बाह्य, इन्द्रिय तथा इन्द्रियविषयों का सन्तानरूप है। अठारह धातु मिलकर इस सन्तान को उत्पन्न करते हैं।

अष्टादश धातु

बौद्धदर्शन में पञ्च स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) तथा द्वादश आयतन (छः इन्द्रियाँ और उनके छः विषय) के साथ-साथ अष्टादश धातुओं का भी वर्णन मिलता है। धर्मों का धातुओं के रूप में यह विभाजन एक नवीन दृष्टिकोण से किया गया है। 'धातु' वैद्यकशास्त्र से लिया गया है। वैद्यकशास्त्र के अनुसार इस शरीर में अनेक धातुओं का सन्निवेश है। इसी प्रकार बौद्धदर्शन इस जगत् में अनेक धातुओं की सत्ता मानता है। धातुओं की संख्या अठारह है, जिनमें छः इन्द्रियाँ, छः विषय तथा छः विज्ञानों का ग्रहण किया जाता है। इन्द्रिय और विषय तो वे ही हैं जिनका वर्णन आयतन रूप से किया गया है। तत्-तत् इन्द्रियों का स्व-स्व विषयों के साथ सम्पर्क होने पर छः प्रकार का विशिष्ट ज्ञान (विज्ञान) उत्पन्न होता है जो इन्द्रिय-विषयों की संख्या के अनुसार छः प्रकार का होता है।

बौद्धदर्शन के चारों प्रकार के सिद्धान्तवादियों (माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक) द्वारा सामान्यतया आत्मा का जिस प्रकार का स्वरूप निरूपण किया गया है, तदनुसार आत्मा नित्य, एक एवं स्वतन्त्र है। इस प्रकार स्कन्ध से पृथक् स्वतन्त्र द्रव्यात्मक आत्मा का समर्थन हुआ है। एक शब्द में उपनिषद् के ऋषि का 'मौन' एवं बुद्ध का 'अव्याकृत' इसी सत्य को बतलाते हैं।

जीवन-दर्शन के पक्षधर : भगवान् बुद्ध

भगवान् बुद्ध के उपदेशों को समझने का प्रयास करते समय हमें यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि गौतम बुद्ध का उद्देश्य दर्शन के तर्कसंगत सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना नहीं था। उनका उद्देश्य मानव को दुःखों से

छुटकारा दिलाना था। इस उद्देश्य के लिये उन्होंने विश्वमञ्च पर नैतिक उद्देश्यों को उद्‌घटित किया।

समान उद्देश्य के लिये समर्पित होने के कारण पातञ्जलयोगदर्शन एवं बौद्धदर्शन की आचार-मीमांसा का प्रयोगपक्ष साधनापद्धति के अधिक निकट होने से उनकी तार्किक एकरूपता को प्रकट करता है। उनमें पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की भिन्नता नहीं, अपितु भावभूमि की एकरूपता अवलोकनीय है।

दर्शनपटल पर असमानता भी प्रतीतिमात्र

योगसूत्र पर लिखे व्यासभाष्य का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि व्यासदेव ने बाह्य पदार्थ का स्वरूप परिभाषित करते हुए विज्ञानवादी बौद्धों को पूर्वपक्ष के रूप में खडा किया है और दोनों सम्प्रदायों में दार्शनिक असमानता को उद्‌घाटित करने का प्रयास किया है। कुछ महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं—

१. बाह्य पदार्थ को चित्त की परिकल्पना मात्र नहीं माना जा सकता है, इसका प्रतिपादक सूत्र और भाष्यांश है—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ।।

योगसूत्र ४/१५

बहुचित्तावलम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणम् ।

तत्खलु नैकचित्तपरिकल्पितं नाप्यनेकचित्तपरिकल्पितं किन्तु स्वप्रतिष्ठम् ।

व्यासभाष्य, ४/१५

अभिप्राय यह है कि अनेक ज्ञानों का आलम्बनीभूत वस्तु एक ही है। उसे न एक ज्ञान के द्वारा न अनेक ज्ञान के द्वारा कल्पित कहा जा सकता है। क्योंकि बाह्य वस्तु अपने रूप में प्रतिष्ठित है।

२. वस्तु को ज्ञानसहभू भी नहीं कहा जा सकता है—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु, तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ।

योगसूत्र ४/१६

इस परिप्रेक्ष्य में तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो पता चलता है कि विज्ञानवादियों ने बाह्य वस्तु का खण्डन नहीं किया, अपितु उनकी

स्वतन्त्र सत्ता का निषेध किया है। यह वही दृष्टिकोण है, जिसमें पहुँचकर सभी मार्ग, सभी विवाद, सभी दृष्टियाँ लय हो जाती हैं और एक शून्य आत्मतत्त्व शेष रहता है।

जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'यह शरीर मेरा है' तो भोक्ता और भोग्य के सिद्धान्त का अपलाप नहीं कर सकता है।

उपसंहार

निहितार्थ यह है कि व्यवहारशिला पर अवस्थित बौद्ध तथा योगदर्शन में सैद्धान्तिक समानता है। भारतीय चिन्तनधारा के प्रत्येक प्रवाह में स्वरूपभेद के साथ ये सिद्धान्त मान्य हैं। बौद्ध चिन्तनधारा भारतभूमि की अन्य चिन्तनधाराओं की विरोधिनी नहीं है, अपितु व्यापक भारतीय चिन्तन धारा की एक प्रमुख शाखा है।

जैसे एक वृक्ष से उत्पन्न फलों में परस्पर तारतम्य तो हो सकता है। और होता भी है, वैसे ही एक ही भारतभूमि में उदित विचारकों की दृष्टियों में परस्पर तारतम्य आवश्यक है। परन्तु एक वृक्ष के फलों के समान परस्पर पूर्ण मिलना जिस प्रकार असम्भव है उसी प्रकार उक्त विचारकों के विचारों की परस्पर पूर्ण भिन्नता असम्भव है।

यत्र-कुत्रचित् शब्दों के वृद्धि-ह्रास, सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति का पर्यवसान 'पूर्णत्वप्राप्ति' भारतीय मनीषा में समान है। ऋषि का वचन स्मरणीय है—

ॐपूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदुच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाव शिष्यते ।।

●

साधनाविमर्श : बौद्ध-जैन दर्शन के सन्दर्भ में

'साधना' का अर्थ है—मन को किसी विषय में एकनिष्ठभाव से संयुक्त करना। एक सफल चिकित्सक रोग की प्रकृति के अनुसार औषधि सेवन का परामर्श करता है। संसारवासी हम सब जन अस्वस्थ ही तो हैं। हमारी अस्वस्थता क्या है? हम 'स्व' में स्थित नहीं हैं, इसी कारण अस्वस्थ हैं, रोगी हैं, अनेकानेक कष्टों एवं यन्त्रणाओं को सहन करते हुए मृत्युपथ में चल रहे हैं। रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य, अकालमृत्यु, हाहाकार—यही तो संसार का स्वरूप है। एक वाक्य में स्वरूपच्युति ही हमारे दुःख का कारण है।

साधक-साधना-साध्य का परस्पर वही सम्बन्ध है जो कि ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का है, ध्याता-ध्यान-ध्येय का है, कर्त्ता-क्रिया-कर्म का है। साधक भक्त है, साधना उसकी भक्ति है और साध्य उसका आराध्य भगवान् है।

साधना का अर्थ है—प्रयत्न करना, उद्योग करना अथवा तत्पर रहना। साधना का अर्थ सिद्धि भी है। आत्मानुसन्धान के मार्ग में, अपनी आत्मा को परमात्मा में लीनकर **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'** की अनुभूति के पथ में हमारी जो कुछ भी आध्यात्मिक चेष्टाएँ होती हैं, उन सबका नाम 'साधना' है। नदी की जलधारा ऊँचे चढ़ती है, नीचे ढलती है, वन, पर्वत को लांघती हुई बढ़ती जाती है। क्यों किसलिये? इसलिये कि वह अन्त में अपने आप को समुद्र की गोद में सुला दे, लीन कर दे, मिटा दे। मनुष्य की आत्मा भी भाग्य के चढ़ाव-उतार, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और ऐसे ही जीवन के विविध खट्टे-मीठे अनन्त अनुभवों को पार करती हुई सत्, चित् और आनन्द के एक अनन्त महासागर में अपने आप को विलीन कर देने के लिये व्याकुल है, तत्पर है। नदी का लक्ष्य है—समुद्र, मनुष्य का लक्ष्य है—भगवान् । भगवान् के मार्ग में चलने के लिये जो कुछ भी अनुष्ठान किया जाता है, जो भी व्रत लिया जाता है, वह सभी साधना है और जो कुछ भी इस मार्ग में अवरोधक है, वह है अन्तराय, वह है साधना में बाधा।

इस संसार में जितने प्रकार के साधन हैं, उनमें चार प्रकार के साधन श्रेष्ठ हैं। वे हैं—

प्रथम—वेदविहित साधनचतुष्टय ।

द्वितीय—सांख्यप्रदर्शित साधनत्रय ।

तृतीय—योगशास्त्रोक्त साधन-रीति ।

चतुर्थ—तन्त्रशास्त्रोक्त साधनप्रणाली ।

परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि कलिकाल में केवल तन्त्रशास्त्रोक्त साधन ही प्रशस्त और सिद्धिप्रद है। यही शास्त्र की उक्ति है। महानिर्वाणतन्त्र में कहा है—

तपःस्वाध्यायहीनानां नृणामल्पायुषामपि ।
क्लेशप्रयासाशक्तानां कुतो देहपरिश्रमः ।।
गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा आगमोक्ताः कलौ शिवे ।
नान्यमार्गैः क्रियासिद्धिः कदापि गृहमेधिनाम् ।।

महानिर्वाणतन्त्र

अर्थात् कलिकाल में मनुष्य तप से हीन, वेदपाठ से रहित और अल्पायु होंगे। दुर्बलता के कारण वे उस प्रकार के क्लेश और परिश्रम को सहन करने में समर्थ न होंगे। अत एव उनसे दैहिक परिश्रम किस प्रकार सम्भव हो सकता है? कलिकाल में गृहस्थजन केवल आगमोक्त विधानों के अनुसार ही कर्मानुष्ठान करेंगे। दूसरे प्रकार की विधियों से अर्थात् वैदिक, पौराणिक और स्मार्तसम्मत विधियों का अवलम्बन करके क्रियानुष्ठान करने में (कदापि सिद्धिलाभ करने में) समर्थ न होंगे।

तान्त्रिक साधन दो प्रकार का है—बहिर्याग और अन्तर्याग। बहिर्याग में गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, तुलसी, बिल्वपत्र और नैवेद्यादि के द्वारा पूजा की जाती है। अन्तर्याग में इन सब बाह्य वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। मानसोपचार के उपकरण स्वतन्त्र होते हैं, इसमें पञ्चभूतों के द्वारा उपचार कल्पना करनी पड़ती है। यथा—

पृथिव्यात्मकगन्धः स्यादाकाशात्मकम् ।
धूपो वाय्वात्मकः प्रोक्तो दीपो वह्न्यात्मकपरः ।
रसात्मकञ्च नैवेद्यं पूजा पञ्चोपचारिका ।।

पृथ्वीतत्त्व को गन्ध, आकाशतत्त्व को पुष्प, वायुतत्त्व को धूप, तेजस्तत्त्व को दीप, रसात्मक जलतत्त्व को नैवेद्य के रूप में कल्पना करके इस पञ्चोपचार द्वारा पूजा करनी पड़ती है। इसी का नाम अन्तर्याग है। षट्चक्रों का भेदन ही इस अन्तर्याग का प्रधान अङ्ग है।

बौद्धसम्प्रदाय के साधन

गौतम बुद्ध ने संसारमात्र को दुःखमय मानकर 'दुःखनिरोध को सबका अन्तिम ध्येय निश्चित किया था और इसके लिये सभी संस्कारों का शमन, चित्तमलों का त्याग एवं तृष्णा का क्षय परमावश्यक बतलाया था। इस निरोध या विरागमयी पूर्ण शान्ति की अवस्था को ही निर्वाण का नाम दिया था—जिसकी उपलब्धि चित्त को सर्वप्रथम वस्तुस्थिति का अनुभव प्राप्त करने योग्य और पूर्णरूपेण चिन्तनशील बनाने पर अवलम्बित रहती है। वस्तुस्थिति के ज्ञान का अभिप्राय पहले उनके द्वारा निर्दिष्ट मध्यम या अष्टाङ्गिक मार्ग के रहस्य को हृदयङ्गम करना था—जो क्रमशः एक अनिर्वचनीच 'धर्म' के रूप में समझा जाने लगा और आगे चलकर किसी न किसी प्रकार शून्य, धर्मतथता या भूततथता के भी नाम दिये। वस्तुतस्तु यही धर्म अथवा शून्य बौद्ध सिद्धों का 'वोहि = बोधि, जिण रअण = जिनरत्न, महासुह = महासुख, धाम अणुत्तर = अनुत्तर या जिनउर = जिनपुर है—जिसको साधना द्वारा प्राप्त कर लेना परमार्थ या परम पुरुषार्थ समझा जाता है। 'निर्वाण' शब्द वस्तुतः निषेधात्मक नहीं और न 'शून्य' शब्द ही निषेधवाची है। दोनों का तात्पर्य एक ही स्थिति या वस्तुस्थिति के पारमार्थिक रूप से है—जो न तो सत् है, न असत् ही है, परन्तु जो सभी के लिये परम लक्ष्य है।

गौतम बुद्ध ने संज्ञा या चेतना को ही चित्त, मन या विज्ञान माना है और इसी चित्त को हम अनेक अबौद्ध दर्शनों की शब्दावली के अनुसार 'आत्मा' की भी संज्ञा दे सकते हैं। यह चित्त स्वभावतः शुद्ध या मलरहित है, परन्तु इसी के अन्तर्गत मूलबीज भी वर्तमान है, जिससे 'भव' एवं 'निर्वाण' दोनों का विस्फुरण हुआ करता है और इसीलिये जिसके बुद्ध हो जाने से बन्धन और मुक्त होने से परम मोक्ष का लाभ भी हुआ करता है।

साधन के भेद

साधन दो प्रकार के होते हैं—लौकिक एवं अलौकिक। लौकिक साधन का अर्थ होता है—अभ्यास, उद्योग, किसी चरम उद्देश्य की सिद्धि के लिये निरन्तर प्रयत्न। अलौकिक साधन कहते हैं उन आध्यात्मिक या मानसिक साधनाओं को जो योग अथवा तन्त्र की प्रक्रिया से अलौकिक सिद्धियों अथवा मुक्ति की प्राप्ति के लिये की जाती हैं।

लौकिक साधन तो प्रायः सभी करते हैं। जीवन स्वयं एक साधना है। बालक ज्ञानप्राप्ति के लिये अध्ययनरूपी साधना करता है। लेखक ग्रन्थकार बनने के लिये लेखनी की साधना करता है। चोर भी चोरी करते समय लोगों की दृष्टि बचाने की साधना करता है। इनके अतिरिक्त ऐसे लोग भी हैं जो अहिंसा, सत्य एवं निःस्वार्थ लोकसेवा आदि सद्गुणों एवं श्रेष्ठ आचरणों का अभ्यास करते है। अभ्यास की निरन्तरता से दक्षता या पटुता प्राप्त होती है। इस पटुता को ही सिद्धि कह सकते हैं।

योग अथवा तन्त्र की साधना इससे विलक्षण होती है। इसका सम्बन्ध मनोराज्य से होता है और यह मन की अव्यक्त शक्तियों का विकास करने के लिये की जाती है।

बौद्धसाधना

बौद्धों की तान्त्रिक साधना में सर्वप्रथम आवश्यकता होती है एक सुसंस्कृत साधक की, जिसकी परीक्षा किसी अधिकारी गुरु के द्वारा की जा चुकी हो तथा जिसे तान्त्रिक साधना के योग्य प्रमाणित किया जा चुका हो।

जिस प्रकार तान्त्रिक साधना के अनेक भेद हैं, उसी प्रकार साधकों की भी साधन की कठिनता एवं सुगमता के अनुसार अनेक श्रेणियाँ होती हैं। तान्त्रिकों की चार श्रेणियाँ हैं—क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र और अनुत्तरयोगतन्त्र। इन चार प्रकार के तन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाले उपासक भी चार श्रेणियों में विभक्त हैं।

जैनदर्शन के साधन

जैनदर्शन के तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन करने पर विदित होता है कि तत्त्वज्ञान व्यापक होने के साथ ही निसर्गसिद्ध तत्त्व है। निसर्ग जैसे अनादि,

अनन्त होता है वैसे ही जैनतत्त्वज्ञान भी अनादि अनन्त है। श्रीमहावीर आदि तीर्थङ्कर पुरुष उस तत्त्व के संस्थापक रहे, न कि निर्मापक। जैनतत्त्व कहता है—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।

अर्थात् महावीर स्वामी से मेरा पक्षपात नहीं और कपिलादि अन्य ऋषियों से द्वेष भी नहीं।

जैनदर्शन का साध्य

सभी दार्शनिकों ने अन्तिम साध्य तो मोक्ष ही बतलाया है, किन्तु उस मोक्ष के स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतभेद है।

जैनतत्त्व ने जीव की मुख्यता से दो अवस्थाएँ मानी हैं—१. संसारी अवस्था और २. मुक्त अवस्था। यह जीव अनादि काल से कर्म के सम्बन्ध से इस संसार में भ्रमण करता है। जब वह ध्यानबल से आठों कर्मों का नाश कर देता है, तब उसे उसका अन्तिम साध्य प्राप्त होता है। इस अवस्था मे जीव के ज्ञानादि अनन्त गुणों की स्वाभाविक अवस्था प्राप्त होती है, उससे पुनः संसारी अवस्था में प्रत्यावर्तित नहीं होता है। ऐसी आत्यन्तिक अवस्था को 'मोक्ष' कहते हैं और यही जैनतत्त्व का सर्वोत्कृष्ट अन्तिम साध्य है।

मुक्त जीव का लक्षण इस प्रकार कहा है—

अट्ठविहकम्मविमला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गाणि वासिणो सिद्धा ।।

गो. जी. ६८

इस श्लोक में पठित सात विशेषणों का विश्लेषण बड़ी मार्मिकता से किया गया है—

१. अट्ठविहकम्मविमला

सदाशिवमत वाले कहते हैं कि जीव सदा कर्म से रहित, शुद्ध ही होता है। जीव की अशुद्धावस्था ही नहीं है जीव सदैव मुक्त ही है। इस मत का निराकरण करने के लिये पहला विशेषण है—**'अष्टविधकर्मविकलाः'**। जीव आठों कर्मों से रहित होकर ही शुद्ध मुक्त होता है।

२. सीदीभूदा

सांख्यमत वाले मानते हैं कि बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख ये सब प्रकृति के हैं, आत्मा के नहीं। इसी मत का निराकरण करने के लिये कहा है— **'शीतीभूताः'** वह सुखस्वरूप है।

३. णिरंजणा

मस्करी करने वाले कहते हैं कि मुक्त जीव संसार में प्रत्यावर्तित होता है, लौटता है। इसका निराकरण करने के लिये कहा है—**'निरञ्जनाः'**। अर्थात् मुक्त जीव भावकर्मों से रहित होने से उसको वापस लौटने में कुछ निमित्त ही नहीं रहता।

४. णिच्चा

बौद्ध कहते हैं कि सब पदार्थ क्षणिक हैं। उक्त सिद्धान्त का निराकरण करने के लिये विशेषण दिया है—**'नित्याः'**।

५. अट्ठगुणा

नैयायिक तथा वैशेषिक मत वाले मानते हैं कि मुक्ति में बुद्ध्यादि गुणों का भी विनाश हो जाता है। दीपनिर्वाण की तरह सबका अभाव हो जाता है। इस मत का निराकरण करने के लिये विशेषण दिया है— **'अष्टगुणाः'**। आठ कर्मों के अभाव से ज्ञानादि आठ गुणों की आविर्भूति होती है।

६. किदकिच्चा

ईश्वरवादी परमात्मा को जगत् का कर्त्ता मानते हैं, उनके मत का निराकरण करने के लिये विशेषण दिया है—**'कृतकृत्याः'**।

७. लोयग्गाणि

मण्डली-मत वाले जीव को सदा के लिये ऊर्ध्वगमन वाला मानते हैं। इस मत के निराकरण के लिये विशेषण दिया है—**'लोकाग्रस्थिताः'**। लोकाकाश के अग्रभाग पर सिद्धशिला विद्यमान है। वहाँ पर मुक्त जीव सदैव विराजमान रहते हैं।

श्रीकृष्ण, राम, विष्णु आदि इतिहासप्रसिद्ध सत्पुरुषों को जैनमत में पुण्यपुरुष तो अवश्य माना जाता है, किन्तु उनकी सांसारिक अवस्था को ही

आदर्श न समझकर उनकी वीतराग अवस्था को साध्य माना है। आदर्शयुक्त यथार्थ पूज्य वही हो सकता है कि जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी है। विना रागादि के अभाव से ज्ञान में पूर्णता तथा सत्यता नहीं आती और जो स्वयं पूर्णता को नहीं पहुँच पाया, वह यथार्थ मार्ग का उपदेशक भी कैसे हो सकता है? इसलिये जैनमत ने अपना आराध्यदेव वीतराग, सर्वज्ञ तथा हितोपदेशी परमात्मा को ही कहा है।

जैनमत में साधक की श्रेणियाँ

जैनदर्शन में सर्वप्रथम पूर्णत्याग का ही उपदेश किया है और उसके पश्चात् पूर्णत्याग की शक्ति न हो तो आंशिक त्यागरूप गृहस्थ धर्म का उपदेश किया है। इसमें तीन प्रकार के साधक या उपासक माने गये हैं— पाक्षिक, नैष्ठिक तथा पूर्णसाधक।

१. पाक्षिकसाधक

त्याग या व्रत के ग्रहण करने का जिसका सङ्कल्प है और 'वह धन्य दिन कब आयेगा, जब मैं व्रती बनूँगा' ऐसी जिसको लगन लगी है, वह भव्य जीव 'पाक्षिक साधक' कहलाता है।

२. नैष्ठिकसाधक

जो व्रतों का दृढतापूर्वक पालन करता है, उसे 'नैष्ठिक साधक' कहते हैं।

३. पूर्णसाधक

जो आत्मध्यान में निमग्न रहता है, उसे 'पूर्णसाधक' कहते हैं। गृहस्थ को अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करना चाहिए कि जिससे धर्म-अर्थ-काम इस त्रिवर्ग में परस्पर विरोध न आवे। जिससे धर्म में दूषण लगे, ऐसा अन्याययुक्त अर्थोपार्जन और पशुतुल्य कामसेवन नहीं करना चाहिए। सदैव पूर्ण त्याग की ओर अपना दृष्टिकोण रखने वाला ही यथार्थ गृहस्थ कहलाता है।

तप-श्रुत-व्रत में अन्तर

तवमुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे ।

इस वचन के अनुसार तप-श्रुत-व्रत का पालन करने वाला आत्मा

ही ध्यानरूपी रथ पर आरूढ हो सकता है। ध्यान से ही जीव का अन्तिम साध्य मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिये मोक्ष का साधन ध्यान और ध्यान के साधन तप-श्रुत-व्रत हैं। इनका स्वरूप अधोलिखित है।

तप—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन तथा कायक्लेश ये छः बाह्य तप हैं। और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छः अन्तरङ्ग तप हैं। केवल शरीर को कृश करना ही तप का मुख्य हेतु नहीं है। राग, द्वेष और मोह को कम करना ही उसका मुख्य उद्देश्य है।

श्रुत—शास्त्रों के स्वाध्याय को श्रुत कहते हैं। ज्ञानी का ही तप सफल होता है। अज्ञानपूर्वक सम्पादित तप वञ्चनामात्र है।

व्रत—व्रत नाम है संयम का। इन्द्रियों के विषय में यथेच्छ प्रवृत्ति को अव्रत कहते हैं और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना ही व्रत या संयम है।

मन्त्र-जप के प्रकार

ध्यान करते समय ध्येय का जो नामोच्चार किया जाता है, उसको मन्त्रजप कहते हैं। आत्मा का ध्येय तो एक परमात्मा ही है। उस लक्ष्यबिन्दु को सामने रखकर नामजप करने में कोई आपत्ति नहीं है। परमात्मा में अनन्त गुण होने से उन गुणों के चिन्तनरूप मन्त्रजप के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। जगत् में मङ्गलरूप, लोकोत्तम और शरण्यभूत पञ्चपरमेष्ठी ही होने से पञ्चणमोकार मन्त्र ही मन्त्रजप का मुख्य प्रकार है। पैंतीस अक्षर का पञ्चणमोकार महामन्त्र इस प्रकार है—

णमो अरिहंताणि णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ।

इस मन्त्रजप से जीव के सब दु:ख दूर होते हैं और आत्मा परमात्मा हो जाता है। इसी मन्त्र को संक्षिप्त करने से छः अक्षरों का अरिहन्तसिद्ध; पांच अक्षरों का अ-सि-आ-उ-स; चार अक्षरों का अरिहन्त, दो अक्षरों का सिद्ध और एकाक्षरी मन्त्र ॐ इत्यादि अनेक प्रकार बन सकते हैं।

ध्यान का स्वरूप

ध्यान का यथार्थ ध्येय तो परमात्मा ही है, किन्तु जब तक आत्मदर्शन नहीं होता, तब तक मन्त्र को एकाग्र करने के लिये पञ्च परमेष्ठियों को आदर्शस्वरूप समझना चाहिए। पञ्च परमेष्ठी ये हैं—

१. अर्हत परमेष्ठी—जिसने चार घातीय कर्मों का नाश कर दिया है और इससे जिसको अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ये अनन्तचतुष्टय प्राप्त हुए हैं, परम औदारिक शरीर में रहने वाला वह शुद्ध परमात्मा 'अर्हत' कहलाता है।

२. सिद्ध परमेष्ठी—जिसने अष्ट कर्मों का और शरीरादि नव कर्मों का पूर्णतया नाश कर दिया है, जो लोकाकाश के अग्रभाग में सिद्ध शिला पर विराजमान है, जिसने अपना अन्तिम साध्य प्राप्त कर लिया है, ऐसा परमात्मा 'सिद्ध परमेष्ठी' कहलाता है।

३. आचार्य—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारों में जो अपने को और इतर मुनियों को लीन करते हैं, जो मुनिकुलों के गुरु हैं और प्रायश्चित्तादि दण्ड देने का जिनको अधिकार है, उनको 'आचार्य' कहते हैं।

४. उपाध्याय—जो रत्नत्रय में लीन होकर सदैव धर्मोपदेश देने में तत्पर रहते हैं, ऐसे विशेष प्रतिभासम्पन्न मुनि को 'उपाध्याय' कहते हैं।

५. साधु परमेष्ठी—जो अपना आत्महित साधता है, उसको साधु कहते हैं। आरम्भ परिग्रह से रहित होकर, सदैव आत्मध्यान और शास्त्र स्वाध्याय में लीन होकर मोक्षमार्ग का जो ध्यान करता है वह 'साधु परमेष्ठी' है।

परम ध्यान

उपर्युक्त प्रकार के पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान करते हुए जो आत्मध्यान में लीन हो जाता है, जहाँ 'मैं ध्याता हूँ' और 'मेरा यह ध्येय है' ऐसा भेद न रह कर निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है, जब मन-वचन-काय की समस्त चेष्टाएँ शान्त होकर आत्मा आत्मरूप में लीन हो जाता है, तब उसको शुद्ध आत्मध्यान या परम ध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यान

शुक्लध्यान के चार भेद हैं—

१. **पृथक्त्ववितर्कविचार**—विशेष तर्कणा को वितर्क और अर्थ (ध्येय पदार्थ), व्यञ्जन (ध्यान के मन्त्रजप के शब्द) तथा योग (मन-वचन-काययोग) इनकी संक्रान्ति को विचार कहते हैं। जिसमें गुण, पर्याय, द्रव्य ऐसे भिन्न-भिन्न अर्थों का ध्यान होता है, उसको पृथक्त्व-वितर्क कहते हैं। यहाँ तीनों योग रहते हैं। यह ध्यान आठ, नौ, दश, ग्यारह इन चार गुणस्थानों में होता है।

२. **एकत्ववितर्क**—द्रव्य, गुण और पर्याय इनमें से किसी एक का जहाँ पर ध्यान होता है और जहाँ तीनों योगों में से किसी एक योग द्वारा आत्मप्रदेश परिस्पन्दन होता है, उसको एकत्ववितर्क कहते हैं। यहाँ विचार (अर्थ-व्यञ्जनयोग की संक्रान्ति) नहीं रहता है। यह ध्यान बारहवें गुणस्थान में होता है।

३. **सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपत्ति**—जिसमें पाद का विहार (पैरों से गमन) न होकर पद्मासन या खड्गासन से विहार होता है, उस शरीरक्रिया को सूक्ष्मक्रिया कहते हैं। उसका प्रतिपात (विनाश) नहीं होता। ऐसा केवल सूक्ष्मकाययोग ही जहाँ रहता है, जहाँ वितर्क-विचारादि सब विकल्पों का अभाव होकर शुद्ध परम ध्यान की प्राप्ति होती है, वह सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपत्ति नामक तृतीय शुक्लध्यान है। यह तेरहवें गुणस्थान में होता है।

४. **व्युपरतक्रियानिवर्ति**—योग का पूर्ण अभाव होने से जो आत्मस्थिरता तथा विशुद्धि होती है, जिसमें विहाररूप सूक्ष्म क्रिया भी समाप्त हो जाती है, उसको व्युपरतक्रियानिवर्तिनामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान कहते हैं। यह ध्यान अयोगी परमात्मा चौदहवें गुणस्थान वाले का होता है।

कल्याणिकविमर्श

देवादि द्वारा जो उत्सव मनाया जाता है, उसको 'कल्याणिक' कहते हैं। तीर्थङ्कर भगवान् के गर्भ में आने से लेकर मोक्षपद में जाने तक अर्थात् उनके गर्भ, जन्म, तप, केवल, मोक्ष इन पाँच प्रसङ्गों को लेकर उत्सव मनाया जाता है। इस प्रकार कल्याणिक के पाँच भेद माने गये हैं—

१. गर्भकल्याणिक—मान्यता है कि भगवान् के गर्भ में आने से छ: माह पूर्व इन्द्र कुबेर को नीचे भेजते हैं। वह छ: माह तक प्रतिदिन रत्नवृष्टि करता है तथा तीर्थङ्कर के माता-पिता की यथायोग्य सेवा करता है। माता को सोलह स्वप्न दिखाई पड़ते हैं जिसमें वह क्रमश: हाथी, बैल, सिंह, स्नान करने वाली लक्ष्मी, पुष्पमाला, पूर्णिमा का चन्द्र, सूर्य सुवर्णकलशद्वय, मत्स्यद्वय, सरोवर के कमल, समुद्र, सिंहासन, देव, विमान, नागेन्द्रभवन, रत्नराशि और अग्निशिखा को देखती है। इसका फल तीर्थङ्कर के पिता यह बतलाते हैं कि तुम्हारे गर्भ में त्रैलोक्यभूषण ऐसा भव्य पुरुष आने वाला है, जिसका यश सुनकर सबको आनन्द होगा।

२. जन्मकल्याणिक—तीर्थङ्कर का जन्म होते ही त्रिभुवन में समस्त जीवों को सुख की अनुभूति होती है। इन्द्रादि देव तीर्थङ्कर भगवान् को मेरु पर्वत पर ले जाकर वहाँ उनका जन्माभिषेक महोत्सव करते हैं और कुबेरादि देव बालकुमार होकर तीर्थङ्कर की सेवा में तत्पर रहते हैं। तीर्थङ्कर को जन्म से ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनों ज्ञान रहते हैं।

३. तपकल्याणिक—तरुण अवस्था में श्रावक व्रत का ग्रहण कर यथायोग्य राज्यादि का भोग सेवनकर संसार से उदासीन होकर जिनदीक्षा ग्रहण करते हैं। आरम्भ और परिग्रह का त्यागकर मुनि के अट्ठासी मूलगुण धारण करते हैं। पञ्चमुष्टिकेशलोच करते हैं और उग्र ध्यानरूप तप करते हैं।

४. केवलकल्याणिक—तप करते-करते जब चार घातीय कर्मों का नाश हो जाता है, तब भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इन्द्र समवशरण की रचना करता है, जिसमें बारह प्रकार की सभा बैठती है। उन सबको भगवान् दिव्य ध्वनि द्वारा उपदेश करते हैं। भगवान् का विहार भव्य जीवों की पुण्य वर्गणावश होता है।

५. मोक्षकल्याणिक—जब आठों कर्मों का नाश होकर उनका शरीर कपूर की तरह विलय को प्राप्त हो जाता है, नख और केशमात्र शेष रहते हैं, तब देव उनसे मायामय शरीर निर्माण कर उस भूमि को पवित्र समझते हैं।

महापुरुषों के सम्बन्ध से भूमि और काल पवित्र माने जाते हैं। जिस क्षेत्र पर उनके गर्भ, जन्म, मोक्ष आदि होते हैं, वह भूमि पवित्र मानी जाती

है और जिस-जिस तिथि को ये सब होते हैं, वे तिथियाँ भी पवित्र मानी जाती हैं। इन महापुरुषों का स्मरण संसार को होता रहे, इसी हेतु से ये उत्सव मनाये जाते हैं।

इस प्रकार बौद्धदर्शन के परिप्रेक्ष्य में जैनदर्शन की साधनापद्धति को विमर्शित किया गया। वस्तुतस्तु इनका विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिये बौद्ध-जैन-ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन करना अपेक्षित है।

●

विज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थ की सत्ता

(पातञ्जलयोग के परिप्रेक्ष्य में एक दार्शनिक विश्लेषण)

योगशास्त्र का विषय इतना आवश्यक एवं उपादेय है कि अनादि काल से ऋषि-मुनिजन इस ओर ध्यान देते और योग का अनुष्ठान करते चले आ रहे हैं। श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहास और सामान्य संस्कृतसाहित्य में ही नहीं, अपितु न्याय-वैशेषिक, सांख्य और वेदान्तदर्शन तक में योग का महत्त्व स्वीकार किया गया है। अधिकांश उपनिषदों में भी योग के सम्बन्ध में उत्तमोत्तम विचार प्रकट किये गये हैं। यही कारण है कि भगवद्गीता इस विषय में सबसे आगे बढ़ गयी है। उसका कोई अध्याय ऐसा नहीं है, जिसमें योग के किसी न किसी सिद्धान्त का वर्णन न किया गया हो। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण का गीताग्रन्थ योगशास्त्र का ग्रन्थ कहा जाता है और श्रीकृष्ण महायोगेश्वर।

योगदर्शन महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्रों का दूसरा नाम है। इस दर्शन के सिद्धान्त इतने शुद्ध और निर्मल हैं कि प्रत्येक आस्तिक दर्शन में किसी न किसी प्रकार इन पर विचार किया गया है। कारण यह है कि योगशास्त्र में महर्षि पतञ्जलि ने आत्मसाक्षात्कार और उसके उपायों का ऐसा सुन्दर प्रतिपादन किया है कि दर्शनशास्त्र के अधिकांश रहस्य करामलकवत् सर्वथा उद्घाटित हो गये हैं। यह योगशास्त्र ही है जिसके यम-नियमादि अष्टाङ्गयोग नास्तिकों को भी ऐसे ही मूल्यवान् प्रतीत होते हैं, जैसे आस्तिकों को। योगशास्त्र के सर्वप्रिय होने में यह एक विचित्र प्रकार की विशेषता है।

वेदान्तसूत्र के रचयिता महर्षि बादरायण व्यास तो योगदर्शन के इतने प्रशंसक रहे कि उन्होंने पतञ्जलि के सूत्रों पर योगभाष्य लिखा है और योग के सम्बन्ध में बहुत से मूल्यवान् विचार प्रकट किये हैं। यहाँ व्यासप्रदर्शित व्याख्यान की सहायता से योगशास्त्र के दार्शनिक सिद्धान्तों का संस्पर्श करते हुए विज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थ की निरपेक्ष सत्ता सिद्ध की जा रही है।

यद्यपि चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय, समाधि के प्रकार तथा नाना प्रकार की योगविभूतियों का वैज्ञानिक व्याख्यान योगशास्त्र में विस्तारपूर्वक किया गया है तथापि 'मोक्ष' की उपेक्षा न करते हुए मनोविज्ञान के कई गूढ रहस्यों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

चित्त और जगत् का सम्बन्ध

चिरकाल से दार्शनिक विद्वानों के समक्ष यह जटिल समस्या उपस्थित हो रही है कि जगत् और जगत् के पदार्थ विज्ञानसहभू (चित्त के अन्दर से निकलते) हैं अथवा चित्त से भिन्न इनकी स्वतन्त्र बाह्य सत्ता है। बौद्ध दार्शनिकों ने अत्यधिक ऊहापोह करने के अनन्तर दृष्टिसृष्टिवाद का सिद्धान्त स्थिर किया है और यह घोषणा की है कि जगत् और जगत् के पदार्थ चित्तान्तर्वर्ती हैं, इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अनेक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का भी ऐसा ही मत है। न केवल यही अपितु दृष्टिसृष्टिवादी वेदान्तियों ने भी इसे स्वीकार किया है और योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों में तो बलपूर्वक सिद्ध करके यह प्रतिपादित किया है कि जगत् मन से ही निःसृत है और मन में ही लीन होता है। दृष्टिसृष्टिवादी वेदान्तियों का कथन है कि जगत् के पदार्थ ज्ञान के समय ही प्रतीत होते है न कि ज्ञान से पूर्व और पश्चात् भी। एतावता जगत् ज्ञान-समकालिक होने के कारण ज्ञान से भिन्न नहीं है। विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति का वचन है—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ।।

सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन पृ. ७१

अभिप्राय यह है कि नील और नीलज्ञान सहोपलम्भनियम के कारण परस्पर भिन्न नहीं हैं। यदि नीलवस्तु, नीलज्ञान से अतिरिक्त प्रतीत होती है तो यह भ्रान्तिमात्र है। जैसे एक ही चन्द्र भ्रान्ति से चन्द्रद्वय प्रतीत होता है। अर्थात् जैसे एक चन्द्रमा दूसरे चन्द्रमा से पृथक् नहीं, किन्तु वही है। इसी प्रकार नील वस्तु उसी समय प्रतीत होती है, जब नीलविषयक ज्ञान होता है। ज्ञानकाल के अतिरिक्त उसका सद्भाव प्रतीत नहीं होता है। एतावता जगत् के पदार्थ ज्ञानकाल में ही प्रकाशित होने से ज्ञान से भिन्न नहीं हैं। किसी भी वस्तु

की उपलब्धि ज्ञान के समय ही होती है, विना ज्ञान के नहीं—यही ज्ञान और वस्तु का सहोपलम्भनियम है।

सहोपलम्भनियम की उक्त युक्ति का खण्डन

परन्तु बौद्धों के सहोपलम्भनियम की यह युक्ति असङ्गत है, क्योंकि नियत सहोपलम्भ वाले सभी पदार्थ परस्पर अभिन्न अर्थात् एकरूप नहीं होते हैं। जैसे प्रभा और नील-पीतादि पदार्थ। प्रकाश के होने पर ही नील-पीतादि पदार्थों की प्रतीति होती है, न कि अन्धकार में भी। परन्तु इस सहोपलब्धिमात्र से यदि कहा जाय कि प्रभा और नील, पीतादि पदार्थ एक ही हैं, भिन्न-भिन्न नहीं तो यह सर्वथा अनुभवविरुद्ध होगा। क्योंकि नील, पीतादि पदार्थों के उठाने, रखने एवं विखण्डित होने से प्रभा प्रभावित नहीं होती है। यदि नील घट और दीपक का प्रकाश परस्पर अभिन्न होते तो घट के जलापूरित होते ही प्रभा निस्तेज हो जाती। किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है।

सहोपलम्भनियम की सिद्धि में द्वितीय युक्ति

सहोपलम्भनियम के समर्थन में धर्मकीर्ति दूसरी युक्ति देते हैं। उनका वचन है—

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ।।

सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन पृ. ७०

अभिप्राय यह है कि बुद्धि अथवा ज्ञान से कोई अनुभाव्य पदार्थ भिन्न नहीं है, ग्राहक से भिन्न कोई ग्राह्य नहीं है—केवल बुद्धि (ज्ञान) स्वयं प्रकाश कर रही है। जिस ज्ञान से जो पदार्थ जाना जाता है अर्थात् ग्रहण किया जाता है, वह ग्राहक ज्ञान से पृथक् नहीं होता है। जैसे आत्मा ज्ञान से जाना जाता है। अतः आत्मा ज्ञान से भिन्न नहीं है, अपितु ज्ञानस्वरूप ही है। इसी प्रकार ज्ञान सब पदार्थों का ग्राहक है और सब पदार्थ ज्ञान से ही ग्रहण किये जाने से ग्राह्य हैं। अतः यह ग्राह्य-जगत् ग्राहक-ज्ञान से पृथक् नहीं है। स्वाप्निक पदार्थों का विज्ञानवेद्य मनोगाह्य होना सभी को अनुभव होता है किन्तु जागरित अवस्था में उनका अस्तित्व नहीं रहता है। इसलिये उनको मिथ्या कहते हैं। बौद्ध दार्शनिक इसी विज्ञानवेद्यत्वहेतु से जाग्रत् के बाह्य जगत् को स्वप्न के आन्तर जगत् की भाँति मिथ्या मानते हैं।

ज्ञातव्य है कि बौद्धों का यह सिद्धान्त भी वेदान्त के एकदेशी कई व्याख्याकारों ने स्वीकार कर लिया है। तदर्थ अधोलिखित सूत्र का शाङ्करभाष्य द्रष्टव्य है—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।

ब्रह्मसूत्र २/२/२९

यदुक्तम्–बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषादिति । तत्प्रतिवक्तव्यम् । अत्रोच्यते–न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति । कस्मात् ? वैधर्म्यात् । वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः, किं पुनर्वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति । न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति । एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः । नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते। अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम् । उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम् । .... दर्शितं तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः ।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २/२/२९

अर्थात् बाह्य पदार्थों का अभाव मानने वालों ने जो यह कहा है कि—जागरित के स्तम्भादि पदार्थों का ज्ञान भी स्वप्न के पदार्थों के ज्ञान की भाँति विना बाह्य पदार्थों के ही है, ज्ञान होने के कारण। इसका खण्डन किया जाय। इसका उत्तर दिया जा रहा है—

जागरित के ज्ञान; स्वप्नादि के ज्ञान के समान नहीं हो सकते हैं। क्यों? वैधर्म्य होने से। अभिप्राय यह है कि स्वप्न और जागरित पदार्थों का परस्पर अत्यन्त भेद है। दोनों में बाध और अबाध का वैधर्म्य है। स्वप्न में प्रतीत होने वाली वस्तु का जागरित में बाध हो जाता है। जागरित होने पर व्यक्ति का अनुभव इस प्रकार होता है कि स्वप्न में मैंने जो महाजन का समागम देखा है वह मिथ्या ही रहा क्योंकि यदि यथार्थ में ही इष्ट, मित्रादि का समागम होता तो जागने पर भी वे विद्यमान रहते। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि निद्रादोष के कारण अनियन्त्रित मन भ्रान्तियुक्त हुआ। इसी प्रकार जैसे स्वप्न के पदार्थों का बाध दिखलाई पड़ता है, वैसे मायादि के पदार्थों का भी

बाध होता है। परन्तु जाग्रत् में उपलब्ध होने वाले स्तम्भादि पदार्थ तो किसी भी अवस्था में बाध का विषय नहीं बनते हैं। किञ्च, स्वप्न और जाग्रत् काल के विषयभूत पदार्थों में एक अन्य वैधर्म्य यह है कि स्वप्न का देखना तो स्मृतिमात्र है और जाग्रत् में पदार्थों का दर्शन उपलब्धि है। स्वतः अनुभववेद्य है कि स्मृति और उपलब्धि में पर्याप्त अन्तर है, वह यह है कि स्मृति में पदार्थ नहीं होता और उपलब्धि में पदार्थ उपस्थित रहता है। ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि जागरित के बाह्य पदार्थ स्वप्न के समान मिथ्या हैं। एतावता विचारशील व्यक्ति को अपने अनुभव का विरोध नहीं करना चाहिए।

आचार्य शङ्कर ने इसी भाष्य के अन्त में कहा है कि स्वप्न के सादृश्य से जागरित के पदार्थों को मिथ्या कहना ऐसा ही हास्यास्पद है जैसा कि अग्नि का जल के साधर्म्य से शीत होना।

साधर्म्यमात्र से दो पदार्थों को एक समझना और उनके परस्पर वैधर्म्य पर दृष्टि न डालना अतार्किक है। इसीलिये वैशेषिक दर्शन में तत्त्वज्ञान के लिये साधर्म्य-वैधर्म्य दोनों का ज्ञान होना आवश्यक माना गया है। आचार्य शङ्कर के अनुसार जागरित एवं स्वाप्निक पदार्थों तथा ज्ञानों में पदार्थत्व और ज्ञानत्व साधर्म्य होने पर भी उनके परस्पर विरुद्ध धर्मों की उपेक्षा नहीं की गई। इसीलिये भगवत्पाद ने युक्तियुक्त कहा कि स्वप्न के पदार्थ बाधित हैं, जागरित पदार्थों का किसी भी अवस्था में बाध नहीं होता है। स्वप्न के पदार्थ स्मृतिरूप हैं, जागरित पदार्थ उपलब्धिरूप हैं। जागरित पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता है, स्वप्न के पदार्थ ज्ञान के अधीन कल्पित हैं।

बौद्धों के मनःकल्पित संसार का खण्डन

जिस प्रकार आचार्य शङ्कर ने धर्मकीर्ति के 'विज्ञानसहभू' सिद्धान्त का खण्डन किया है उसी प्रकार बौद्धों के मनःकल्पित संसार की मान्यता का खण्डन महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र द्वारा किया है। पतञ्जलि का सूत्र है।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ।

योगसूत्र ४/१५

अभिप्राय यह है कि यदि जगत् मनःकल्पित है तो एक ही वस्तु में

अनेक प्रकार का ज्ञान कैसे हो सकता है? एक ही वस्तु में कामी पुरुष को प्रेम होता है, शत्रु को द्वेष होता है, विमूढ को विषाद होता है और ज्ञानी को वैराग्य होता है। एक ही कर्म को धर्मात्मा सुखकारक समझता है, पापी दु:खदायक मानता है, विमूढ उपेक्षायोग्य कहता है इत्यादि। वस्तुतस्तु ज्ञान और वस्तु का मार्ग पृथक-पृथक् है। दोनों में महान् अन्तर है। अत: ज्ञान और बाह्य पदार्थ एक नहीं हैं। यदि जगत् के पदार्थ ज्ञान अथवा मन से कल्पित होते तो एक वस्तु में अनेक प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता है।

किञ्च; इस पर पुन: प्रश्न होगा कि बाह्य पदार्थ एक मन के कल्पित हैं अथवा अनेक मनों के कल्पित हैं। एक मन अर्थात् ज्ञान से तो अनेक पदार्थों से आकीर्ण संसार उत्पन्न हो ही नहीं सकता, क्योंकि परिच्छिन्न मन महान् जगत् का कैसे रचयिता हो सकता है? और न कोई मन ही ऐसा है, जिसके अन्दर से लक्ष मनपरिमाण के पर्वतादि उत्पन्न हो सकें। यदि हम रेलगाड़ी को भागते हुए देखें तो बौद्धदृष्टि से इसका यह तात्पर्य होगा कि रेलगाड़ी हमारे मन से निकली, रेल के सैकड़ों यात्री, उनका बिस्तर आदि सामान क्षणभर में हमारे अन्दर से पटरी पर दिखलाई पडे और शृंखलाबद्ध होकर सामने आ गए। कुछ क्षण के पश्चात् रेलगाड़ी के अदृश्य होते ही वे सभी वस्तुएँ हमारे मन में समाहित (प्रविष्ट) हो गईं। यह बात किसी भी आभियान्त्रिक एवं चिन्तक के अनुभव के विरुद्ध है।

किञ्च; तृतीय दोष यह है कि एक चित्त द्वारा कल्पित की गई वस्तु को दूसरा चित्त कभी नहीं देख सकता। जैसे देवदत्त के मन ने जो स्वप्नदृश्य कल्पित किया उस स्वाप्निक दृश्य को यज्ञदत्त नहीं देख सकता है। किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है, क्योंकि इस जगत् को संसार के सभी व्यक्ति देख सकते हैं। इस युक्ति के आधार पर भी वस्तु और ज्ञान पृथक्-पृथक हैं। मन:कल्पित जगत् की कल्पना अनुभवविरुद्ध है।

किञ्च; पूर्वपक्षी मन:कल्पित जगत् के वाद को स्थापित करने के लिये ऐसा संशोधन करे कि अनेक ज्ञानों (चित्तों) से बाह्य जगत् प्रादुर्भूत होता है तो यह कथन भी असङ्गत है। क्योंकि अनेक चित्तों से एक वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस स्थिति में एक वृक्ष को जब पचास लोगों द्वारा

देखा जायेगा तो मानना पड़ेगा कि वृक्ष का एक भाग किसी एक चित्त से कल्पित, तो दूसरा भाग किसी दूसरे चित्त से कल्पित कहना पड़ेगा किन्तु ऐसा मानना प्रमाणविरुद्ध है।

ज्ञानसमकालिक बाह्य पदार्थ का खण्डन

दृष्टिसृष्टिवादी का मत है कि ज्ञानसमकालिक ही बाह्य पदार्थ है। अर्थात् ज्ञान के पूर्वोत्तरक्षणों में पदार्थ का सद्भाव नहीं रहता है। इसका खण्डन करते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ।

योगसूत्र ४/१६

अभिप्राय यह है कि वस्तु किसी एक चित्त के अधीन नहीं है, क्योंकि जिस समय वस्तु उस चित्त (ज्ञान) के अधीन न होगी, तब क्या वह नष्ट हो जायेगी?

अर्थात् जिस काल में चित्त का वस्तु के साथ सम्बन्ध नहीं है अथवा सम्बन्ध निवृत्त हो चुका है या उस वस्तु से भिन्न किसी अन्य वस्तु को वह विषय कर रहा है या एकाग्रता को प्राप्त है—उस काल में जगत् का या जगत् के पदार्थों का क्या नाश हो जायेगा? एतावता गङ्गाविषयक ज्ञान के अभाव से गङ्गा का अभाव, पर्वतविषयक ज्ञान के अभाव से पर्वत का अभाव तथा रात्रिकाल में सूर्यविषयक ज्ञान के अभाव से सूर्य का अभाव मानना सर्वथा प्रमाणशून्य है। जब घट को देखा तो घट उत्पन्न हो गया और जब घट से दृष्टि हटाई तो घट नष्ट हो गया, नगर पर दृष्टि पड़ी तो नगर उत्पन्न हो गया और दृष्टि हटी तो नगर नष्ट हो गया। इस सिद्धान्त की युक्तियुक्तता में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन में कहा है—

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ।

न्यायसूत्र ४/२/३०

न्यायसूत्रकार गौतम का विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिकों से प्रश्न है कि यदि आप विज्ञान से अतिरिक्त पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करते तो यह बतलाईये कि इस सिद्धान्त की सिद्धि किस प्रमाण से होती है?

यदि कहा जाय कि विज्ञान से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इसलिये

हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है, तो आपका सिद्धान्त प्रमाणशून्य होने से अनुपादेय है। अथवा यह कहा जाय कि प्रमाण है तो विज्ञान से अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध होने से आपकी प्रतिज्ञाहानि हो गई। दूसरी युक्ति यह है कि प्रमाण को मानने से प्रमेय की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य हो जायेगा। इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानने योग्य घट, पट आदि बाह्य पदार्थों की विज्ञान से अतिरिक्त सत्ता है।

विज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थ की सत्ता

विज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थ की सत्ता स्वीकार करते हुए योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव ने विषय को स्पष्टता प्रदान करते हुए लिखा है—

ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत, तस्मात् स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र ४/१६

अभिप्राय यह है कि जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो उसके सम्पूर्ण भागों को एक काल में कदापि नहीं देख सकते। घट के उपरिभाग, निम्नभाग, मध्यभाग, पृष्ठभाग आदि को युगपत् (एकदम) नहीं देखा जा सकता तो जिस समय घट का जो भाग दिखलाई पड़ता है, तो क्या उस भाग से अतिरिक्त घट के अन्य भाग नहीं हैं? यदि पृष्ठभाग को देखें तो दृष्टिसृष्टिवादी के मत में उस घट का उदर, निम्न और अन्य भाग नहीं मानने होंगे। परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये विज्ञान से अतिरिक्त काल में घट, पटादि पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता है और ऐसा सर्वसाधारण अनुभव करते हैं। और जो मत सर्वजनग्राह्य हो उसका अपलाप (निरादर) नहीं किया जा सकता है।

द्वितीय युक्ति यह है कि यदि विज्ञान से बाह्य पदार्थों को भिन्न न माना जाय तो घट को देखने पर पटज्ञान और पट को देखने पर नदीज्ञान क्यों नहीं होता? घटज्ञान, पटज्ञान, नदीज्ञान, मनुष्यज्ञान, पशुज्ञान आदि अनेक ज्ञानों का कारण बतलाना होगा। विना कारण के ज्ञान नहीं होता है, इसलिये विज्ञान से अतिरिक्त घट, पटादि पदार्थ हैं। जिनके साथ सम्बन्ध होने से घटादिविषयक ज्ञान उत्पन्न होते हैं। घट, पटादि की पृथक् सत्ता है। जब घट के साथ मन का योग हुआ तो घटज्ञान की उत्पत्ति हुई, न कि घट की। जब पट के साथ योग हुआ तो पटज्ञान की उत्पत्ति हुई, न कि पट की।

तृतीय युक्ति यह है कि यदि ज्ञानमात्र से भूतभौतिक पदार्थ की सृष्टि मानी जाय तो ज्ञान के कल्पित मोदकों से रस-वीर्य-विपाकादि भी होने चाहिये तब वास्तविक मोदकों की क्या आवश्यकता रहेगी? ऐसे मनोराज्य के कल्पित व्यक्ति को वास्तविक भोजनादि बाह्य पदार्थों के विना ही तृप्ति आदि होनी चाहिए, परन्तु ऐसी सन्तुष्टि होती नहीं है। इसलिये न तो बाह्य पदार्थों का अभाव ही है और न मन से बाह्य जगत् की उत्पत्ति हुई है।

यह सिद्धान्तित हुआ कि बाह्य जगत् और उसके घट, पटादि पदार्थ स्वप्रतिष्ठ स्वतन्त्र हैं। वे विज्ञानाधीन नहीं हैं।

समाधियोग का व्यावहारिक पक्ष एवं भगवान् बुद्ध

भगवान् बुद्धदेव संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुषों में से एक रहे। उनके द्वारा स्थापित बौद्धधर्म में मनुष्य का ध्यान शीलनिर्माण करने की ओर विशेष रूप से आकर्षित किया गया है। परन्तु शीलनिर्माण करना, निर्वाण प्राप्त करना यह कोई साधारण कार्य नहीं है। इसके लिये साधना की आवश्यकता है। इसलिये बौद्धधर्म में योग की महत्ता प्रतिपादित है। भगवान् बुद्धदेव तो स्वयं महान् योगी थे ही, परन्तु उन्होंने अपने अनुयायियों को भी योगाभ्यास के लिये कई साधन बतलाये हैं, इससे उनकी योगसाधना के प्रति कितनी अभिरुचि रही, इसका परिचय मिलता है।

अनुत्तरनिकाय के सत्तकनिपात के ६३वें सुत्त में भगवान् बुद्धदेव ने भिक्षुओं को सम्बोधन करके कहा—

'भिक्षुओ! राज्यसीमा पर जिस प्रकार सुदृढ स्तम्भ रहता है, उसी प्रकार आर्यश्रावक श्रद्धा से समन्वित रहता है। उस नगर के चारों ओर जिस प्रकार खाई रहती है उसी प्रकार आर्यश्रावक श्रीमान् रहता है। उस नगर के चारों ओर किले पर से भ्रमण करने के लिये मार्ग रहता है, वैसे आर्यश्रावक लोकापवादभय से अपने को बचाता है। वहाँ जैसे अनेक आयुधों का संग्रह रहता है, वैसे आर्यश्रावक बहुश्रुत होता है। नगर में जैसे सैन्यबल सन्नद्ध रहता है, वैसे आर्यश्रावक पूर्ण उत्साही रहता है। वहाँ जैसे द्वारपाल रहता है, वैसे आर्यश्रावक स्मृतिमान् रहता है। जिस प्रकार उस नगर का प्राकार रहता है, वैसे आर्यश्रावक प्रज्ञावान् रहता है। वहाँ जिस प्रकार अन्नादि की विपुलता रहती है, वैसे आर्यश्रावक प्रथम ध्यान से युक्त होता है। वहाँ जैसे खाद्यान्न का भण्डार होता है, उसी प्रकार आर्यश्रावक द्वितीय ध्यान से युक्त होता है। वहाँ जैसे तिल, मूंग आदि अन्न का संग्रह किया जाता है, वैसे आर्यश्रावक तृतीय ध्यान से युक्त होता है। वहाँ जैसे घृत, मक्खन आदि पौष्टिक पदार्थ एवं औषधि आदि का संग्रह किया जाता है, वैसे आर्यश्रावक चतुर्थध्यान से युक्त होता है।'

ध्यान की निरन्तर प्रौढता वस्तुत: सम्यक् समाधि के चार सोपान हैं। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता इन पाँच चित्तवृत्तियों का प्रथम ध्यान में प्राधान्य रहता है। द्वितीय ध्यान में वितर्क, विचार नहीं रहता है। प्रीति, सुख और एकाग्रता इन तीन ही मनोवृत्तियों का प्राधान्य रहता है। तृतीय ध्यान में प्रीति नहीं रहती, केवल सुख और एकाग्रता का वैशिष्ट्य रहता है। चतुर्थ ध्यान में सुख न रहकर उपेक्षा और एकाग्रता का प्राधान्य रहता है।

यहाँ वितर्क, विचारादि का स्पष्टीकरण आवश्यक है। समाधि विषय में चित्त के प्रथम प्रवेश को 'वितर्क' कहते हैं। इस विषय में अनुमज्जन करने को 'विचार' कहते हैं। उससे जो आनन्द उत्पन्न होता है, वह है 'प्रीति'। उसके कारण मन में जो समाधान होता है, वह है 'सुख'। उस विषय में चित्त की जो एकवाक्यता है उसका नाम 'एकाग्रता' है और उस विषय में अत्यन्त परिचय से उत्पन्न होने वाली जो निश्चिन्तता या निष्कम्पता है, उसको 'उपेक्षा' कहते हैं।

योगसाधना के इस क्रमिक अनुभव को साईकिल के दृष्टान्त से आत्मसात् किया जा सकता है। जब हम सर्वप्रथम साईकिल पर चढ़ना सीखते हैं, तब समतोल (Balance) साधन ही बहुत कठिन हो जाता है। इसी अभ्यास (समतोल) को 'वितर्क' कहा जाता है। साईकिल के नियन्त्रित हो जाने पर उसकी गति पर हमारा ध्यान केन्द्रित होता है। साईकिल की गति में हमारा मन अनुमज्जन करता है, यही 'विचार' है। वितर्क और विचार के द्वारा साईकिल पर प्रभुत्वसम्पादन करने पर अपने मन को एक प्रकार का विलक्षण आनन्द प्राप्त होता है, वही 'प्रीति' है। शनैः-शनैः शरीर को समाधान का अनुभव होने लगता है, वही 'सुख' है। इस क्रम में प्राप्त तन्मयता को 'एकाग्रता' कहते हैं। साईकिल पर चढ़ने का अभ्यास जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे समतोल रखने की किंवा साईकिल की गति का निरीक्षण करने की आवश्यकता नहीं रहती। अर्थात् साधनाक्रम में वितर्क और विचार धूमिल पड जाते हैं। केवल प्रीति, सुख और एकाग्रता इन वृत्तियों का प्राधान्य रहता है। अन्त में वे भी नहीं रहते हैं, केवल उपेक्षा और एकाग्रता इन दो वृत्तियों का ही प्राधान्य रहता है। प्राणिमात्र पर मित्रता का

ध्यान करना, कोई प्रकाश जैसा सर्वव्यापी विषय लेकर उस पर ध्यान करना, अथवा अपने ही श्वासोच्छवास पर ध्यान करना, इनमें क्रमश: जो अनुभव प्राप्त होते हैं वे भी इसी प्रकार के होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाधियोग का कितना महत्त्व है और उसके विभाग क्या हैं? किन्तु पाठकों को स्मरण रहे कि समाधि कितने ही महत्त्व की हो, फिर भी उसमें अतिरेक नहीं होना चाहिए। राजव्यवस्था को सुव्यवस्थित पद्धति से चलाने के लिये अध्यक्ष या राजा की आवश्यकता रहती है। किन्तु यदि उसका अधिकार अपरिमित बढ़ ज़ाय तो उससे राष्ट्र का कल्याण न होकर प्रजा में अत्यधिक असन्तोष व्याप्त हो जायेगा, जिसका अनिवार्य परिणाम क्रान्ति होगा।

श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा ये पाँच मानसिक शक्तियाँ हैं। परन्तु उनमें सामञ्जस्य किस प्रकार रखा जाय, इसका विवेचन विशुद्धिमार्गादि बौद्ध ग्रन्थों में बहुत सुन्दरता से किया गया है। आचार्य कहते हैं कि श्रद्धा का अतिरेक होने से और प्रज्ञा के मन्द पड़ने पर मनुष्य सारहीन बातों पर विश्वास करने लगता है। प्रज्ञा बलशालिनी हुई और श्रद्धा मन्द हुई तो मनुष्य स्वयं साधक हो जाता है। इसमें क्या? उसमें क्या? इस प्रकार के विचारों से परोपकारादि धार्मिक कृत्यों में उसका विश्वास नहीं रहता, वह तो केवल उदरभोजी बन जाता है। अत: इन दोनों मनोवृत्तियों में सामञ्जस्य रखना आवश्यक है। इसी प्रकार समाधि मन्द हुई और केवल उत्साह ही बना रहा तो मनुष्य भ्रान्तचित्त हो जाता है। एक अमेरिकन प्रोफेसर कहा करते थे कि हमको अत्यन्त द्रुतगामी रेलयान तो चाहिए, परन्तु गन्तव्य स्थल पर पहुँचने का उद्देश्य अज्ञात रहता है। इसका अर्थ यह है कि समाधि के विना केवल उत्साह से मनुष्य को सुख प्राप्त नहीं होता है। इसके विपरीत समाधि बलवती हुई और उत्साह मन्द हुआ तो मनुष्य आलस्ययुक्त हो जाता है। स्वाप्निक सुख से कभी इष्टकार्य सम्पन्न नहीं होता है। अत: समाधि और उत्साह इन दोनों मनोवृत्तियों में समन्वय रखना अत्यन्त आवश्यक है। स्मृति अर्थात् जाग्रति सर्वत्र होनी चाहिए। समाधि, उत्साह आदि की निरन्तरता के अवबोध के लिये स्मृति की आवश्यकता रहती है।

स्मृति, धर्मप्रविचय, वीर्य, प्रीति, प्रस्रब्धि, समाधि और उपेक्षा—

ये सात वृत्तियाँ दो प्रकार की हैं—कुशल और अकुशल। परोपकारमूलक, प्रेममूलक और ज्ञानमूलक प्रवृत्ति कुशल कहलाती है तथा लोभमूलक, द्वेषमूलक और मोहमूलक प्रवृत्ति अकुशल कहलाती है। कुशल मनोवृत्तियों को बोध्यङ्ग कहते हैं। स्मृति का अर्थ पहले कहा गया है—धर्मप्रविचय अर्थात् विवेचक बुद्धि, वीर्य अर्थात् उत्साह, प्रस्त्रब्धि अर्थात् शान्ति। इन मनोवृत्तियों के अयोग्य और योग्यकाल के सम्बन्ध में भगवान् बुद्धदेव कहते हैं—

'भिक्षुओ! जिस समय चित्त जडतापूर्ण हो, उस समय प्रस्त्रब्धि, समाधि और उपेक्षा इन तीनों बोध्यङ्गों की भावना करना उपयुक्त न होगा। जैसे कि व्यक्ति अग्नि प्रज्ज्वलित करना चाहता है, परन्तु आर्द्रेन्धन के कारण ऐसा सम्भव न हो पायेगा। इसी प्रकार यदि उसका चित्त जड है और वह प्रस्त्रब्धि, समाधि और उपेक्षा इन तीन संबोध्यङ्गों की भावना करना चाहे तो उसके चित्त को प्रोत्साहन न मिलेगा। क्योंकि चित्त तो पहले से ही जड है और उसको इन तीन बोध्यंगो के लिये नियन्त्रण रखना सम्भव नहीं है, परन्तु उस अवसर पर धर्मप्रविचय, वीर्य और प्रीति इन तीन संबोध्यङ्गों की भावना बहुत हितकर है, क्योंकि उससे जड चित्त को जीवन प्राप्त होता है।'

एक दूसरे स्थान में भगवान् बुद्धदेव कहते हैं—

'भिक्षुओ! जिस समय चित्त भ्रान्त हुआ हो उस समय धर्म-प्रविचय, वीर्य और प्रीति इन तीन संबोध्यङ्गों की भावना उचित नहीं है। क्योंकि इन भावनाओं के कारण चित्त-भ्रान्तता का उपशम न होकर वह और भी भ्रान्त हो जायेगा। यदि कोई मनुष्य चाहता है कि प्रज्ज्वलित हुई अग्नि को शान्त कर दे तो उसको शान्त करने के लिये शुष्क काष्ठ का उपयोग करने से वह अग्नि शान्त न होकर अत्यधिक प्रज्ज्वलित हो जायेगी। इसी प्रकार चित्त के भ्रान्त हो जाने पर धर्मप्रविचय, वीर्य और प्रीति इन तीन संबोध्यङ्गों की भावना करने से वह प्रशान्त न होकर अधिक उत्तेजित हो जायेगी। ऐसे अवसर पर प्रस्त्रब्धि, समाधि और उपेक्षा इन तीन संबोध्यङ्गों की भावना करना योग्य है।'

अब रहा स्मृतिबोध्यङ्ग।

हे भिक्षुओं हमको चाहिए कि इस संबोध्यङ्ग का उपयोग हम सर्वत्र

करें। अभिप्राय यह है कि समाधि कितनी भी उपयुक्त क्यों न हो, फिर भी उसको सर्वथैव प्राधान्य देना अपायकारक है। देश में अव्यवस्था न फैले, इसके लिये शासक कठोर अनुशासनप्रिय होना चाहिए। परन्तु वह शासक प्रजा के हित की ओर ध्यान न देकर अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने में लग जाय तो उसकी उस अव्यवस्था से भी अधिक क्षति होगी। इसी प्रकार कुशल मनोवृत्तियों में केवल समाधि को प्राधान्य दिया जाय तो आलस्य आदि शत्रु अन्तःकरण में प्रवेश करके मनुष्य के नाश में कारणीभूत हो जायेंगे। इसीलिये सम्राट् अशोक आदि राजागण विलासिता से दूर रहकर प्रजा को सुख पहुँचाने में अधिक दक्ष रहा करते थे। इससे यह आवश्यक जान पड़ता है कि समाधियोग का वास्तविक कर्तव्य है कि उत्साहादि की सहायता से सर्वकुशल मनोवृत्तियों में समाधान रखने के लिये तत्पर रहे।

●

तृतीय पटल : योगविद्या के विविध आयाम

- भगवद्गीता के अनुसार मनोवृत्ति की मीमांसा
- योगदर्शन में संस्कार की दार्शनिक पृष्ठभूमि
- भगवद्गीता में मायावाद अथवा परिणामवाद : एक विमर्श
- भगवद्गीता में मायावाद एवं परिणामवाद : एक तुलनात्मक परिशीलन
- योगदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त : एक सिंहावलोकन
- आस्तिक दर्शनों में ईश्वर की अवधारणा
- सांख्यदर्शन में ईश्वर का विश्लेषण
- योगविद्या का चिकित्सकीय आयाम : एक दार्शनिक चिन्तन
- दर्शनशास्त्र में मोक्ष की अवधारणा
- योग : एक विहङ्गम दृष्टि (योगसूत्रभावानुसारी पद्यमयी रचना)

भगवद्गीता के अनुसार मनोवृत्ति की मीमांसा

प्रत्येक वस्तु का प्रारम्भ अत्यधिक सूक्ष्म हुआ करता है। अंग्रेज इस देश में आये थे, उस समय किसी ने यह नहीं समझा होगा कि वे इस देश की उन्नति के इतने विरोधी निकलेंगे। शरीर में रोग भी अत्यधिक सूक्ष्म रीति से प्रवेश करता है। नदी में जब पोत चलता है, तब प्रारम्भ में उसका वेग अत्यन्त सूक्ष्म होता है, पर एक बार ज्यों ही वह नदी की मध्यधारा में पहुँचा तो फिर वह अविरल गति से समुद्र की ओर दौड़ने लगता है। नदी भी उद्गम के स्थान पर अत्यल्प होती है पर वही हमारी धारणा के विपरीत विस्तृत भूखण्डों को आप्लावित कर देती है। कहते हैं कि मालवदेश के पर्वतों की पिपीलिकासदृश 'मही' नदी खंभात के समीप पहुँचते ही इतनी विस्तृत हो जाती है कि नागरिकजन उसे सागर कहने लगते हैं और विशालकाय उन्मत्त गजसमूह भी उसके मध्य जाने का साहस नहीं करता है।

'पाप' मनोवृत्ति

पाप की प्रगति भी ऐसी हुआ करती है। शुद्ध आचारवान् मनुष्य के मन में जब किसी विषय का विचार आता है तब वह समझता है कि मेरा आचरण तो परिशुद्ध है ही, मन में यदा-कदा एक-दो विपरीत कल्पना आ ही गयी तो क्या हुआ? वह इस भ्रम में रहता है कि मात्र इतने से अधःपतन नहीं हो सकता। परन्तु इसी से उसका सर्वनाश निगूढ रहता है। पीपल जैसे महावृक्ष का बीज कितना लघु होता है? मनुष्य सर्वदा तटस्थभाव से भी यदि विषय का चिन्तन करता है तो भी उसका चित्त उस विषय से संपृक्त हो जाता है। वाञ्छित आपातरमणीय विषय का भूयोभूयः स्मरण होता है। उसका चिन्तन उसके लिये हर्षप्रद हो जाता है। उस विषय के अनायास निकट आने पर चित्त में प्रसन्नता का अनुभव होता है। फिर उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है। उस विषय के प्रति पक्षपातबुद्धि जागरित होती है। जहाँ एक बार पक्षपात की जागृति हुई कि समत्वबुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। पक्ष के सामने प्रतिपक्ष हुआ ही करता है। प्रतिपक्ष में अप्रियता, द्वेष और क्रोध स्वाभाविक ही होता है।

काम और क्रोध मनुष्य को ऐसा अन्ध बना देते हैं कि वस्तु के यथार्थ गुण-अवगुण के परीक्षण की क्षमता भी नष्ट हो जाती है। आसक्ति और द्वेष से काल्पनिक गुण-अवगुण का आरोप होने लगता है। इससे प्रकृति के प्रति रहने वाला अनुसन्धान विशृङ्खलित हो जाता है। मनुष्य को सम्मोह होता है, सम्मोह होते ही जागृति जाती रहती है। प्रत्येक वस्तु को यथार्थरूप से जानना और उसके प्रति अपना धर्मनिश्चय करना, इसी का नाम स्मृति है। इस स्मृति के चले जाने पर सत् -असत् का विवेक करके धर्म-अधर्म की निश्चयात्मिका बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। जब तक बुद्धि है तभी तक मनुष्य है। इस न्याय से बुद्धिभ्रंश से मनुष्य का सर्वनाश होने में विलम्ब नहीं होता है। कहा है—

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ।

पाप की ऐसी ही प्रगति है। पाप जब आता है, तब वह निरीह गो की तरह सरल बन कर आता है। परन्तु एक बार दृढता प्राप्त करते ही वह सिंहगर्जना करने लगता है। कहते हैं कि यमराज में दया होती है, किन्तु पापवृत्ति में नहीं। अत एव प्रारम्भ में ही पाप पर दया नहीं करनी चाहिए। पाप पर दया करने पर वह हमारा भक्षक बन जाता है। विषयों की जाति में भी इतना सादृश्य होता है कि जहाँ उनमें से किसी एक को आने दिया तो फिर आमन्त्रण के विना ही वे काकन्याय से युगपत् आक्रामक बन जाते हैं। मनुष्य जहाँ एक बार इनके अधीन हो जाता है, तो फिर गिद्धपक्षी की तरह चारों ओर से वह क्षत-विक्षत हो जाता है। यथा—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।

भगवद्गीता २/६२-६३

'काम' मनोवृत्ति

'काम' से क्रोध कैसे उत्पन्न होता है, मानसशास्त्र की दृष्टि से यह विचारणीय विषय है। 'काम' का अर्थ प्रेम नहीं है। प्रेम को अपने सुख-दुःख से कोई प्रयोजन नहीं रहता है। प्रेम तो दूसरे के कल्याण के लिये आत्मसमर्पण करना जानता है। भली-भाँति विचार करने पर विदित होता है

कि काम स्वार्थी होता है। अपनी तृप्ति ही उसका एकमात्र हेतु होता है। जैसे साधारण मनुष्य यह समझता है कि सूर्य, चन्द्र, ग्रह आदि सभी तत्त्व अपनी पृथ्वी की परिक्रमा लगाते हैं, वैसे ही कामी मनुष्य काम को मध्यबिन्दु बनाकर जगत् को देखता है। इसी से उसका जीवनज्योतिष अपूर्ण एवं अन्धसदृश होता है। बाह्य वस्तुओं की गति के सम्बन्ध में वह कपोलकल्पित आरोप करता है। ऐसा मनुष्य संसार की सरल गति नहीं समझ सकता, न्यायनीति नहीं समझ सकता, इसी से वह पक्षपात में उतर पड़ता है। कामी मनुष्य अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये समाज की रीति का क्रम परिवर्तित करना चाहता है और कामित वस्तु के प्राप्त न होने पर उसी के प्रति क्रोध करता है। अदुग्ध गाय के प्रति उसकी दृष्टि बदल जाती है। आशा का विक्षेप होते ही, आशा टूटने पर ही काम ही क्रोध का रूप धारण कर लेता है। प्रिय वस्तु के लिये मनुष्य जब यह देखता है कि वह वस्तु मेरी होकर नहीं रह सकती, तब वह उसे नष्ट करने में विलम्ब नहीं करता है।

'द्वेष' मनोवृत्ति

अनुराग और द्वेष ये एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। लोहपिण्ड से निर्मित कटाह (कढाई) एक ओर से अवनत और दूसरी ओर से उन्नत होती है, जब कि वस्तु एक ही है। राग-द्वेष की भी यही स्थिति है। मनोभाव की विषमावस्था में राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। चित्त की साम्यावस्था के विपरीत यह अवस्था होती है। जो मानवमात्र का मित्र बनना चाहता है, वह किसी एक का विशिष्ट मित्र नहीं रह सकता, यही समष्टि-दृष्टि की परिभाषा है। उसके लिये सभी समान रहते हैं। व्यष्टि-दृष्टि से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध में न्यूनाधिकता अवश्य रहती है। परन्तु उसके हृदय की भावना सबके प्रति समान ही रहती है। एक हाथ से रुपया जब दूसरे हाथ में जाता है, तब स्वामी के मन में धनसम्बन्धी हानि-लाभ की भावना जागरित नहीं होती है। इसी भाँति कुटुम्बीजनों में न्यूनाधिक धन वितरित होने से जैसे द्वेषबुद्धि जागरित नहीं होती है, वैसे ही अजातशत्रु विश्वामित्र संसार में विचरण करता है। अपने विषय में भी उसका पक्षपात नहीं रहता है। राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् क्या शेष रहता है? उत्तर है कि समाधान और प्रसन्नता शेष रह जाती है। मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा यह चतुर्विध प्रसन्नता रह जाती है। प्रसन्नता का अर्थ है—आकांक्षा का अभाव।

प्रसन्नता का दूसरा अर्थ है—स्वच्छता। राग-द्वेष रूपी कषाय के बैठ जाने पर चित्तरूपी जल स्वच्छ तथा निर्मल हो जाता है। मलिनता से जल दूषित रहता है, इसी से उसके मध्य में क्या है, यह दिखलाई नहीं पड़ता है। जल स्वच्छ होते ही पारदर्शी बन जाता है। चित्तप्रसाद का ऐसा ही प्रभाव है। जिसको चित्तप्रसाद प्राप्त हो गया, वह अपना तो क्या दूसरे की मनोदशा को भी भली-भाँति जान लेता है। ज्ञानप्राप्ति अर्थात् तत्त्वप्राप्ति में बाधा देने वाली एकमात्र वस्तु राग-द्वेषादि वासनाओं का किल्विष ही है। कितनी ही बार राग-द्वेष के कारण एकाग्रता बढ़ती है, इसमें आंशिक सत्यता अवश्य है किन्तु रागद्वेषमूलक एकाग्रता आत्मघातिनी एवं अन्यप्राया ही होती है। सत्य ज्ञान तो आत्मप्रसाद से ही प्राप्त होता है। किसी यन्त्र अथवा संस्था का स्वरूप उसकी रचना, उसका प्रयोजन तथा कार्यपद्धति को समझे विना यदि हम उसके अन्दर प्रवेश करते हैं तो दुःखदायी स्खलन अवश्यम्भावी रहता है। परन्तु दूसरी ओर उसी यन्त्र अथवा संस्था की स्थिति को भली-भाँति समझ लेने पर हम उसमें सुरक्षित एवं स्वतन्त्रभाव से परिभ्रमण कर सकते हैं। एक स्थिति का नाम अन्धकार (रात्रि) है तो दूसरी स्थिति का नाम प्रकाश (दिवस) है। अन्धकार में हमें बाधा होती है जब कि प्रकाश स्वतन्त्रता प्रदान करता है। यद्यपि दोनों स्थितियों में समीप का संगठन एक सा ही प्रतीत होता है। राग-द्वेष क्षीण होते ही समुपलब्ध प्रसन्नता हमें प्रकाशित करती है। विश्व-संस्था, उसका स्वभाव एवं उसमें अपना स्थान जब हम समझ लेते हैं तो हमारे दुःखों का अन्त हो जाता है। फिर जैसे मध्याह्न के प्रकाश में स्वेच्छा-पूर्वक विचरण करने में हमें कोई बाधा प्राप्त नहीं होती है, वैसे ही रागद्वेष-रहित बुद्धि भी स्वाधीन एवं स्वस्थ हो जाती है। भगवद्गीताकार का वचन है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।

भगवद्गीता २/६५-६६

यही भगवद्गीता में प्रतिपादित मनोवृत्ति-मीमांसा का सारतत्त्व है।

●

योगदर्शन में संस्कार की दार्शनिक पृष्ठभूमि

गौरवशाली संस्कृत ग्रन्थों में प्रतिपादित ब्रह्मर्षियों का शाश्वत उद्घोष, धर्मशास्त्रकारों का आदेश, कथावाचक सन्तों का उपदेश, पितृकुलधारकों का वात्सल्यपूर्ण अनुभव तथा शुभचिन्तकों का सर्वजनप्रिय चिन्तन सर्वदा एवं सर्वथा मानवचित्त में 'संस्कार' की सत्य-शिव-सुन्दरमयी त्रिवेणी प्रवाहित करने में ही प्रयत्नशील रहा है। शब्दशास्त्री वैयाकरणों ने वाक् परिशुद्धि का उपपादन किया, चिकित्साशास्त्री ने कायिक परिपुष्टता पर प्रकाश डाला तो योगाचार्यों ने मन को संस्कारित एकनिष्ठता प्रदान करने का प्रबल प्रयास किया। अत: शास्त्रों में मन-वचन-कर्म की एकरूपता को मनस्विता के मानकरूप में प्रतिष्ठापित किया गया। इसी क्रम में यम-नचिकेतोपाख्यान द्वारा प्रेयमार्ग की तुलना में श्रेयमार्ग की ओर मानव को शनैः-शनैः अनुप्राणित किया गया। एक शब्द में सम्पूर्ण जीवन उच्च संस्कारों के आधान की अनुपम पाठशाला है। अत: संस्कार की कहानी उतनी ही पुरानी है, जितना मानव जीवन। फिर जन्म की यह वार्त्ता उतनी ही रहस्यमयी है, जितनी मोक्ष की अवधारणा।

'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से घञ् प्रत्यय करके 'संस्कार' शब्द निष्पन्न होता है। इसका सर्वमान्य अर्थ है—संस्कृत करना। यह संस्कार शब्द प्रत्येक शास्त्र में किसी अर्थविशेष का वाचक होने से पारिभाषिक कहा जाता है। यह एक गुण है, इसमें भले ही दार्शनिकों में मतैक्य हो किन्तु अर्थ की विभिन्नता से यह किंनिष्ठ है, इसका एकान्तवचनीय उत्तर नहीं दिया जा सकता है। इसकी अद्भुतता इसी में है कि यह बुद्ध्यादि जड तत्त्वों पर धर्मादि भावरूप संस्कारों का आधिपत्य स्थापित करता ही है, किन्तु चेतन पुरुषतत्त्व को भी, भले ही उपाधिवशात्, प्रभावित किये विना नहीं रहता है।

'संस्कार' शब्द की व्याख्या शास्त्रकारों ने अनेक प्रकार से की है—

१. वैशेषिक दर्शन के अनुसार रूप आदि चौबीस गुणों में संस्कार भी एक गुण है। यह संस्कार नामक गुण तीन प्रकार का है—वेग, भावना

और स्थितिस्थापक। इनमें भावना विशेषगुण है तथा अन्य दो संस्कार सामान्यगुण हैं। अनुभवजन्य भावनारूप संस्कार से स्मृतिज्ञान उत्पन्न होता है। भावनारूप संस्कार आत्मा का विशेषगुण है। तर्कसंग्रह में कहा गया है—

अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना आत्ममात्रवृत्तिः

तर्कसंग्रह पृष्ठ संख्या १०

१. भावनारूप संस्कार पूर्वजन्म की वासनाओं को पुनरुज्जीवित करने वाला गुण है।

२. आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में शास्त्राभ्यासजन्य 'व्युत्पत्ति' को संस्कार कहा है।

३. वैयाकरणों ने व्याकरणोक्त पद्धति से शब्दों के साधनप्रकार को संस्कार माना है।

४. जैमिनि सूत्र पर लिखित शाबरभाष्य के अनुसार संस्कार वह है जिसके होने पर कोई पदार्थ किसी योग्य हो जाता है—

संस्कारो स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य ।

शाबरभाष्य, जैमिनीयसूत्र ३/१/७३

५. तन्त्रवार्त्तिक के अनुसार योग्यता का आधान करने वाली क्रियाएँ संस्कार कहलाती हैं—

'योग्यतां चादधानाः क्रिया संस्कारा इत्युच्यते' ।

तन्त्रवार्त्तिक पृष्ठ संख्या १०७८

६. याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रथम ब्रह्मचारिप्रकरण में बतलाया गया है कि संस्कार द्वारा बीज-गर्भ से उत्पन्न हुए दोष दूर हो जाते हैं—

एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम् ।

याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय, १३ पूर्वार्द्ध

मिताक्षरा टीका में विज्ञानेश्वर ने 'एनः' पद को रेखाङ्कित करते हुए 'बीजगर्भसमुद्भवम्' की व्याख्या इस प्रकार की है—

शुक्रशोणितसंबद्धं गात्रव्याधिसंक्रान्तिनिमित्तं वा, न तु पतितोत्पन्नत्वादि ।

मिताक्षरा, १३ पूर्वार्द्ध

७. कर्मज्ञ एवं धर्मज्ञ गर्भाधानादि क्रियाकलाप को संस्कार कहते हैं। मनु ने कहा है—

संस्कारार्थं शरीरस्य ।

मनुस्मृति २/६६

यहाँ संस्कारों की संख्या के विषय में मतभेद है। सामान्यत: सोलह संस्कार माने जाते हैं।

८. तन्त्रशास्त्र में मन्त्रों की सिद्धि प्राप्त करने के लिये दशविध संस्कार बतलाये गये हैं।

९. बौद्धदर्शन में संस्कारस्कन्ध की चर्चा हुई है।

सांख्यदर्शन के अनुसार संस्कार

ईश्वरकृष्णविरचित बहत्तर कारिकाओं में मात्र एक कारिका ऐसी है, जिसमें संस्कार शब्द का प्रयोग मिलता है। कारिका है—

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ।।

सांख्यकारिका ६७

इस कारिका का मूल उद्देश्य विदेहमुक्ति से पूर्व साधक की जीवन्मुक्ति की स्थापना करना है। सांख्यदृष्टि से सत्त्वपुरुषान्यताख्याति अर्थात् जड-चेतन का विवेकज्ञानरूप उत्कृष्टतम साक्षात्कार हो जाने पर भी जीवन्मुक्त योगी संस्कारवश शरीरधारण उसी प्रकार किये रहता है जिस प्रकार कुम्भकार का चाक; निर्मित घट के अध:पात के पश्चात्, भी वेगाख्य संस्कार से परिभ्रमण करता रहता है। आशय यह है कि सम्यग्ज्ञान से धर्मादि सात भावाख्य संस्कार (संचित एवं क्रियमाण कर्मजनित वासनाएँ) तो दग्धबीजवत् हो जाते हैं किन्तु प्रारब्धकर्मजनित संस्कारों (वासनाओं) से प्राप्त वर्तमान शरीर का वासनासहित नाश तो निखिल कर्मों के भोग के पश्चात् ही होता है। भोग किये विना प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता है। इस प्रकार विदेहमुक्तिपर्यन्त संस्कार तत्त्वज्ञानी योगी का अनुसरण करते हैं।

सांख्यदर्शन में सूक्ष्मशरीर की प्रतिपादिका कारिका है—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ।।

सांख्यकारिका ४०

मेरी दृष्टि में यहाँ 'भाव' शब्द का अर्थ वासनात्मक संस्कार है। यही लिङ्गशरीर के संसरण का नियामक है। बुद्धि के धर्मादि आठ भाव बुद्धि के स्वरूपत्वेन परिभाषित हुए हैं। कारिका है—

अध्यवसायो बुद्धिः धर्मज्ञानविरागैश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ।।

सांख्यकारिका २३

जिस प्रकार वस्त्र के एक प्रभाग से संयुक्त सुगन्ध से सम्पूर्ण परिधान सुवासित हो जाता है उसी प्रकार अष्टादश अवयवात्मक सूक्ष्मशरीर के शीर्ष घटक बुद्धि के संस्कारयुक्त (भावयुक्त) होने से सम्पूर्ण लिङ्गशरीर तदात्मक संस्कार (भावाधिवास) वाला हो जाता है।

योगदर्शन के अनुसार संस्कार

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्तभूमि में एकाग्रसंस्कार का संस्थापन क्षिप्तादि संस्कारों के उत्पाटन के विना सम्भव नहीं है। सुवर्णशोधक अग्नि की भाँति योगाग्नि द्वारा अपरिष्कृत संस्कारों को परिमार्जित किया जाता है। योग-साधना योगी साधक के संस्कारों में उत्तरोत्तर निर्माल्य का आपादन करती हुई असम्प्रज्ञातयोग के पराकाष्ठाकाल में निरुद्धसंस्कारावसान (संस्कारों के आत्यन्तिक अतीतावस्थान) द्वारा, परिपूर्ण होती है। योग का केन्द्रबिन्दु है—संस्कार। अतः 'संस्कार' योग का पर्याय है।

महर्षि पतञ्जलि के ऐसे नौ सूत्र हैं जिनमें संस्कार शब्द का प्रयोग हुआ है। वे नौ सूत्र हैं—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ।

योगसूत्र १/१८

तस्यापि (संस्कारस्यापि) निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।

योगसूत्र १/५१

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

योगसूत्र २/१५

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ।

योगसूत्र ३/४

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ।

योगसूत्र ३/१८

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ।

योगसूत्र ४/९

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ।

योगसूत्र ४/२७

इस प्रकार योगदर्शन में समाधिपाद से लेकर अन्तिम कैवल्यपाद तक 'संस्कार' शब्द प्रयुक्त हुआ है। योगसूत्र के प्रामाणिक भाष्यकार व्यासदेव के योगभाष्य का अध्ययन करने से योगसम्मत संस्कार की अवधारणा अधिक स्पष्ट बन पडी है। इससे संस्कार को लेकर निम्नलिखित दार्शनिक बिन्दुओं पर प्रकाश पड़ता है।

संस्कार के भेद

भाष्यकार व्यासदेव ने संस्कार के दो भेद किये हैं—पहला वासनारूप संस्कार तथा दूसरा धर्माधर्मरूप संस्कार। इनमें वासनारूपसंस्कार स्मृति और अविद्यारूप क्लेश का हेतु है तथा धर्माधर्मरूपसंस्कार जाति (जन्म), आयु तथा भोगरूप फल का कारण है। व्यासवचन है—

द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपाः,
विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र ३/१८

चित्त के सात धर्म

योगसूत्र के विभूतिपाद के पन्द्रहवें सूत्र पर भाष्य लिखते हुए व्यासदेव ने चित्त के दर्शनवर्जित (अपरिदृष्ट) सात धर्म परिगणित किये हैं। उनमें एक संस्कार धर्म भी है। वचन है—

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् ।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ।।

व्यासभाष्य, योगसूत्र ३/१५

अर्थात् निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा तथा शक्ति ये सात चित्त के धर्म हैं। ये वस्तुमात्रात्मक अपरिदृष्टधर्म हैं। चित्त का परिदृष्ट धर्म प्रत्यय है। यही दोनों में अन्तर है। चित्त का संस्कारचक्र अहर्निश चलता रहता है। वृत्ति से संस्कार और संस्कार से वृत्ति यह क्रम बना रहता है। व्यासदेव ने लिखा है—

तथाजातीयकाः संस्काराः वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय इत्येवं चित्तसंस्कारचक्रमनिशमावर्त्तते ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/५

चित्त को नदी रूप में रेखाङ्कित

भाष्यकार व्यासदेव ने चित्त का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्त दिया है। चित्त को नदीरूप में उपमित करते हुए वे लिखते हैं कि इसकी दो धाराएँ हैं—प्रेयस्करी और श्रेयस्करी। संसाराभिमुखी प्रेयस्करी धारा पापवहा है तथा कैवल्याभिमुखी श्रेयस्करी धारा कल्याणवहा है। वचन है—

'चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च । परन्तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा, संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/१२

सम्पूर्ण योगसाधना में वैराग्य द्वारा उन्मुक्त विषयस्रोत को शुष्क (क्षीणप्राय) किया जाता है तथा विवेकदर्शनाभ्यास द्वारा क्षीणप्राय विवेकस्रोत को उन्मुक्त (उन्नत) किया जाता है। योग का उत्तम साधक अभ्यास-वैराग्य द्वारा, मध्यम साधक क्रियायोग द्वारा तथा सामान्य साधक अष्टाङ्गयोग द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध के स्तर का क्रमशः विकास करता है। इसी क्रम में उदित समाधिप्रज्ञाजनित संस्कारराशि से चित्त की व्युत्थानात्मक संस्कारराशि निरुद्ध हो जाती है। अन्त में चित्त की एक अवस्था ऐसी भी आती है जब

असम्प्रज्ञात की परिपक्वावस्था में समाधिप्रज्ञाजनित संस्कारराशि भी निरुद्ध (लयभूत) हो जाती है। पुरुष उपाधिगत संस्कारराहित्य की स्थिति में आ जाता है। जपाकुसुम के अपसारण से नैसर्गिक स्वच्छताप्राप्त स्फटिक की भाँति पुरुष अपने वास्तविक ज्ञानस्वरूप में आ जाता है। इसी को पुरुष की स्वरूपावस्थिति कहा है। सूत्र है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

योगसूत्र १/३

दूसरी ओर कैवल्यभागीय संस्कारों के साथ चित्त भी अपने मूलकारण प्रधान (प्रकृति) में विलीन हो जाता है। योगभाष्यकार लिखते हैं—

व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृताववस्थितायां प्रविलीयते ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/५१

संस्कारों के मायाजाल का ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक अवसान।

कर्माशय : संस्कार की प्रजाति

योग में 'कर्माशय' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। यह शब्द वासना का वाचक है। वासना संस्कार की प्रजाति है। कर्मजनितवासना दो प्रकार की है—सुखात्मिका और दु:खात्मिका। कर्मफल के रूप में वासना की अनुभूति होती है। कर्मफल की परिणति तीन प्रकार की कही गई है—जाति, आयु तथा भोगरूप। सूत्र है—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।

योगसूत्र २/१३

तत्त्वज्ञानी योगी की दृष्टि में संस्कारदु:ख

जब हमें भौतिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त होने लगती हैं, तब हम अपने जीवन को धन्य समझने लगते हैं। हमारी विषयासक्ति बढ़ती जाती है। व्यक्ति पर प्रेयभावना की आक्रामक स्थिति बन जाती है, फलत: वह श्रेयभावना से विमुख हो जाता है। किन्तु सूत्रकार पतञ्जलि के मत में यह योगमार्ग के पथिक का लक्षण नहीं है। उसकी दृष्टि में परिणाम, ताप, संस्कारजनित-दु:ख और गुणवृत्तिविरोध के कारण सर्वत्र दु:ख परिव्याप्त है। गृहीत पदार्थ दु:खसंपूरित होता है। इस आशय का सूत्र है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

योगसूत्र २/१५

तात्पर्य यह है कि सुखानुभव और दुःखानुभव से तद्रूप सुखात्मक और दुःखात्मक संस्काररूप आशय (वासना) का प्रचय होता है। फलतः अनादि दुःखस्रोत उन्मुक्त होता है। यह दुःखस्रोत अक्षिपात्रकल्प कोमल अन्तःकरणयुक्त तत्त्वज्ञानी योगी को उसी प्रकार उद्वेलित करता है जिस प्रकार नेत्र को ऊर्णातन्तु का स्पर्शमात्र। अतः धर्म-अधर्म, सुख-दुःख तथा राग-द्वेष से प्रवृत्त षडर संस्कारचक्र (संसारचक्र) योगी को कभी भी स्पृहणीय नहीं रहा है।

संस्कार की अनादिता

संस्कार सम्पादित कर्मों की अनादि गुह्य छायाकृति है। संस्कार निष्क्रिय नहीं, अपितु ऊर्जायुक्त सूक्ष्म स्थिति का अकल्पित विस्फोटक तत्त्व है। यह उचित समय पर अपना प्रभाव प्रदर्शित करता है। यह अनादि किन्तु अन्तवान् है। पतञ्जलि का सूत्र है—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ।

योगसूत्र ४/१०

संस्कारसाक्षात्कार का फल

संस्कार का अनुमित्यात्मक ज्ञान होता है। सुख-दुःखादि भोग से संस्कारों की उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट प्रजाति का बोध होता है। संस्कारों का जन्मादि से अविनाभावसम्बन्ध है। विभूतिपाद में वर्णित सिद्धियों में एक ऐसी भी सिद्धि है, जिससे योगी को अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान होता है। अर्थात् पूर्वजन्म में मैं कौन था? क्या था? कहाँ था? इत्यादि। यह सिद्धि संस्कारविषयक संयम से उदित होती है। सूत्र है—

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ।

योगसूत्र ३/१८

योगशास्त्र में चित्तशुद्धि संस्कारशुद्धि का आधार

योगशास्त्र में चित्तशुद्धि पर विशेष बल दिया गया है क्योंकि यही प्रकार अन्य शुद्धियों का आधार है। अष्टाङ्गयोग इस दिशा में अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण है। अहिंसादि का विधिवत् अनुपालन करने से हिंसादि आसुरी संस्कारों पर अहिंसादि दैवी संस्कारों की विजय होती है। चित्त में आत्मसात् हुए हिंसादि संस्कारों की जब तक निवृत्ति नहीं होगी और अहिंसादि संस्कारों द्वारा चित्तशुद्धि नहीं होगी तब तक योग के द्वितीय अङ्ग नियम में प्रतिपादित शौचादि संस्कारों के आधान की बात भी अकिंचित्कर रह जायेगी। अत: पतञ्जलि ने 'नियम' से पूर्व 'यम' के परिपालन पर बल दिया है। शरीर का संस्कार 'आसन', प्राणादिवायु का संस्कार प्राणायाम तथा इन्द्रियों का संस्कार प्रत्याहार से सुदृढ होता है। पतञ्जलि द्वारा उक्त यम-नियम आदि पाँच बहिरङ्गसाधनों के अभ्यास द्वारा चित्त, शरीर, प्राण एवं इन्द्रियों में पूर्ण आत्मनियन्त्रण के संस्कार को स्थापित किया जाता है। इससे एकाग्रचित्त द्वारा ध्येयतत्त्व का चिन्तन उत्तरोत्तर पक्वता को प्राप्त होता है। फलत: अन्तरङ्गसाधन धारणा, ध्यान तथा समाधि द्वारा चित्त का ध्येयचिन्तनात्मक संस्कार सुदृढता को प्राप्त होता है। सुदृढ ध्येयचिन्तनात्मक संस्कार से साधक को सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग क्रमश: प्राप्त होता है। योगशास्त्र में शुद्ध संस्कारों के विकास की इस दीर्घकालिक यात्रा में चित्त का निरुद्धसंस्कार भी प्रकृति के गर्भ में विलीन हो जाता है। इस प्रकार योगी की **'स्वरूपप्रतिष्ठा'** की यात्रा पूर्ण होती है।

एक शब्द में कहा जा सकता है कि पतञ्जलिप्रोक्त योग-साधना में संस्कारशुद्धि प्रथम अपरिहार्यता है। सारतत्त्व यह है—

चित्तभूमि में प्रस्फुटित होते हैं अहिंसादि संस्कार जब ।
मानव में विकसित होती है योगसाधना की शक्ति तब ।।
व्यापार से निर्व्यापार की इस साधना में ।
संस्कारपल्लवन से संस्कारनिरोध की इस यात्रा में ।।
यह प्रवृत्ति से निवृत्ति की है भावना ।
बाह्य से अन्तर्मुखी होने की है कामना ।।
यह सबीज से निर्बीज की है साधना ।
शेष से नि:शेष होने की है विचारणा ।।

●

भगवद्गीता में मायावाद अथवा परिणामवाद : एक विमर्श

सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि मायावाद किसे कहते हैं और परिणामवाद किसे? अत्यन्त सरल शब्दों में परिणामवाद उसे कहते हैं, जब एक वस्तु का परिणाम होकर दूसरी वस्तु बन जाय जैसे दुग्ध से दधि, इक्षुरस से चीनी इत्यादि। वेदान्तसार में 'परिणाम' का लक्षण किया है—

यस्तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणाम उदीरितः ।

वेदान्तसार पृष्ठसंख्या ६९

अभिप्राय यह है कि जब किसी मूल वस्तु से तात्त्विक अर्थात् यथार्थ रूप में दूसरे प्रकार की वस्तु बनती है, तब उसको (गुण) परिणाम कहते हैं। परन्तु यह गुणपरिणाम उपनिषदों और गीताशास्त्र को मान्य नहीं है। क्योंकि परिणाम तभी सत्य सिद्ध हो सकता है, जब सत्कार्यवाद सिद्ध हो। अर्थात् कारण और कार्य दोनों सत्य वस्तु हों।

किन्तु गीताशास्त्र ब्रह्म से भिन्न प्रकृति को स्वतन्त्रकारण नहीं मानता है। क्योंकि वैसा मानने से उपनिषदों के उन सिद्धान्तों की क्षति होती है, जो वस्तुतः उपनिषदों के प्रधान सिद्धान्त हैं। जैसे—

भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । ...तं होवाच-यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति ।

तैत्तिरीयोपनिषद् ३/१

अर्थात् वरुणपुत्र भृगु अपने पिता वरुण के समीप गया। वरुण ने उससे कहा कि तुम ब्रह्म हो जाओ। जिस ब्रह्म से ये सम्पूर्ण भूत जीवित रहते हैं तथा अन्त में उसी में लीन भी हो जाते हैं। ऐसे ब्रह्म को तुम जानो। इसी का निर्णयात्मक वाक्य पुनः उपनिषद् में प्राप्त है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।

तैत्तिरीयोपनिषद् ३/६

इसी अभिप्राय की अन्य श्रुतियाँ हैं—

इदं सर्वं यदयमात्मा । बृहदारण्यकोपनिषद् २/४/६

आत्मैवेदं सर्वम् । छान्दोग्योपनिषद् ७/२५/२

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् । मुण्डकोपनिषद् २/२/११

सर्वं खल्विदं ब्रह्म । छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/१

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । छान्दोग्योपनिषद् ६/२/१

इन श्रुतियों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त संसार में कोई दूसरा नित्य पदार्थ नहीं है। इतना ही नहीं, अपितु बृहदारण्यकोपनिषद् में यह स्पष्ट कह दिया गया है कि

नेह नानास्ति किञ्चन ।

बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/१९

इस संसार में एक ब्रह्म ही सत्पदार्थ है। इसके अतिरिक्त प्रतीत होने वाले ये नाना पदार्थ माया के विजृम्भणमात्र हैं। इन नाना पदार्थों को सत्य मानने वाले की निन्दा भी इस प्रकार से की गई है—

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।

बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/१९

अभिप्राय यह है कि वह पुरुष भूयोभूयः मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इस संसार में अनुस्यूत एक ब्रह्म को नाना प्रकार से देखता है।

उपनिषद्वाङ्मय का सारभूत भगवद्गीता

उपनिषद्प्रतिपादित सिद्धान्तों के सारभूत भगवद्गीता के विषय में एक वचन मिलता है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।

अर्थात् सम्पूर्ण उपनिषदों को गायें बनाकर दुहने वाले भगवान्

गोपालनन्दन ने गीतामृतरूपी दुग्ध निकाला है, उसी पर विचार किया जा रहा है। गीता उपनिषदों से पृथक् किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिये नहीं लिखी गई है, प्रत्युत उपनिषदों के गूढ सिद्धान्तों को अत्यन्त सरल भाषा-शैली में पार्थ जैसे अधिकारी को समझाने के लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता का निर्माण किया था। अत एव दृढतापूर्वक कहा जा सकता है कि उपनिषद्साहित्य एवं गीताशास्त्र में प्रकृति कोई स्वतन्त्र एवं सत्य वस्तु नहीं है। जिस प्रकार उपनिषदों में एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरी वस्तु सत्य नहीं मानी गई है, उसी प्रकार गीता ने भी अद्वैत ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया है, जो निम्नलिखित प्रमाणों से स्पष्ट होता है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

भगवद्गीता १०/८ पूर्वार्द्ध

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।

भगवद्गीता ७/७

विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।

भगवद्गीता १०/४२ उत्तरार्द्ध

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।

भगवद्गीता ७/१० पूर्वार्द्ध

...उद्भवश्च भविष्यताम् ।

भगवद्गीता १०/३४ पूर्वार्द्ध

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।।

भगवद्गीता १०/३९

...सदसच्चाऽहमर्जुन ।

भगवद्गीता ९/१९ उत्तरार्द्ध

भगवद्गीता में विवर्तवाद

अत एव प्रकृति के सत्य एवं स्वतन्त्र हुए विना गुणपरिणामवाद (एक वस्तु का दूसरे रूप में परिणत हो जाना) सिद्ध नहीं होता है। तो फिर,

यह दिखलाई देने वाले संसार के नाना पदार्थ किंरूप हैं? और किससे उत्पन्न हुए हैं? ब्रह्म तो निर्गुण और निर्विकार है, उससे सगुण और सविकार जगत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

इसका उत्तर भगवद्गीता यों देती है—सम्पूर्ण पदार्थ भगवान् की विश्वमोहिनी माया से असत् होते हुए भी प्राणियों को सत् प्रतीत होते हैं और यह त्रिगुणात्मिका माया अथवा प्रकृति कोई अन्य स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। अपितु एक ही निर्गुण परब्रह्म पर मनुष्य की इन्द्रियाँ इसी अज्ञान के बल से सगुण दृश्यों का अध्यारोप किया करती हैं—

अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।

भगवद्गीता ५/१५ उत्तरार्द्ध

इसी मत को विवर्तवाद कहते हैं। इसका प्रतिपादन वेदान्तसार में यों किया गया है—

अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः स उदीरितः ।

वेदान्तसार पृष्ठसंख्या ६९

अर्थात् मूलवस्तु में कुछ भी विकार न होकर वह मूलवस्तु कुछ की कुछ भासने लगती है, उसी को विवर्तवाद कहते हैं। जैसे ऐन्द्रज़ालिक की माया से न होते हुए भी नाना पदार्थ सत्य दिखलाई पड़ते हैं। अथवा शुक्ति में रजत का, रज्जु में सर्प का, मृगमरीचिका में जल का आभास होना आदि।

इसी को अध्यास कहते हैं—

अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद् बुद्धिः ।

ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य उपोद्घात

अर्थात् अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का भास होना, इसी का नाम अध्यास है। हम सदैव देखते हैं कि एक वस्तु में भिन्न-भिन्न दृश्यों का दिखलाई पड़ना उस वस्तु का धर्म नहीं है और न उन दृश्यों से उस मूल वस्तु में कुछ विकार ही उत्पन्न होता है। द्रष्टा के दृष्टिभेद से वस्तु में अनेक दृश्य दिखलाई देना दृष्टिदोष के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है और न ही उस दिखलाई देने वाली तिलमिलाहट से आकाश में ही कुछ अन्तर पड़ता है। इसी प्रकार निर्गुण, निर्विकार परब्रह्म में अज्ञानवश जगत् का भान होता है। इस मिथ्या भान से उस मूलतत्त्व में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है।

गीता के अनुसार मायावच्छिन्न जगत्

सत्कार्यवाद के अनुसार निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति होना असम्भव है। इसे दूर करने के लिये ही 'विवर्तवाद' की स्थापना हुई है और इसका मूलाधार माया है। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि मूलतत्त्व एक और सत्य है, परन्तु उसमें भासित होने वाले नाम और रूप अनेक और असत्य हैं। ये मनुष्य की दुर्बल इन्द्रियों के कारण सदा परिवर्तित होते रहते हैं—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।।

भगवद्गीता ९/१०

अर्थात् प्रकृति, माया के हेतु से यह जगत् परिवर्तित होता रहता है। इस माया से आच्छादित परब्रह्म नित्य और अपरिवर्तनशील है। इसीलिये छान्दोग्योपनिषद् में एक के ज्ञान से सबका ज्ञान होना वर्णित है और वाणी से कही जाने वाली प्रत्येक वस्तु विकाररूप है। नाम-रूप से अतिरिक्त जो मूलतत्त्व है, वही सत्य है। वचन है—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं
स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।

छान्दोग्योपनिषद् ६/१/४

यही तथ्य वेदान्तशास्त्र में **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** और **'ब्रह्मामृतं जगन्मिथ्या'** आदि प्रमाणों से प्रतिपादित हुआ है।

यहाँ तक उपनिषदों के आधार पर विवर्तवाद स्थापित करके अब पाठकों को गीता के उन प्रकरणों को दिखलाया जा रहा है, जिनमें इसी वाद की पुष्टि की गई है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नाऽन्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा ।

भगवद्गीता १५/३ पूर्वार्द्ध

अर्थात् इस संसारवृक्ष का जैसा वर्णन किया गया है, वैसा स्वरूप उपलब्ध नहीं होता है। क्योंकि यह स्वप्न, मृगतृष्णा, इन्द्रजाल और गन्धर्व नगर के दृश्यों के सदृश मिथ्या है।

माया का स्वरूप

सम्प्रति, यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिसके बल से यह असत्य संसार सत्य प्रतीत होता है, वह माया क्या वस्तु है? कहाँ से उत्पन्न हुई है? और उसका धर्म क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर भगवद्गीता में दिया गया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।

भगवद्गीता ७/१४

अर्थात् यह गुणमयी दुस्तर दैवी माया मेरी ही है। जो इस माया को प्राप्त कर लेते हैं, वे ही मुझ में प्राप्त होते हैं।

भगवद्गीता में माया के विषय में आगे कहा है—

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।

भगवद्गीता १५/४ उत्तरार्द्ध

अर्थात् जिस पुरुष से संसार वृक्ष की चिरन्तन प्रवृत्ति विस्तीर्ण है।

महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में ऐसा वचन मिलता है कि हे नारद! यह माया मैंने ही उत्पन्न की है—

माया ह्येषा मया सृष्टा ।

महाभारत, ना.उप.

इसी भाव को भगवद्गीता में यों प्रकट किया गया है—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।।

भगवद्गीता ७/१२

हे अर्जुन! इन सात्त्विक, राजस और तामस भावों को तू मुझ से ही उत्पन्न जान। आगे कहा है—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।

भगवद्गीता ४/६ उत्तरार्द्ध

इसमें **'स्व'** और **'आत्ममायया'** शब्द से यह प्रतीत होता है कि

माया भगवान् की निजी वस्तु है। यहाँ **'प्रकृति'** शब्द से सांख्यशास्त्रोक्त स्वतन्त्र प्रकृति गृहीत नहीं है। अपितु यहाँ माया का ही नाम प्रकृति है।

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/१० पूर्वार्द्ध

जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी 'प्रकृति' शब्द से यहाँ माया के ग्रहण की बात कही गई है। भगवद्गीता के—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।

भगवद्गीता ७/४-५

इन उक्त श्लोकों में जो अपरा और परा प्रकृति का वर्णन किया गया है, वहाँ पर दोनों ही श्लोकों में **'अहंकार इतीयं मे'** और **'प्रकृतिं विद्धि मे पराम्'** में भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रकृति अर्थात् माया को अपनी कहा है। इन प्रमाणों से स्पष्ट विदित होता है कि माया कोई दूसरी वस्तु नहीं है, अपितु भगवान् की विश्वमोहिनी कोई अनिर्वचनीय शक्ति है। जो शक्ति उन्हीं के बल से जगत् के दृश्यों को उत्पन्न करती है। भगवान् का वचन है—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।।

भगवद्गीता ९/१० पूर्वार्द्ध

अर्थात् मेरी अध्यक्षता में यह माया चर-अचर संसार को उत्पन्न करती है। उपर्युक्त अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि माया क्या वस्तु है और कहाँ से उत्पन्न हुई है। अब विचारणीय पक्ष यह है कि माया का धर्म क्या है?

माया का धर्म

भगवद्गीता के पूर्वोल्लिखित **'दैवी ह्येषा'** (७/१४) की व्याख्या करते हुए भगवान् शङ्कराचार्य ने माया को सम्पूर्ण जीवों के चित्त को मोहित करने वाली बतलाया है। इतना ही नहीं, भगवद्गीता में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति माया का स्वरूप समझाते हुए कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाऽभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।

भगवद्गीता ७/१३

अर्थात् सत्त्व-रज-तम इन त्रिगुणात्मक भावों से मोहित हुआ यह सम्पूर्ण जगत्, इससे परे निर्गुण मुझ परमेश्वर को नहीं जानता है। इससे माया का धर्म मोहित करना सिद्ध होता है। यही तथ्य अन्य वचनों से परिपुष्ट होता है—

माययाऽपहृतज्ञानाः । भगवद्गीता ७/१५ उत्तरार्द्ध

मूढोऽयं नाभिजानाति । भगवद्गीता ७/२५ उत्तरार्द्ध

सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप । भगवद्गीता ७/२७ उत्तरार्द्ध

अवजानन्ति मां मूढाः । भगवद्गीता ९/१२ उत्तरार्द्ध

फलाभिसन्धि यह है कि भगवद्गीता में परिणामवाद नहीं, अपितु मायावाद, (विवर्तवाद) की स्थापना हुई है।

●

भगवद्गीता में मायावाद एवं परिणामवाद : एक तुलनात्मक परिशीलन

श्रीमद्भगवद्गीता में मायावाद एवं परिणामवाद दोनों वादों के पोषक वाक्य समुपलब्ध हैं। इससे निश्चयरूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि भगवद्गीता में वस्तुतः कौन वाद मुख्यतः समर्थित है। मेरी यह मान्यता है कि गीता का प्रतिपाद्य विषय किसी वाद की स्थापना करना नहीं है। सच्चिदानन्दघन सर्वशक्तिमान् परमात्मा को प्राप्त करना ही गीता का उद्देश्य है। जिसके उपास्यस्वरूप कई प्रकार के मार्ग बतलाये गये हैं, जिनमें परिणामवाद और मायावाद दोनों का समावेश हो जाता है। यथा—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाऽव्यक्तसंज्ञके ।।
भूतग्रामः स एवाऽयं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।।

भगवद्गीता ८/१८-१९

इसलिये वे यह जानते हैं कि सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेशकाल में अव्यक्त से अर्थात् ब्रह्म के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेशकाल में उस अव्यक्त नामक ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर में ही लय होते हैं। और वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो होकर प्रकृति के वश में हुआ, रात्रि के प्रवेशकाल में लय होता है और दिन के प्रवेशकाल में पुनः उत्पन्न होता है। हे अर्जुन! इस प्रकार ब्रह्मा के एक सौ वर्ष पूर्ण होने से अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है।

उपरिनिर्दिष्ट इन श्लोकों से यह स्पष्ट है कि समस्त व्यक्त जड पदार्थ अव्यक्त समष्टिभूत शरीर से उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में लय हो जाते हैं। यहाँ यह नहीं कहा कि उत्पन्न और लय होते हुए से प्रतीत होते हैं,

तात्त्विकरूप में नहीं होते। परन्तु स्पष्टतः उत्पन्न होना अर्थात् उस अव्यक्त का ही व्यक्तरूप में परिणाम को प्राप्त होना और दूसरा परिणाम व्यक्त से पुनः अव्यक्त रूप होना बतलाया है। इन अव्यक्त तत्त्वों का संघात (सूक्ष्म समष्टि) भी महाप्रलय के अन्त में मूल अव्यक्त में विलीन हो जाता है और उसी में उसकी उत्पत्ति होती है। उस मूल अव्यक्त प्रकृति को ही भगवान् श्रीकृष्ण ने आगे महद्ब्रह्म कहा है—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।

भगवद्गीता १४/३-४

अर्थात् महासर्ग के आदि में सम्पूर्ण मूतियों (शरीरों) की उत्पत्ति में महद्ब्रह्म को ही कारण बतलाया है। अर्थात् जडवर्ग के विस्तार में इस प्रकृति को ही हेतु माना है। गीता के तेरहवें अध्याय में भी कार्य-करण-रूप तेईस तत्त्वों को ही प्रकृति का विस्तार बतलाया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।।
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।

भगवद्गीता १३/१९-२०

अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी रूप पाँच महाभूत, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच विषय—इन दश को कार्य कहते हैं। बुद्धि, अहंकार, मन (अन्तःकरण); श्रोत्र, त्वक्, रसना, नेत्र, घ्राण (ज्ञानेन्द्रियाँ) वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ (कर्मेन्द्रियाँ)—इन तेरह के समुदाय का नाम करण है। सांख्यकारिका में कहा है—मूलप्रकृति विकृति नहीं है, महत् आदि सात प्रकृति-विकृति हैं, सोलह विकार हैं और पुरुष न प्रकृति है और न विकृति है—

मूलप्रकृतिरविकृतिः महदादयः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।।

सांख्यकारिका, ३

अव्याकृत माया का नाम मूलप्रकृति है। यह किसी का विकार न होने के कारण किसी की विकृति नहीं है। महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि), अहङ्कार, भूतों की सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति-विकृति हैं। मूलप्रकृति का विकार होने से इनको विकृति कहते हैं एवं इनसे अन्य विकारों की उत्पत्ति होती है, इसी से इन्हें ही प्रकृति कहते हैं। अत एव दोनों मिलकर इनका नाम प्रकृति-विकृति है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच स्थूलभूत—ये सोलह विकृति हैं। प्रकृति-विकृतिरूप अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राओं से उत्पत्ति होने के कारण इनको विकृति कहते हैं। इनसे आगे अन्य किसी की उत्पत्ति नहीं है। इससे ये किसी की प्रकृति नहीं हैं, विकृतिमात्र हैं। तत्त्वान्तर के उपादानकारण में ही प्रकृतित्व है। ऐसी तत्त्वान्तरोपादानता पृथ्वी के कार्यभूत गवादि, बीजादि में दृष्टिगत नहीं होती है। अतः पञ्चमहाभूतपर्यन्त सृष्टि कही गई है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में यह अभिप्रेत अर्थ स्पष्ट किया है—

गवादयो बीजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम् ।
तत्त्वान्तरोपादानत्वं च प्रकृतित्वमिहाभिप्रेतम्, इति न दोषः ।
सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्त्वान्तरम् ।

सांख्यतत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका, ३

सांख्यदर्शन के अनुसार मूलप्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राएँ एवं एकादश इन्द्रियाँ, तदनन्तर पञ्चतन्मात्राओं से पञ्च स्थूलभूत हैं। भागवद्गीता में भी ऐसा विवरण प्राप्त है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।

भगवद्गीता १३/५

इससे यह सिद्धान्तित होता है कि जो कुछ दिखलाई पड़ता है, वह सब प्रकृति का कार्य है। अर्थात् प्रकृति ही परिणाम को प्राप्त हुई है।

जीवात्मासहित जो चतुर्विध जीवों की उत्पत्ति होती है, वह प्रकृति और पुरुष के संयोग से होती है। इनमें जितने देह-शरीर हैं, वे सब प्रकृति का परिणाम हैं और उन सबमें जो चेतन है, वह परमेश्वर का अंश है। चेतनरूप बीज देने वाला पिता परमात्मा है। भगवान् कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।

भगवद्गीता १४/४

अर्थात् हे अर्जुन! नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूतियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते है, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भ को धारण करने वाली माता है और मैं बीज को स्थापित करने वाला पिता हूँ। भगवद्गीता में इस प्रकार समस्त प्राणियों की उत्पत्ति में प्रकृतिसहित पुरुष का कथन स्थान-स्थान पर मिलता है। कहीं परमेश्वर की अध्यक्षता से प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है, ऐसा कहा गया है—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।।

भगवद्गीता ९/१०

तो कहीं, मैं उत्पन्न करता हूँ ऐसे वचन मिलते हैं। यथा—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।।

भगवद्गीता ९/८

किन्तु सिद्धान्त एक ही है। इस परिशीलन से यह सिद्ध हो जाता है कि यह निखिल चराचर जगत् प्रकृति का परिणाम है। परमेश्वर अपरिणामी है, गुणों से अतीत है। इस संसार के परिणाम में परमेश्वर प्रकृति को सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करता है, सहायता करता है, परन्तु उसके परिणाम से परिणामी नहीं होता है। भगवद्गीता में बतलाया है कि अव्यक्त प्रकृति से परे जो एक सनातन अव्यक्त परमात्मा है, उसका कभी नाश नहीं होता अर्थात् वह परिणामरहित एकरस रहता है। यथा—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।।

भगवद्गीता ८/२०

इसलिये भगवद्गीता ने उसी का समझना यथार्थ बतलाया है जो सम्पूर्ण भूतों के नाश होने पर भी परमात्मा को अविनाशी एकरस समझता है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।

भगवद्गीता १३/२७

इससे सिद्ध होता है कि नित्य, शुद्ध, बोधस्वरूप परमात्मा में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता है। वस्तुतः परिवर्तनशील संसार का ही परिवर्तन होता है। इस प्रकार भगवद्गीता में परिणामवाद का समर्थन किया गया है।

इसके विपरीत भगवद्गीता में ऐसे श्लोक भी बहुत हैं जिनके आधार पर अद्वैतमत के अनुसार व्याख्या करने वाले विद्वान् मायावाद सिद्ध करते हैं। भगवान् ने कहा है—मेरी योगमाया का आश्चर्यजनक कार्य देख, जिससे विना ही हुआ जगत् मुझसे परिणाम को प्राप्त हुआ सा दीखता है—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।।

भगवद्गीता ९/५

अर्थात् वास्तविक रूप में संसार मुझ परमात्मा में है नहीं। पर दीखता है इस न्याय से है भी। अतः यह सब मेरी माया का विलास (क्रीडा) है। जैसे रज्जु में विना ही हुए सर्प दीखता है, वैसे ही विना ही हुए अज्ञान से संसार भी भासित होता है। आगे चलकर भगवान् ने जो यह कहा है—

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।।

भगवद्गीता ९/६

अर्थात् जैसे आकाश से उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरने वाला महान् वायु

सदा ही आकाश में स्थित है, वैसे ही मेरे सङ्कल्प द्वारा उत्पत्ति वाले होने से सम्पूर्ण भूत मुझ में स्थित हैं, ऐसा जानो।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आकाश से उत्पन्न होकर उसी में रहने वाले वायु के समान संसार भगवान् में है। यह दृष्टान्त केवल समझने के लिये है। सातवें अध्याय में भगवान् ने कहा है कि सात्त्विक-राजस-तामस-भाव मुझ से उत्पन्न होते हैं, परन्तु वास्तव में उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।।

भगवद्गीता ७/१२

मेरे अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।

भगवद्गीता ७/७ पूर्वार्द्ध

सब कुछ वासुदेव ही है—

वासुदेवः सर्वमिति ।

भगवद्गीता ७/१९ उत्तरार्द्ध

इस संसार वृक्ष का जैसा स्वरूप कहा है वैसा यहाँ उपलब्ध नहीं होता—**'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते'** आदि वचनों से मायावाद की पुष्टि होती है। (भगवद्गीता १५/३ पूर्वार्द्ध) एक परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जो कुछ प्रतीत होता है, वह केवल मायामात्र है।

इस तरह से दोनों प्रकार के वादों को न्यूनाधिक रूप से समर्थन करने वाले वचन भगवद्गीता में मिलते हैं। मेरी समझ में भगवद्गीता किसी वादविशेष का प्रतिपादन नहीं करती है। वह किसी वाद के मर्म को समझाने के लिये अवतरित नहीं हुई है। वह तो सब वादों का समन्वय करके ईश्वरप्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाती है। भगवद्गीता में दोनों ही वादों के मानने वालों के लिये पर्याप्त वचन मिलते हैं। इससे भगवद्गीता सभी के लिये उपयोगी है। अपने-अपने मत और अधिकार के अनुसार भगवद्गीता का अनुसरण कर भगवत्प्राप्ति के मार्ग पर आरूढ होना चहिए।

●

योगदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त : एक सिंहावलोकन

प्राचीनपारम्पर्यागत एक प्रसिद्ध पद्य है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में करणत्रयगत मलत्रयशोधक शास्त्रत्रय के विषय में उक्त आशय का एक पद्य प्रस्तुत किया है—

कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः ।
चिकित्सालक्षणाऽध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ।।

वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड

शरीरशोधक आयुर्वेदशास्त्र, वाक्शोधक व्याकरणशास्त्र तथा चित्तशोधक योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् पतञ्जलि ने मानवमात्र के कल्याणार्थ अविस्मरणीय कार्य किया। शरीर-वाक्-चित्त शुद्धि के उपजीव्य ग्रन्थों का निर्माण किया।

महर्षि पतञ्जलि का योगसूत्र योगविद्या का पथप्रदर्शक है। सूत्रात्मक शैली में उपनिबद्ध पतञ्जलि का योगदर्शन समाधि-साधन-विभूति-कैवल्य नाम से चार पादों में विभक्त है, जिसमें कुल १९५ सूत्र हैं।

सूत्र का लक्षण

शास्त्रों में सूत्र का लक्षण मिलता है—

स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभयमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।।

महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र में सूत्र का यह लक्षण पूर्णतया चरितार्थ होता है। योगदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों पर चर्चा करने से पूर्व विषय के आधार पर शास्त्रवर्गीकरण के द्वितीय पक्ष को भी देख लेना आवश्यक है। तदनुसार व्याकरणशास्त्र को शब्दशास्त्र, न्याय-वैशेषिक को प्रमाणशास्त्र, मीमांसा को वाक्यशास्त्र तथा सांख्य-योग को प्रमेयशास्त्र कहते हैं। सांख्य के

तत्त्व योग की प्रयोगशाला में परीक्षित हैं। सांख्य तत्त्वाधारित सिद्धान्तशास्त्र है, तो योग प्रयोगशास्त्र। सांख्य-योग को इसीलिये समानतन्त्र कहते हैं।

सूत्रों का वर्गीकरण

जिस प्रकार मनुष्य की जीवन-यात्रा धर्म और मोक्षरूप दो तटबन्धों के मध्य अर्थ और कामरूप दो भावधाराओं में प्रवाहित होती है उसी प्रकार **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** १/२ तथा **तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्** १/३ इन दो सूत्रों को आलम्बन बनाकर योग के अन्य सूत्र साधनापथ पर आरूढ साधक का मार्गदर्शन करते हैं। प्रदीपन्याय से साधक को आशा की किरण दिखाते हुए योग-दिशा की दशा का मूल्याङ्कन करते हैं।

प्रत्येक शास्त्र का एक बीज तत्त्व होता है। जैसे भगवद्गीता का बीजवाक्य है—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

भगवद्गीता २/११

यही है भगवद्गीता का बीज—कि हे अर्जुन! जिनके लिये शोक करना उचित नहीं है उन्हीं के लिये तुम शोक कर रहे हो, किन्तु पण्डित व्यक्तियों की तरह बातें कर रहे हो।

जैसे बीज में वृक्ष की समस्त शक्ति निहित रहती है, किन्तु उचित संरक्षण से बीज अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित होता है। वैसे शास्त्र का बीज सूत्र विषयविस्तार को प्राप्त होता है। योगशास्त्र की स्थिति अधोलिखित है—

बीजसूत्र—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः १/२

शक्तिसूत्र—यथाऽभिमतध्यानाद्वा १/३९

कीलक—पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ४/३४

विनियोगसूत्र—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध-योऽष्टावङ्गानि २/२९

अभिप्राय यह है कि बीजसूत्र में प्रयुक्त योग, चित्त, वृत्ति और निरोध ये चार पद पतञ्जलि के योगसूत्रात्मक वृक्ष के शाखाचतुष्टय हैं। इन चार पदों के व्याख्यान से सम्पूर्ण शास्त्र आलोकित हो जाता है। साधना में साधक की

अभिमतता को इंगित करने वाले **यथाऽभिमतध्यानाद्वा** सूत्र को शक्तिसूत्र मान सकते हैं। चक्की के कीलक की भाँति साधना में कीलक = निश्चित उद्देश्य का प्रतिपादक सूत्र **पुरुषार्थशून्यानां... चितिशक्तिरिति** है और विनियोगसूत्र है—अष्टाङ्गयोग का प्रतिपादक सूत्र। वृत्तिनिरोध की यात्रा यम, नियमादि के अनुपालन से पूर्णता को प्राप्त होती है। अष्टाङ्गयोग योगवारिधि का ऐसा मन्थनदण्ड है, जिससे स्वरूपप्रतिष्ठात्मक मोक्षामृत निःसृत होता है। परिणामतः साधक की जन्म-जन्मान्तरीय योगसाधना की यात्रा पूर्ण हो जाती है।

योग का लक्षण

तो आइये, **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** इस बीजसूत्र को आधार बनाकर विषय का पल्लवन किया जाय।

इस सूत्र में **'योगः'** यह लक्ष्यपद है तथा **'चित्तवृत्तिनिरोधः'** यह लक्षणपद है। अभिप्राय यह है कि लक्ष्यभूत 'योगः' को चित्तवृत्तिनिरोधः पद से लक्षित किया जा रहा है। योग के लक्षणपद की निर्दुष्टता प्रतिपादित करने के लिये योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव एवं व्यासभाष्य के टीकाकार वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु एवं नागेशभट्ट ने योग के इस लक्षण के परिष्कार पर बल दिया है।

योगलक्षण का परिष्कार

१. अव्याप्तिदोष का निवारण ।

२. अतिव्याप्तिदोष का निराकरण ।

'चित्तवृत्तिनिरोधः' को यदि योग का लक्षण कहा जाय तो अलक्ष्यभूत क्षिप्तादि भूमियों में होने वाले चित्त के यत्किंचिद् वृत्तिनिरोध को भी योग कहना पड़ेगा जब कि यह वाञ्छित नहीं है, एतावता योग के 'चित्तवृत्तिनिरोधः' लक्षण में अतिव्याप्तिदोष प्रसक्त होता है।

उक्त अतिव्याप्तिदोष के निराकरण के लिये, जिससे योग का लक्षण अलक्ष्यभूत क्षिप्तादि में घटित न हो सके, यदि **'सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः'** को योग का लक्षण कहा जाय तो अतिव्याप्तिदोष निराकृत होते ही वह अव्याप्तिदोष से युक्त हो जायेगा। सम्पूर्ण लक्ष्य में लक्षण का घटित न होना अव्याप्तिदोष है। 'सम्प्रज्ञात' योग का लक्ष्यभूत स्थल है। किन्तु सम्प्रज्ञात में

ध्येयाकाराकारिता वृत्ति की विद्यमानता रहने से उसमें सर्ववृत्तिनिरोध की स्थिति नहीं बन सकेगी।

योग के प्रकृत लक्षण में अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोष की सम्भावित स्थिति का निराकरण के लिये व्यासभाष्य के टीकाकार वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु एवं नागेशभट्ट को योग का परिष्कृत लक्षण करने की आवश्यकता अनुभूत हुई। योग का परिष्कृत लक्षण करने में तीनों टीकाकारों का अपना-अपना योगदान है। तीनों पक्ष स्तुत्य एवं निर्भ्रान्त हैं—

१. **क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थित्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधत्वं योगत्वम्**—
वाचस्पतिमिश्र।

२. **द्रष्टृस्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योगः**—
विज्ञानभिक्षु।

३. **प्रलयकालीनस्य समग्रसुषुप्तिकालस्य च निरोधस्य व्यावृत्तय आत्यन्तिकेति। एतावता द्रष्टुरात्यन्तिकस्वरूपावस्थितिहेतुचित्तवृत्तिनिरोधत्वस्यैव लक्षणत्वात्**—
नागेशभट्ट

वाचस्पतिमिश्र के अनुसार क्षिप्तादि तीन भूमियों में होने वाले यत्किंचित् चित्तवृत्तिनिरोध में योग का परिष्कृत लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है, क्योंकि क्षिप्तादिभूमिक वृत्तिनिरोध क्लेशादि का परिपन्थी अर्थात् विरोधी नहीं है, अपितु क्लेशादि का पोषक है। जब कि एकाग्र और निरुद्धभूमिक चित्त का वृत्तिनिरोध क्लेशादि का परिपन्थी है। इस प्रकार 'क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थित्व' इस विशेषण पद के समावेश से योग का निर्दुष्ट लक्षण किया जा सकता है।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार वही चित्तवृत्तिनिरोध योगलक्षण की परिधि में आता है, जिसमें 'द्रष्टृस्वरूपावस्थितिहेतुत्व' रहे। क्षिप्तादि तीन भूमियों से भिन्न एकाग्र और निरुद्धभूमिक चित्त में निष्पादित वृत्तिनिरोध में ही 'द्रष्टृस्वरूपावस्थिति' की हेतुता है। अतः इसे योग का निर्दुष्ट लक्षण कहा जा सकता है।

नागेशभट्ट के अनुसार विज्ञानभिक्षुकृत योग के परिष्कृत लक्षण में 'आत्यन्तिक' पद का समावेश कर योग के लक्षण को प्रलय एवं समग्र सुषुप्ति में अतिव्याप्त होने से बचाना चाहिये। क्योंकि प्रलय और समग्र-

सुषुप्ति अवस्था में चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध तो होता है किन्तु यह सार्वकालिक (आत्यन्तिक) सर्वचित्तवृत्तिनिरोध नहीं है। अत: योग के परिष्कृत लक्षण में 'आत्यन्तिक' पद का समावेश अपरिहार्य है। किंवा नागेशभट्ट ने वाचस्पति मिश्र के योग के परिष्कृत लक्षण का भी समर्थन किया है। एतावता पतञ्जलि के योगसूत्र का अध्ययन करने के लिये टीकाग्रन्थों का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है।

योग का स्वरूप

चित्तवृत्तिनिरोध की प्रक्रिया से सम्पादित योग दो प्रकार का है—

१. सम्प्रज्ञातयोग ।

२. असम्प्रज्ञातयोग ।

सम्प्रज्ञातयोग

दर्पण में दर्शक को अपनी मुखाकृति भली-भाँति दिखलाई पड़े, इसके लिये दर्पण की स्वच्छता अपरिहार्य है। इसी प्रकार योगदर्शनसम्मत पदार्थों के अपरोक्षज्ञान के लिये चित्त को क्षिप्तादि भूमियों से ऊपर उठाकर एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठित करना आवश्यक रहता है। चित्त और चित्तभूमि का स्वरूप आगे प्रतिपादित किया जायेगा।

चित्त की एकाग्रावस्था में सम्प्रज्ञातयोग साधित होता है। चूँकि सम्प्रज्ञात विषयसाक्षात्कार की अवस्था है। अत: धनुर्विद्या के अभ्यासी की भाँति, सम्प्रज्ञातयोग में विषयसाक्षात्कार का क्रम स्थूल से सूक्ष्म ध्येय की ओर अभिमुख होता है। सम्प्रज्ञात का अभ्यासी सर्वप्रथम पाञ्चभौतिक स्थूल ध्येय का साक्षात्कार करता है, तदनन्तर सूक्ष्म ध्येय का। वाचस्पतिमिश्र ने लिखा है—

यथा हि प्राथमिको धानुष्कः स्थूलमेव लक्ष्यं विध्यत्यथ सूक्ष्मम् ।

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १/१७

सम्प्रज्ञातयोग के चार भेद हैं। योगसूत्र है—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ।

योगसूत्र १/१७

१. वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातयोग—इसमें स्थूलपदार्थविषयक प्रज्ञा (समापत्ति) होती है।

२. **विचारानुगतसम्प्रज्ञातयोग**—इसमें सूक्ष्मपदार्थविषयक प्रज्ञा (समापत्ति) होती है।

३. **आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातयोग**—वाचस्पति मिश्र के अनुसार सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न सत्त्वगुणप्रधान इन्द्रियाँ आनन्दानुगतयोग का विषय हैं।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार ह्लाद (स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों के साक्षात्कार से जन्य उल्लास) आनन्दानुगतयोग का विषय है।

४. **अस्मितानुगतयोग**—वाचस्पतिमिश्र के अनुसार इस अवस्था में साधक को इन्द्रियों का कारणभूत अहङ्कार ग्रहीतृपुरुष के साथ एकीकृत हुआ प्रतिभासित होता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार अस्मितानुगतयोग शुद्ध आत्मविषयक है।

समापत्तित्रय—सम्प्रज्ञातयोग के चार भेद तीन समापत्तियों में वर्गीकृत हैं—

ग्राह्यसमापत्ति में वितर्क और विचारानुगतयोग है। **ग्रहणसमापत्ति** में आनन्दानुगतयोग है तथा **ग्रहीतृसमापत्ति** में अस्मितानुगतयोग है। समापत्तित्रय का प्रतिपादक सूत्र है—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।

योगसूत्र १/४१

सम्प्रज्ञातयोग की किस अवस्था में किस विषय का साक्षात्कार होता है, इसमें योगी का अनुभव प्रमाण है। चित्तैकाग्रभूमिक सम्प्रज्ञात विषयवृत्ति बीज से संवलित होने से 'सबीजयोग' कहलाता है और निरुद्धभूमिक असम्प्रज्ञात विषयात्मक वृत्तिबीज से रहित होने के कारण 'निर्बीजयोग' कहलाता है।

असम्प्रज्ञातयोग

असम्प्रज्ञातयोग का प्रतिपादक सूत्र है—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वो संस्कारशेषोऽन्यः ।

योगसूत्र १/१८

अभिप्राय यह है कि सम्प्रज्ञातयोग में एकाग्रभूमिक चित्त ध्येयाकारा वृत्ति से युक्त रहता है, किन्तु असम्प्रज्ञातयोग में ध्येयाकारावृत्ति भी निरुद्ध हो

जाती है और निर्वृत्तिक चित्त संस्कारशेष अवस्था में रहता है। निरुद्धभूमिक चित्त में व्युत्थानसंस्कार और निरोधसंस्कारों का ही आविर्भाव-तिरोभावरूप व्यापार चक्र चलता है। इन्धन के भस्मीभूत होने पर अग्नि जिस प्रकार स्वत: शान्त हो जाती है उसी प्रकार चरिताधिकार चित्त निरोधात्मक संस्कार के सहित अपने मूलकारण प्रकृति में स्वत: लीन हो जाता है। प्रकृति में प्रज्ञापूर्वक लीन हुए निरोधसंस्कारविशिष्ट चित्त का पुनरुद्भव सम्भव नहीं होता है, क्योंकि चित्त के पुनरुत्थान की कारणभूता अविद्या प्रसंख्याग्नि से पूर्णतया दग्ध हो जाती है।

साधनाक्रम की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रज्ञातयोग को असम्प्रज्ञातयोग का साधन मान लिया जाय। किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। सबीजयोग में विजातीय निर्बीजयोग की साधनता नहीं है। निर्वस्तुक परवैराग्य ही असम्प्रज्ञातयोग का साधन है।

असम्प्रज्ञातयोग के भेद

असम्प्रज्ञातयोग के दो भेद हैं—

१. भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात ।

२. उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञात ।

इनमें से भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात मुमुक्षुओं के लिये अनुपादेय है, क्योंकि वह अविद्यामूलक सर्ववृत्तिनिरोध की अवस्था है, जब कि प्रज्ञामूलक उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञात उपादेय (ग्राह्य) है।

भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात

विदेह एवं प्रकृतिलीन साधकों अर्थात् अनात्मभूत पदार्थ में आत्मभाव करने वालों के लिये भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात कहा गया है। पतञ्जलि का सूत्र है—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ।

योगसूत्र १/१९

'भवन्ति जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति भवोऽविद्या'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'भव' शब्द का अर्थ अविद्या है। कुछ टीकाकार 'भव' शब्द का अर्थ अविद्यामूलक 'संसार' करते हैं। अभिप्राय यह है कि किसी एक ध्येय पदार्थ

का निरन्तन चिन्तन करने से निरुद्धभूमिक चित्त संस्कारशेष अवस्था को प्राप्त हो जाता है। किन्तु चित्त की यह सर्ववृत्तिनिरोधकालिक अवस्था, विवेकज्ञानमूलक न होने से, आविद्यक संस्कारशेष अवस्था है। अतः कुछ समय तक कैवल्यसम अवस्था का अनुभव करने वाले इन साधकों का अचरितार्थ चित्त उद्‌बुद्ध आविद्यक संस्कार से पुनः संसार में प्रवेश करता है। भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञातवान् साधकों की तुलना मण्डूकदेह से करते हुए वाचस्पतिमिश्र लिखते हैं—

यथा वर्षातिपाते मृद्‌भावमुपगतो मण्डूकदेहः पुनरम्भोदवारिधाराऽवसेकात् मण्डूकदेहभावमनुभवति ।

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १/१९

उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञात

शास्त्रसम्मत ज्ञानप्रक्रिया से निरुद्धभूमिक चित्त को प्राप्त होने वाला सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात उपायप्रत्ययक कहा गया है। सूत्र है—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।

योगसूत्र १/२०

चित्त का स्वरूप और उसकी अवस्थाएँ

चित्त शब्द से कौन तत्त्व गृहीत ?

सांख्ययोग को समानतन्त्र कहते हैं। दोनों दर्शनों की सृष्टिप्रक्रिया में समानता है। सांख्यकारिका का वचन है—

प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ।।

सांख्यकारिका २२

योगसूत्र है—

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि ।

योगसूत्र २/१९

इन दो उद्धरणों से 'चित्त' शब्द प्रकृति के आद्य परिणाम बुद्धि का सामान्यतया वाचक है। सांख्य के बुद्धितत्त्व एवं योग के चित्ततत्त्व की

एकतत्त्वात्मकता सिद्ध होती है। सांख्य-योग-दर्शन का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-विधान बुद्धि-पुरुष में उपचरित होता है। इससे योगसूत्रगत चित्तशब्द बुद्धि का उपलक्षक है। ज्ञातव्य है कि योगसूत्र में कहीं-कहीं 'चित्त' के अर्थ में 'मन' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। पतञ्जलि का सूत्र है—

धारणासु च योग्यता मनसः ।

योगसूत्र २/५३

प्रकृति का आद्य परिणाम 'बुद्धि' योगशास्त्र का 'चित्त' तत्त्व है। त्रयोदश करणों (बुद्धि-अहंकार-मन-पञ्चज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकर्मेन्द्रिय) में प्रधानतम करण बुद्धि = चित्त को लेकर योगसाधना का मार्ग प्रशस्त है।

प्रकृति का प्रथम कार्य 'चित्त' सत्त्वगुणप्रधान है। किन्तु कोई भी गुण एकाकी नहीं है। अतः चित्त की त्रिगुणात्मकता को इङ्गित करते हुए बलदेव मिश्र ने लिखा है—

चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम् ।

योगप्रदीपिका, योगसूत्र १/२

चित्त की अवस्थाएँ अथवा भूमियाँ

चित्त के स्वरूप को मूल्याङ्कित करने के लिये व्यासदेव ने चित्त की पाँच भूमियाँ बतलाई हैं—

क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/२

'भूमि' शब्द का अर्थ 'अवस्था' करते हुए नागेशभट्ट ने लिखा है—

क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमपि पञ्च चित्तस्याऽवस्थाः ।

नागेशभट्टयोगसूत्रवृत्ति, योगसूत्र १/२

'चित्तस्याऽवस्थाः' कहने से चित्त और उसकी अवस्था (भूमि) में भेद प्रतीत होता है। किन्तु सांख्ययोगदर्शन में धर्म-धर्मी में अभेद विवक्षित होने से भूमिरूप धर्म चित्तरूप धर्मी से भिन्न नहीं अपितु अभिन्न है। योगसूत्र है—

शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ।

योगसूत्र ३/१४

'चित्त' धर्मी शान्त-उदित-अव्यपदेश्य धर्म से अन्वित होता है। क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध ये पाँच चित्तभूमियाँ हैं।

क्षिप्तभूमि

यह चित्त की रजोगुणप्रधान अवस्था है। चित्त एक स्थल पर स्थिर नहीं रहता है। बलदेवमिश्र का वचन है—

तत्र सदैव रजसा तेषु तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमत्यन्तमस्थिरं क्षिप्तम् ।

योगप्रदीपिका, योगसूत्र १/२

मूढभूमि

यह चित्त की तमोगुणप्रधान अवस्था है। चित्त की इस अवस्था में आलस्य, दीनता, भय, निद्रा, मोह आदि बना रहता है। योगप्रदीपिका में बलदेवमिश्र ने लिखा है—

तमःसमुद्रेकान्निद्रादिवृत्तिमन्मूढम् ।

योगप्रदीपिका, योगसूत्र १/२

विक्षिप्तभूमि

विक्षिप्त अवस्था में रजोगुणप्रधान चित्त कभी-कभी सत्त्वगुण के उद्रेक से किसी एक ध्येय तत्त्व में किञ्चित् काल के लिये स्थिरता को प्राप्त करता है। किन्तु अस्थिरता विक्षिप्त भूमि का स्वाभाविक धर्म है। योगप्रदीपिका में कहा है—

विक्षिप्तं क्षिप्तादिविशिष्टं विशेषोऽस्थैर्यबहुलस्य कादाचित्कं स्थैर्यम् अस्थैर्यं च स्वाभाविकम् ।

योगप्रदीपिका, योगसूत्र १/२

एकाग्रभूमि

एकाग्रता का अर्थ है—चित्त की किसी एक ध्येय तत्त्व के विषय में स्थिरता (निरन्तरता = एकतानता)। योगप्रदीपिका में कहा है—

एकाग्रमेकतानम् ।

योगप्रदीपिका, योगसूत्र १/२

चित्त समस्त विषयों से अपने को पराङ्मुख कर केवल ध्येय का चिन्तन करता है। नागेशभट्ट ने लिखा है—

एकाग्रत्वं ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः ।

नागेशभट्टयोगसूत्रवृत्ति, योगसूत्र १/२

चित्त की एकाग्रभूमि में सम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है। अतः चित्त की एकाग्रभूमि को योगोपयोगी कहा गया है। प्रथम तीन चित्तभूमियाँ योगोपयोगी नहीं हैं।

निरुद्धभूमि

एकाग्रभूमि की तरह चित्त की निरुद्धभूमि भी योगोपयोगी है। निरुद्ध चित्त की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। यह चित्त की वृत्त्यात्मक नहीं, अपितु वृत्तिशून्य अवस्था है, जिसमें चित्त संस्कारशेषावस्थाक होता है। नागेशभट्ट का वक्तव्य है—

निरुद्धं निरुद्धसकलवृत्तिसंस्कारमात्रशेषम् ।
अत्र सर्ववृत्तिनिरोधेऽसंप्रज्ञातः ।

नागेशभट्टयोगसूत्रवृत्ति, योगसूत्र १/२

चित्त की निरुद्धभूमि में असम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है।

चित्तवृत्तियाँ

योगसूत्र १/२ का तृतीय पद 'वृत्ति' है। 'वृत्ति' चित्त का परिणाम है। जिस प्रकार चित्त अर्थात् बुद्धि का तत्त्वान्तरपरिणाम होता है, उसी प्रकार चित्त का वृत्त्यात्मकपरिणाम भी होता है। यहाँ 'वृत्ति' शब्द से चित्त का ज्ञानात्मकपरिणाम विवक्षित है। प्रमा तथा अप्रमा भेद से ज्ञान दो प्रकार का है। इसी प्रकार क्लिष्टता तथा अक्लिष्टता से भी यह दो प्रकार है। चित्तवृत्तियाँ पाँच हैं—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।

योगसूत्र १/५

प्रमाणवृत्ति

सांख्ययोगशास्त्र को तीन प्रमाण मान्य हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम। **'प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा प्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रमाण कहते हैं और तज्जन्य ज्ञान को प्रमा।

परिणामवादी सांख्ययोगदर्शन के अनुसार चित्त का विषयाकार परिणाम ज्ञानप्रक्रिया का प्रमुख आधार है। इस सिद्धान्त को स्पष्टता प्रदान करते हुए विज्ञानभिक्षु ने लिखा है—

इन्द्रियाण्येव नाडी, चित्तसंचरणमार्गः तैः संयुज्य... चित्तस्येन्द्रियसाहित्येन एवार्थाकारः परिणामो भवति ।

योगवार्त्तिक, योगसूत्र १/७

जिस प्रकार सरोवर का जल कुल्या (नाली) के माध्यम से खेत में प्रविष्ट होकर क्यारियों के आकार (त्रिकोणाकार गोलाकार) को धारण करता है, उसी प्रकार सत्त्वगुणप्रधान तेजोमय चित्त जल की भाँति, इन्द्रियरूप छिद्र के द्वारा बाहर निकलकर विषयदेशपर्यन्त पहुँचता है और उसके आकार से आकारित हो जाता है। विषय के आकार में चित्त का परिणाम होना ही चित्त की वृत्ति है। न्यायदर्शन में जिसे इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कहते हैं, योगदर्शन में उसे बाह्यवस्तूपराग।

वस्तु के सामान्य और विशेष दो रूप होते हैं। प्रत्यक्षवृत्ति वस्तु के विशेषरूप का प्रधानतया निश्चय करती है और अनुमानवृत्ति सामान्यरूप का। यही प्रत्यक्षवृत्ति और अनुमानवृत्ति में अन्तर है—

विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणम् ।

सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम् ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/९

व्यासदेव द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्षवृत्ति के लक्षण का अनुशीलन करने से योगसमस्त ज्ञानप्रक्रिया, वस्तुस्वरूपावधारण एवं प्रत्यक्षवृत्ति का परिचय सहज प्राप्त हो जाता है—

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्य-विशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/७

विपर्ययवृत्ति

विपर्ययवृत्ति का प्रतिपादक सूत्र है—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ।

योगसूत्र १/८

तद्रूप में अप्रतिष्ठ मिथ्याज्ञान को विपर्ययवृत्ति कहते हैं। जैसे शुक्ति में शुक्तित्वरूप से अप्रतिष्ठ रजतविषयकज्ञान विपर्यय कहलाता है। शुक्ति में होने वाला **'इदं रजतम्'** विपर्ययज्ञान उत्तरवर्ती यथार्थज्ञान **'नेदं रजतम्'** से बाधित (खण्डित) हो जाता है। अत: 'अतद्रूपप्रतिष्ठ' में 'नञ्' प्रसज्यप्रतिषेधार्थक है, न कि पर्युदासार्थक। 'नञ्' को पर्युदासार्थक मानने पर 'इदं रजतम्' इत्याकारक भ्रमज्ञान का उत्तरवर्ती 'नेदं रजतम्' ज्ञान से बाध न हो सकेगा।

विकल्पवृत्ति

विकल्पवृत्ति का प्रतिपादक सूत्र है—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।

योगसूत्र १/९

शब्दों के श्रवणमात्र अर्थात् शब्दज्ञान से अलीक अर्थात् वस्तुशून्यात्मक पदार्थविषयक जो चित्तवृत्ति होती है, उसे विकल्पवृत्ति कहते हैं। सूत्र में 'वस्तुशून्य' शब्द से अलीक वस्तु का ग्रहण होता है, जैसे खरगोश के सींग आदि।

विपर्यय और विकल्प दोनों वृत्तियाँ अप्रमात्मक हैं किन्तु दोनों वृत्तियों में एक महान् अन्तर यह है—

विपर्ययवृत्ति उत्तरवर्ती यथार्थवृत्ति से बाधित हो जाती है और उसमें असद्रूप वस्तु 'सत्' होती है। जगत् में शुक्ति के साथ-साथ रजत की भी सत्ता रहती है। किन्तु विकल्पवृत्ति उत्तरवर्ती यथार्थज्ञान से बाधित नहीं होती है और उसमें विकल्पवृत्ति का विषय सर्वथा अलीक होता है। जगत् में शशशृङ्ग, वन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम आदि असद्रूप हैं। ऐसा ज्ञान होने पर भी 'शशशृङ्ग' इत्याकारक शब्दज्ञान का अनुसरण होते ही विकल्पवृत्ति का उदय अवश्यंभावी है।

निद्रावृत्ति

निद्रावृत्ति का प्रतिपादक सूत्र है—

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।

योगसूत्र १/१०

जाग्रत् और स्वप्नवृत्तियों के अभाव के कारणभूत तमोगुण को विषय बनाने वाली निद्रावृत्ति है। सूत्र में प्रयुक्त 'अभाव' शब्द का अर्थ है— तमोबहुल अज्ञान। निद्रावृत्ति प्रमाणादि वृत्तियों के निरोध के हेतुभूत अज्ञान को विषय बनाती है। वाचस्पति मिश्र ने निद्रावृत्ति को व्याख्यायित करते हुए लिखा है—

जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामभावस्तस्य प्रत्ययः = कारणं बुद्धिसत्त्वाऽऽच्छादकं तमस्तदेवालम्बनं = विषयो यस्याः सा तथोक्ता वृत्तिर्निद्रा ।

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १/१०

सुषुप्तिकालिक निद्रावृत्ति का अनुमान जागरितकालिक स्मृतिवृत्ति से होता है। प्रात:काल उठने पर अनुभव कुछ इस प्रकार होता है—

सुखमहमस्वाप्सम्, दुःखमहमस्वाप्सम्, गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम् ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/१०

ज्ञातव्य है कि नैयायिक ज्ञानसामान्याभाव अवस्था को सुषुप्ति मानते हैं। उनका कहना है कि त्वङ्मन:संयोग ज्ञानसामा य के प्रति कारण है। सुषुप्ति में मन पुरीतत् नाम की नाडी में प्रवेश कर जाता है। अत: त्वङ्मन:संयोग न होने से सुषुप्ति ज्ञानसामान्याभाव की अवस्था है। जब कि योगदर्शन में निद्रावृत्ति को सप्रमाण 'वृत्ति' सिद्ध किया गया है।

स्मृतिवृत्ति

स्मृतिवृत्ति का प्रतिपादक सूत्र है—

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ।

योगसूत्र १/११

प्रमाणादि वृत्तियों के अनुभवजन्य संस्कारों से जो चित्तवृत्ति होती है, उसे स्मृतिवृत्ति कहते हैं। 'असम्प्रमोष' शब्द का अर्थ है—

न तु तदधिकविषया ।

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १/११

इसी को दार्शनिक शब्दावली में कहेंगे—अनुभूतविषयातिरिक्तविषया-ग्रहण। प्रत्यभिज्ञा में स्मृतिवृत्ति का लक्षण अतिव्याप्त न हो सके तदर्थ व्यवस्था करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि स्मृतिलक्षण में 'संस्कारमात्रजन्यत्व' इस विशेषण पद का सन्निवेश करना चाहिए—

सूत्रोक्तमेव लक्षणं तच्च संस्कारमात्रजन्यत्वेन विशेषणीयम् ।

योगवार्त्तिक, योगसूत्र १/११

विज्ञानभिक्षु की यह युक्ति उनके शिष्य भावागणेश द्वारा भी समर्थित है—

अत्र प्रत्यभिज्ञाव्यावृत्तये संस्कारमात्रजन्यत्वं विवक्षणीयम् ।।

भावागणेशयोगसूत्रवृत्ति, योगसूत्र १/११

निरोध

'योग' के लक्षणपरक सूत्र का तृतीय पद है—निरोध। यहाँ 'निरोध' शब्द का अर्थ वृत्तियों का अभाव अर्थात् नाश नहीं है, प्रत्युत वृत्तियों का अपने अधिकरण में लीन (अतीतलक्षणपरिणाम को प्राप्त) होना है। वृत्तिनिरोध भी चित्त की एक अवस्था है। विज्ञानभिक्षु ने स्पष्टत: लिखा है—

वृत्तयस्तासां निरोधस्तासां लयाख्योऽधिकरणस्यैवावस्थाविशेषः ।
अभावस्यास्मन्मतेऽधिकरणावस्थाविशेषरूपत्वात् ।

योगवार्त्तिक, योगसूत्र १/११

चित्तवृत्तिनिरोधोपाय

चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहा गया है, यह जानने के पश्चात् जिज्ञासा होती है कि किस उपाय = साधन से चित्तवृत्ति का निरोध किया जाय?

महर्षि पतञ्जलि ने मानवस्वभाव के अनुसार योग साधकों की तीन श्रेणियाँ की हैं और उनकी क्षमता के अनुरूप चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय भी बतलाये हैं। ऋषि-चिन्तन किसी एक वर्गविशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। वह तो मानवमात्र के लिये सार्वभौमिक एवं सार्वदेशिक सिद्धान्तों की स्थापना करता है। महर्षि पतञ्जलि की यह भावना योगसूत्र में स्थल-स्थल पर दिखलाई पड़ती है। अत: उन्होंने कई पादों में चित्तवृत्तिनिरोध के उपायों की चर्चा की है। योगसूत्र के टीकाकारों ने पतञ्जलि के हृद्गत भाव को समझकर चित्तवृत्तिनिरोध के उपायों में समन्वय स्थापित किया है।

योगसारसंग्रह में विज्ञानभिक्षु ने योग के अधिकारियों को वर्गीकृत किया है—

तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगाधिकारिणो
भवन्त्यारुरुक्षुयुञ्जानयोगारूढरूपाः ।

योगसारसंग्रह, अंश २

उत्तमाधिकारी : 'योगारूढ' के लिये अभ्यास-वैराग्य

उत्तम साधक वे हैं, जिन्होंने पूर्व जन्मों में कृत योगाभ्यास से यमादि पाँच बहिरङ्ग साधनों को विजित कर लिया है। यमनियमादिनिष्ठ ऐसे उत्तम साधकों को वर्तमानजीवन में यमादि का पुनः अभ्यास नहीं करना पड़ता है। उत्तम साधकों में जडभरतादि परमहंस संन्यासी आते हैं। इनके लिये चित्तवृत्तिनिरोधोपाय को इस प्रकार व्यवस्थित किया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

योगसूत्र १/१२

चित्त को नदी से उपमित करते हुए व्यासदेव ने अत्यन्त सुन्दर पद्धति से अभ्यास-वैराग्य दोनों की समानान्तर उपयोगिता वर्णित की है—

चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च ।
या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा ।
या तु संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना सा पापवहा ।
तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते ।
विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते ।
इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/१२

अभिप्राय यह है कि विवेकज्ञानपरायण चित्त कैवल्याभिमुखी होता है और अविवेकविषयपरायण चित्त संसाराभिमुखी होता है। योग का साधक पुरुष 'वैराग्य' के द्वारा विषयासक्ति (विषयप्रवणता) को शिथिल करता है और 'अभ्यास' के द्वारा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिपुरस्सर विवेकस्रोत को उद्घाटित करता है।

अभ्यास का स्वरूप

राजसवृत्ति तथा तामसवृत्तिरहित चित्त की सात्त्विक एकाग्रता के निमित्त जो 'यत्न' किया जाता है, उसे अभ्यास कहते हैं। पतञ्जलि का सूत्र है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।

योगसूत्र १/१३

यह अभ्यास दृढभूमिता को तभी प्राप्त होता है जब वह आदरपूर्वक निरन्तरता के साथ दीर्घकाल तक आसेवित होता है। सूत्र है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।

योगसूत्र १/१४

मानवजीवन की सफलता अभ्यास के इसी त्रिकोणात्मक चरणों में ध्रुवीकृत है।

वैराग्य का स्वरूप

मोक्षमार्ग के बाधक विषयों के प्रति अनासक्तिभाव जागरित करना वैराग्य है। यह वैराग्य दो प्रकार का है—अपरवैराग्य तथा परवैराग्य।

१. विषयविषयकवैराग्य को अपरवैराग्य कहते हैं। इसके चार चरण हैं—यतमान, व्यतिरेक एकेन्द्रिय एवं वशीकार। प्रथम तीन सोपानों के विजित होने पर ही उत्तम साधक 'वशीकार' संज्ञक वैराग्य में प्रतिष्ठित होता है। सूत्र है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञावैराग्यम् ।

योगसूत्र १/५

२. दृष्ट और आनुश्रविक विषयों के प्रति वशीकारसंज्ञक वैराग्य जागरित होने पर साधक के चित्त में विवेकज्ञान के पराकाष्ठकाल में ज्ञानमात्र के प्रति; वृत्तित्वेन बाधास्वरूप होने से, हेयत्वबुद्धि जागरित होती है। यह वैराग्य की चरमावस्था है। अतः इसे परवैराग्य कहते हैं। सूत्र है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।

योगसूत्र १/१६

इस प्रकार अभ्यास-वैराग्य की साधनारूपी यात्रा में साधक सम्प्रज्ञात योग और असम्प्रज्ञातयोग को प्राप्त करता हुआ अन्ततोगत्वा 'स्वप्रतिष्ठित' होकर यात्रा को पूर्णविराम लगाता है। सूत्र है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

योगसूत्र १/३

मध्यमाधिकारी : 'युञ्जान' के लिये क्रियायोग

मध्यम साधक वे वानप्रस्थीजन हैं, जो वर्तमान जन्म में योगसाधना में रत रहते हैं, उनके लिये क्रियायोग का उपाय उपदिष्ट है। पतञ्जलि का सूत्र है—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।

योगसूत्र २/१

क्रियायोग के अन्तर्गत तीन तत्त्व हैं—तपस्, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान। **'क्रियैव योगः क्रियायोगः योगसाधनत्वात्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार कार्यकारण में अभेद होने से योग की साधनभूता तपादि क्रियाओं को 'क्रियायोग' कहा गया है।

ज्ञातव्य है कि चित्तवृत्तिनिरोध के सर्वाङ्गपूर्ण उपाय 'अष्टाङ्गयोग' में क्रियायोग का समावेश हुआ है। अतः इनका स्वरूप आगे द्रष्टव्य है।

मन्दाधिकारी : 'आरुरुक्षु' के लिये अष्टाङ्गयोग

अत्यन्त चंचल स्वभाव के गृहस्थाश्रमियों के चित्तवृत्तिनिरोध का उपाय अष्टाङ्गयोग कहा गया है। क्योंकि विषयवासनाओं से जर्जर उनका चित्त अभ्यास-वैराग्य अथवा क्रियायोग जैसे दुःसाध्य उपायों से चित्तवृत्तिनिरोध की यात्रा सहज प्रारम्भ करने में अक्षम रहता है। सूत्र है—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।

योगसूत्र २/२९

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये आठ अङ्ग हैं। इनके सूत्र हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

योगसूत्र १/३०

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

योगसूत्र १/३२

स्थिरसुखमासनम् ।

योगसूत्र १/४६

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।

योगसूत्र १/४९

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।

योगसूत्र १/५४

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।

योगसूत्र २/१

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

योगसूत्र २/२

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

योगसूत्र २/३

अष्टाङ्गयोग के प्रथम पाँच यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार भेदों को 'बहिरङ्गसाधन' तथा अन्तिम तीन धारणा, ध्यान तथा समाधि भेदों को 'अन्तरङ्गसाधन' कहते हैं। धारणादि तीन साधनों का सामूहिक नाम 'संयम' है।

यम-नियम के अनुशीलन से चित्तगत भावपरिशुद्धि होती है और रागद्वेषादि कषाय भस्मीभूत होते हैं। इस प्रकार यम-नियम से शुद्धभावस्थैर्य, आसन से कायस्थैर्य, प्राणायाम से प्राणस्थैर्य, प्रत्याहार से इन्द्रियस्थैर्य तथा संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) से ध्येयातिरिक्तचित्तवृत्तिनिरोधपूर्वक चित्तस्थैर्य किया जाता है। चित्तवृत्तिनिरोधोपाय में धारणादि साधनत्रय चित्त के अधिक समीप होते हैं अतः इन्हें 'अन्तरङ्गसाधन' और यमादि को 'बहिरङ्गसाधन' कहते हैं।

बहिरङ्गसाधन की अपरिहार्यता

चित्तवृत्तिनिरोध के उपायप्रकरण में यम-नियम की प्रतिष्ठितता अत्यन्त अपरिहार्य है, उनके अनुपालन में उपेक्षा नहीं की जा सकती है। चित्तगतभाव की परिशुद्धि के विना आसनादि की उत्तरोत्तर साधना वञ्चनामात्र है। यम और नियम योगरूप प्रासाद के सुदृढ स्तम्भ हैं। योगरूप बीज की अंकुरोत्पत्ति में ये उर्वरकस्वरूप हैं। अतः यम-नियम के महत्त्व को कम नहीं समझना चाहिए। अन्यथा महर्षि पतञ्जलि द्वारा उपदिष्ट योगविज्ञान 'योगाभास' मात्र रह जायेगा।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (१/२) सूत्र के लक्ष्यपद 'योग' तथा लक्षणपद 'चित्तवृत्तिनिरोध' की व्यापक चर्चा करने के पश्चात् अब इन्हीं पदों में अन्तर्निहित योग के अन्य सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जा रहा है—

परिणामवाद

जगत् की मूलकारणभूता प्रकृति में दो प्रकार के परिणाम स्वीकृत हैं—

१. प्रलयकालिक सरूपपरिणाम ।

२. सृष्टिकालिक विरूपपरिणाम ।

परिणामशीला प्रकृति क्षणमात्र के लिये भी परिणामरहित नहीं होती है। 'परिणाम' प्रकृति का स्वरूप है। अत: प्रलयकाल में त्रिगुणात्मिका प्रकृति के तीनों गुण अपने-अपने रूप में परिणत होते रहते हैं। अर्थात् सत्त्वगुण सत्त्वगुण के रूप में, रजोगुण रजोगुण के रूप में तथा तमोगुण तमोगुण के रूप में परिणत होता है। इसे प्रकृति की साम्यावस्था कहते हैं, जिसमें तत्त्वों का आविर्भाव नहीं होता है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति की दूसरी विषमावस्था है, जिसमें सत्त्वादि गुण न्यूनाधिक परिमाण में सङ्गठित होकर चित्त आदि तत्त्वों की आविर्भाव प्रक्रिया में संलग्न हो जाते हैं। यही प्रकृति का सृष्टिकालिक विरूपपरिणाम कहा जाता है।

विरूपपरिणामशीला प्रकृति में दो प्रकार के परिणाम दृष्टिगत हैं—

१. तत्त्वान्तरोपादानरूप परिणाम ।

२. तत्त्वान्तरानुपादानरूप परिणाम ।

लिङ्ग, अविशेष तथा विशेष नाम से वर्गीकृत तीन गुणपर्व में तेईस तत्त्व आते हैं—बुद्धि अहङ्कार, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन, पञ्चतन्मात्र तथा पञ्चमहाभूत। ये तेईस तत्त्व परस्पर विजातीय होने से तत्त्वान्तरोपादनरूप परिणाम के अन्तर्गत हैं। पञ्चमहाभूत के अग्रिम गो, घट, बीज आदि तत्त्व महाभूत के सजातीय होने से उन्हें तत्त्वान्तरानुपादानरूपपरिणाम के अन्तर्गत रखा गया है। यह सिद्धान्त सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने स्पष्टतया प्रतिपादित किया है।

मृत्तिकारूपी धर्मी आदि भूतेन्द्रिय में तीन प्रकार के परिणाम स्वीकृत हैं—

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ।

योगसूत्र ३/१३

१. धर्मपरिणाम ।

२. लक्षणपरिणाम—अनागत, वर्तमान, अतीत—ये तीन प्रभेद।

३. अवस्थापरिणाम ।

पतञ्जलि का धर्म-धर्मी प्रतिपादक सूत्र है—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ।

योगसूत्र ३/१४

चित्तधर्मी में तीन प्रकार के परिणाम होते हैं—

१. पदार्थाभिव्यक्तिरूप परिणाम ।

२. ज्ञानाभिव्यक्तिरूप परिणाम—अर्थाकारपरिणाम तथा प्रतिबिम्बाकार परिणाम।

३. क्रियाभिव्यक्तिरूप परिणाम ।

वृत्तिनिरोधपरायण चित्त के तीन परिणाम वर्णित हैं—

१. समाधि परिणाम

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।

योगसूत्र ३/११

२. एकाग्रतापरिणाम

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ।

योगसूत्र ३/१२

३. निरोधपरिणाम

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ।

योगसूत्र ३/९

क्लेश-चर्चा

चित्तवृत्ति बन्धन का कारण है, किन्तु विपर्ययवृत्ति तो बन्धन को प्रगाढ बनाने में सहायकीभूत होने से विपर्ययवृत्ति के अविद्यादि पाँच भेदों को 'पञ्चक्लेश' की संज्ञा प्रदान की गई है। पतञ्जलि का सूत्र है—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ।

योगसूत्र २/३

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश—इन पञ्च क्लेशों में प्रधान होने से अविद्या को 'क्लेशभूमि' कहा गया है। अविद्याभूमि में अस्मितादि क्लेश चार अवस्थाओं में रहते हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। सूत्र है—

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।

योगसूत्र २/४

बीजभावापन्नरूप से प्रसुप्त क्लेश का क्लेशत्व कभी भी प्रकट हो सकता है। अत: अविद्या आदि को दग्धबीजभावापन्न अवस्था में पहुँचाने के लिये योगसाधना की जाती है। क्योंकि दग्धबीज में अंकुरोत्पत्ति की शक्ति निहित नहीं रहती है। पतञ्जलि ने पाँच क्लेशों को इस प्रकार सूत्रित किया है—

अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।

योगसूत्र २/५

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता । योगसूत्र २/६

सुखानुशयी रागः । योगसूत्र २/९

दुःखानुशयी द्वेषः । योगसूत्र २/८

स्वरसवाहीविदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः । योगसूत्र २/९

कर्म-मीमांसा

अन्य वृत्तियों की तुलना में विपर्ययवृत्ति की क्लिष्टता अधिकतम विस्फोटक है। हमारे समस्त क्रियाकलाप क्लेशमूलक हैं। कर्माशय (कर्मजनित संस्कार) का जनक क्लेश है, जो जन्म-जन्मान्तरपर्यन्त मनुष्य का अनुसरण

करता है और जाति-आयु-भोग के रूप में अपनी सत्ता का अनुभव कराता रहता है। इसके लिये पतञ्जलि के दो सूत्र हैं—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।

योगसूत्र २/१२

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।

योगसूत्र २/१३

सत्त्वादि गुणों के अधीन रहकर मनुष्य चार प्रकार के कर्म करता है—

१. शुक्लकर्म।

२. कृष्णकर्म।

३. शुक्लकृष्णमिश्रित कर्म।

४. अशुक्लाकृष्ण कर्म।

इनमें से योगियों का अशुक्लाकृष्ण कर्म होता है, शेष तीन कर्म सामान्यजन के कहे गये हैं। सूत्र है—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।

योगसूत्र ४/७

'गहना कर्मणो गतिः' वचन से कर्मफल दुर्ज्ञेय है। अतः पतञ्जलि ने अन्य वृत्तियों की भाँति विपर्ययवृत्ति के समूलोच्छेद (आत्यन्तिक निरोध) का प्रतिपादन किया है। संसारवृक्ष का स्वरूप और उसका समुच्छेद योग के चतुर्व्यूहवाद की परिधि में आता है। गागर में सागर भरने की क्षमता महर्षि पतञ्जलि में रही। चतुर्व्यूहवाद के प्रतिपादक चार सूत्र हैं—

हेय—**हेयं दुःखमनागतम् ।** योगसूत्र २/१६

हेयहेतु—**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।**

योगसूत्र २/१७

हान—**तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ।**

योगसूत्र २/२५

हानोपाय—**विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।**

योगसूत्र २/२६

चित्तवृत्तिनिरोध एवं ईश्वर

चित्तवृत्तिनिरोध के उपायों में 'ईश्वरप्रणिधान' अन्यतम साधन है। साधक को अल्प प्रयास से मोक्षप्राप्ति के अन्तिम एवं मुख्यतम साधन असम्प्रज्ञातसमाधि तक पहुँचाने में भगवत्कृपा सर्वोत्तम उपाय है। सूत्र है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।

योगसूत्र १/२३

पातञ्जलयोगशास्त्र ज्ञानयोग, हठयोग, कर्मयोग, प्रेमभक्तियोग, अद्वैतयोग, लययोग, ध्यानयोग, चर्यायोग, सिद्धियोग, शिवयोग, ब्रह्मयोग, क्रियायोग, मन्त्रयोग, ज्ञानयोग, लक्ष्ययोग आदि समस्त योगों का महासमुद्र है और राजयोग अर्थात् असम्प्रज्ञातयोग महायोग है। यह एकान्तवादी दर्शन नहीं, अपितु समन्वयवादी दर्शन है। यह एक व्यक्ति का नहीं, अपितु मानवमात्र का सर्वाङ्गीण विकास करने वाला शास्त्र है। ज्ञातव्य है कि—

यथाऽभिमतध्यानाद्वा ।

योगसूत्र १/३९

सूत्र की अवधारणा कर महर्षि पतञ्जलि ने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायानुसार तत्त्वाभ्यास की समस्त सीमाओं को अतिक्रमित कर सामाजिक सौहार्द की स्थापना की है। यह सन्त पुरुष की पुकार है।

पुरुषों में पुरुषविशेष 'ईश्वर' का स्वरूपप्रतिपादक सूत्र है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

योगसूत्र १/२४

पुरुष और पुरुषविशेष का भेदक तत्त्व है—'क्लेशकर्मविपाकाशय'। क्लेशादि से सम्पृक्त पुरुष 'जीव' कहलाता है और क्लेशादि से असम्पृक्त पुरुषविशेष 'ईश्वर' की संज्ञा धारण करता है, जब कि चेतनता दोनों का समान स्वरूप है, जो उसे जडतत्त्व से पृथक् करता है।

जीव-ईश्वर-भेद

एक शब्द में एक 'अंश' है दूसरा 'अंशी'; एक अल्पज्ञ है दूसरा सर्वज्ञ; एक सातिशयज्ञानवान् है दूसरा निरतिशयज्ञानवान्; एक बद्ध है दूसरा सर्वथा मुक्त; एक सोपाधिक है दूसरा निरुपाधिक; एक उपेय है दूसरा

उपाय; एक अनेक है दूसरा अद्वितीय है; एक कालावच्छिन्न है दूसरा कालानवच्छिन्न; एक साधक है दूसरा साध्य है। अत: साध्यकोटिक ईश्वरचिन्तन सर्वोपरि है—

तस्य वाचकः प्रणवः ।

योगसूत्र १/२७

पतञ्जलि ने ईश्वर के वाचक प्रणव = ॐकार को जप का आधार और उसके अर्थ (ईश्वरवाच्य) के भावन पर बल दिया है—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

योगसूत्र १/२८

चित्तवृत्तिनिरोधोपाय का चरम उद्देश्य : कैवल्यप्राप्ति

विना विभूति एवं कैवल्य की चर्चा के योगसाधना के परिदृश्य में सम्पादित प्रयास कहीं निष्फल प्रतीत न हो एतदर्थ पतञ्जलि ने वृत्तिनिरोध के प्रत्येक उपाय को फलसहित प्रतिपादित किया है। यहाँ तक कि विभूतिवाद तक की सृष्टि कर डाली, किन्तु तत-तद्-विभूतियों को सर्वस्व मानने वाले योगमार्ग के पथिकों को सचेत भी किया है। पतञ्जलि का उपदेश है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ।

योगसूत्र ३/५१

अभिप्राय यह है कि मोहनीय, रञ्जनीय एवं कोपनीय विभूतियाँ ऊर्णातन्तु की तरह योगसाधक को आबद्धकर उसके जीवन को नष्टप्राय कर देती हैं।

योगविद्या का दिवाकर पुरुषार्थशून्य गुणों का अस्ताचल है और चितिशक्ति का स्वरूपप्रतिष्ठरूप उदयाचल है। पतञ्जलि का सूत्र है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।

योगसूत्र ४/३४

इसी उद्देश्य से चतुर्थपाद 'कैवल्य' की अवतारणा हुई। सरल शब्दों में जपाकुसुम के अपसारण से जैसे स्फटिक स्वकीय श्वेतिम रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, वैसे ही औपाधिक सम्बन्ध की निवृत्तिपूर्वक पुरुष अपने चैतन्यस्वरूप में प्रत्यावर्तित हो जाता है। सूत्र है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

योगसूत्र १/३

इस प्रकार तत्-तत् पुरुषीय 'योगयात्रा' को पूर्णविराम लगता है। किञ्च स्थालिपुलाकन्याय से चयनित योग सिद्धान्तों की पक्वता का आकलन किया गया और १९४ सूत्रों को **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** इस एक सूत्र में ग्रथित कर योगरूप जीवनमाला को पहचाना गया।

उपर्युक्त विवेचन को चित्रपट्ट द्वारा भी हस्तामलक किया जा सकता है—

●

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः
सम्प्रज्ञातयोग
असम्प्रज्ञातयोग
वितर्क विचार आनन्द अस्मिता
सवितर्क निर्वितर्क
सविचार निर्विचार
सानन्द निरानन्द
सास्मिता निरस्मिता
भवप्रत्यय उपायप्रत्यय
समापत्ति
ग्राह्यसमापत्ति ग्रहणसमापत्ति ग्रहीतृसमापत्ति
चित्तभूमि
क्षिप्त मूढ विक्षिप्त एकाग्र निरुद्ध
वृत्ति
प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृति
प्रत्यक्ष अनुमान आगम वस्तु क्रिया अभाव
पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट
अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश
भावितस्मर्तव्या अभावितस्मर्तव्या
परिणाम
सरूपपरिणाम विरूपपरिणाम
तत्त्वान्तरोपादानपरिणाम तत्त्वान्तरानुपादानपरिणाम
धर्मपरिणाम लक्षणपरिणाम अवस्थापरिणाम
अनागत परि. वर्तमान परि. अतीत परि.
पदार्थाभिव्यक्ति परि. ज्ञानाभिव्यक्ति परि. क्रियाभिव्यक्ति परि.
अर्थाकार परि. प्रतिबिम्बाकार परि.
क्लेश (विपर्यय)
अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश
अवस्था
प्रसुप्त तनु विच्छिन्न उदार
बीजभावापन्न दग्धबीजभावापन्न
वृत्तिलयाख्य
अधिकरणावस्थाविशेष
निरोधोपाय
अभ्यास-वैराग्य (उत्तम साधक)
क्रियायोग (मध्यम साधक)
अष्टाङ्गयोग (मन्द साधक)
अपरवैराग्य परवैराग्य
यतमान व्यतिरेक एकेन्द्रिय वशीकार
तपः स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान
यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि
अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह
कायिक वाचिक मानस
कथनसत्य आचरणसत्य
शौच सन्तोष तपः स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान
बाह्य आभ्यन्तर
परममुख्य मुख्य मुख्यजातीय मुख्यकल्प
पद्मासन वीरासन भद्रासन स्वस्तिकासन
(प्राणियों के बैठने के सभी प्रकार)
रेचक पूरक कुम्भक बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी
(बाह्य) (आभ्यन्तर) (स्तम्भ)
पार्थिवी जलीया आग्नेयी वायवीया आकाशीया
सगुणध्यान निर्गुणध्यान
संयम
धारणा ध्यान समाधि
विभूति
कर्म
कृष्ण शुक्ल कृष्ण-शुक्ल अशुक्ल-अकृष्ण
अनागतज्ञान सर्वभूतरुतज्ञान
पूर्वजातिज्ञान परचित्तज्ञान
अन्तर्धान भुवनज्ञान आदि
कर्माशय
दृष्टजन्मवेदनीय अदृष्टजन्मवेदनीय
एकविपाकारम्भी द्विविपाकारम्भी
नियतविपाकारम्भी अनियतविपाकारम्भी
जातिविपाक आयुर्विपाक भोगविपाक
योनि
सुख दुःख मिश्रित
देव मनुष्य तिर्यक् पशु
फलदान के विना समाप्ति
गौणकर्माशय का प्रधान कर्माशय में लय
चिरकालावस्थान
दीर्घायुः अल्पायुः
वासना निर्माण

आस्तिक दर्शनों में ईश्वर की अवधारणा

संस्कृतवाङ्मय में षड् आस्तिक दर्शनों की उद्भावना सूत्रात्मक शैली में छः ऋषियों द्वारा हुई। प्रायः ऋषियों ने मुख्यतया तीन तत्त्व माने हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति। निश्चितरूप से समस्त ऋषियों ने सबका मुख्य रूप से प्रतिपादन नहीं किया है। अपने-अपने शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय की मुख्यतया पुष्टि की है, परन्तु सबको एक साथ समन्वित कर अनुशीलन करने पर अभिप्रेत तत्त्व एक ही निःसृत होता है।

न्यायदर्शन में ईश्वर की अवधारणा

न्यायदर्शन की ज्ञानभूमि में आत्मा को प्रमेय कोटि के अन्तर्गत करके इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान को उसके लक्षणरूप में बतलाया गया है। वस्तुतस्तु इच्छा, द्वेष आदि अन्तःकरण के धर्म हैं। अतः इच्छा, द्वेषादि के साथ आत्मा का सम्पर्क बताने के कारण न्यायदर्शन की ज्ञानभूमि प्रकृति-परिणाम से बहुत ही सम्बन्धयुक्त है, ऐसा सिद्धान्तित होता है। जिस अणु को नित्य मानकर उसी के संयोग से न्यायदर्शन में समस्त सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई गई है, वह अणु भी वस्तुतः प्रकृति का ही विकारमात्र है। अतः प्रकृतिपरिणाम तथा प्रकृति के साथ साक्षात्रूप से जिसकी ज्ञानभूमि का सम्बन्ध है, ऐसे न्यायदर्शन में ईश्वर की अद्वितीय व्यापक सत्ता का साक्षात् सम्पर्क और वर्णन नहीं हो सकता है। इसीलिये न्यायदर्शन की मुक्ति केवल प्रमाण, प्रमेयादि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से ही मानी गई है—

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-
तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-
जाति-निग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ।

न्यायसूत्र १/१/१

अर्थात् इन पदार्थों के तत्त्वज्ञान से दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति होकर मुमुक्षु को अपवर्गलाभ हो जाता है। इस अपवर्ग के साथ ईश्वर का कोई

साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, तथापि न्यायदर्शन आस्तिक दर्शन होने से कर्मफल के साथ उसमें ईश्वर की निमित्तकारणता का सम्बन्ध बतलाया गया है और अनुमानप्रमाण द्वारा परोक्षरूप से सृष्टि के साथ ईश्वर का सम्पर्क भी कथन किया गया है। यथा—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।

न्यायसूत्र ४/१/१९

इसका भाष्य करते हुए वात्स्यायन ने कहा है—

पराधीनपुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति यदधीनं स ईश्वरः ।
तस्माद् ईश्वरः कारणम् ।

वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र ४/१/१९

अर्थात् जीव का पराधीन कर्मफलभोग जिसके अधीन है, वह ईश्वर है। अतः ईश्वर ही जीव का कर्मफलदाता है। इस तरह से जड कर्म के चेतन प्रेरकरूप से ईश्वर की निमित्तकारणता का सम्पर्क बतलाकर न्यायदर्शन ने अपनी आस्तिकता का परिचय दिया है।

न्यायवृत्तिकार विश्वनाथ ने उसी आह्निक के २१वें सूत्र—

क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत् ।

न्यायसूत्र ४/१/२१

में इस प्रकार सूत्रवृत्ति द्वारा संसार की उत्पत्ति के प्रति ईश्वर की निमित्तकारणता प्रतिपन्न की है। घट की उत्पत्ति के लिये जिस प्रकार कुम्भकार निमित्तकारण है उसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति के लिये ईश्वर निमित्तकारण है। जिस प्रकार कार्य देखने से कारण का अनुभव होता है, उसी प्रकार कार्यब्रह्मरूप जगत् को देखने से उसके सृष्टिकर्त्ता निमित्तकारणरूप ईश्वर का अनुमान होता है। इस संसाररूपी वृक्ष का कारण (निमित्तकारण) ईश्वरातिरिक्त कोई नहीं हो सकता है। सिद्धान्तमुक्तावली का वचन है—

एतेन ईश्वरे प्रमाणमपि दर्शितं भवति ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली १/१

यही प्राचीन न्यायदर्शन में ईश्वरसत्ता की सिद्धि है।

वैशेषिकदर्शन में ईश्वर की अवधारणा

वैशेषिकदर्शन की ज्ञानभूमि भी स्थूलतः न्यायदर्शन की तरह है। उसमें भी प्रकृतिपरिणामजात सुख-दुःखादि के साथ मन के द्वारा आत्मा का सम्बन्ध बतलाया गया है। इसमें द्रव्य, गुण, कर्मादि सप्त पदार्थों के तत्त्वज्ञान से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप अपवर्ग का वर्णन किया गया है। इस निःक्षेयस् के साथ केवल दुःखनिवृत्ति का सम्पर्क होने से नित्यानन्दमय ब्रह्मपद के साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। अतः वैशेषिकदर्शनोक्त मुक्ति के साथ ईश्वर का साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता। और न ही इसकी ज्ञानभूमि के साथ ही ईश्वर का साक्षात् सम्बन्ध हो सकता है। तथापि वैशेषिकदर्शन ने अपनी आस्तिकता को प्रमाणित करने के लिये न्यायदर्शन की तरह अनुमानप्रमाण की सहायता से जगदुत्पत्ति के लिये ईश्वर की निमित्तकारणता प्रतिपादित की है। यथा—

संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् ।
प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञाकर्मणः ।

वैशेषिकसूत्र २/१/१८-१९

इन सूत्रों के उपस्कार में शङ्करमिश्र ने लिखा है—

संज्ञा नाम कर्म कार्यं क्षित्यादि तदुभयमस्मद् विशिष्टानाम् ईश्वरमहर्षीणां सत्त्वेऽपि लिङ्गम् । घटपटादिसंज्ञानिवेशनमपि ईश्वरसंकेताधीनमेव। यः शब्दो यत्र ईश्वरेण संकेतितः स तत्र साधु। तथा च सिद्धं संज्ञाया ईश्वरलिङ्गत्वम् । एवं कर्मापि कार्यमपि ईश्वरे लिङ्गम् । तत्र हि क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्घटवत् इति।

उपस्कारटीका, वैशेषिकसूत्र २/१/१८-१९

अर्थात् संज्ञा या नाम और कर्म अर्थात् क्षिति, अप् आदि कार्य— ये दो लौकिक मनुष्य से विशेषतायुक्त ईश्वर, महर्षि आदि के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। घट-पट आदि नाम से जो तत्-तत् पदार्थों का बोध होता है, उसमें ईश्वरसंकेत ही कारण है। क्षिति, अप् आदि जब कार्य हैं तो इनका कर्त्ता भी कोई अवश्य होगा, वही कर्त्ता ईश्वर है।

अतः यह सिद्धान्त सुनिश्चित हुआ कि जगदुत्पत्ति के लिये ईश्वर की

घटकुलालवत् निमित्तकारणता है। यही वैशेषिकदर्शन का आस्तिक मत है। इस दर्शन के टीकाकार प्रशस्तपादाचार्य ने तो कई अन्य स्थानों में भी वैशेषिकदर्शन के सूत्रों के साथ ईश्वर का सम्बन्ध बताकर इस गम्भीर दर्शन की परम आस्तिकता प्रतिपादित की है। पदार्थसमूहों का तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का कारण है। इस प्रसङ्ग में प्रशस्तपादाचार्य ने—

तच्च—वह तत्त्वज्ञान ईश्वरप्रेरणाजनित धर्म से उत्पन्न होता है, ऐसा कहकर वैशेषिकदर्शनोक्त मुक्ति के साथ भी ईश्वर का पारम्परिक सम्बन्ध बतला दिया है। नित्य परमाणुओं के संघात से सृष्टि और विश्लेषण से प्रलय के विषय में वैशेषिकदर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन करते समय प्रशस्तपादाचार्य ने लिखा है कि 'सकल भुवनपति महेश्वर की अलौकिक इच्छाशक्ति के द्वारा ही परमाणुओं में स्पन्दनशक्ति उत्पन्न होकर इस प्रकार सृष्टि और प्रलय हुआ करता है।'

अत: वैशेषिकदर्शन की परम आस्तिकता निर्विवाद सिद्ध है, उसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। परवर्तीकाल में नव्य वैशेषिकों ने भी अनुमानप्रमाण की सहायता से वैशेषिकदर्शन में ईश्वरसत्ता की विशेष सिद्धि की है और कहीं-कहीं ज्ञान आदि कई गुणों के साथ भी ईश्वर का सम्बन्ध निर्णय किया है।

योगदर्शन में ईश्वर की अवधारणा

सप्त ज्ञानभूमियों में से तृतीय भूमिस्थानीय दर्शन योगदर्शन है। इसमें प्रकृति को अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेषादि दु:खों का आगार कहकर प्रकृति के द्वारा बद्ध पुरुष की उससे मुक्ति होने पर अत्यन्त दु:खनिवृत्तिरूप कैवल्यप्राप्ति होती है, यही योग का परम पुरुषार्थ बतलाया गया है। अत: दु:खनिवृत्ति ही मुक्ति का लक्ष्य होने से परमानन्दमय ब्रह्मपद के साथ इस दर्शन की ज्ञानभूमि का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। योगदर्शन के अनुसार जब साधक की मुक्ति होती है उस समय पुरुष केवल स्वरूपस्थित होकर प्रकृति के सम्पर्क का त्याग कर देता है। उसके साथ फिर प्रकृति का बन्धन-सम्बन्ध नहीं रहता है। सूत्र है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

योगसूत्र १/३

परन्तु उससे प्रकृति का अस्तित्व लुप्त नहीं होता है। केवल वह मुक्त पुरुष प्रकृति के साथ कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सम्बन्ध को छोड़कर उदासीनवत् प्रकृति का द्रष्टा बन जाता है। अत: योगदर्शन की ज्ञानभूमि के अनुसार भी मुक्ति के साथ ईश्वरसत्ता का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। तथापि परम आस्तिक दर्शन में मुक्ति-प्राप्ति के साधनरूप से ईश्वरसत्ता का अपूर्व वर्णन किया गया है। यथा—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।

योगसूत्र १/२३

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।

योगसूत्र २/४५

यहाँ सांख्य-प्रवचन का जो पुरुष है, उससे कुछ विशेषसत्ता ईश्वर की है। योगदर्शनभूमि में प्रकृतिसम्बन्ध का विशेष अस्तित्व होने के कारण वेदान्तभूमि की तरह इसमें ईश्वर की व्यापक अद्वैतसत्ता प्रकट नहीं हो सकती। इसलिये प्रकृतिबन्धनयुक्त सांख्यीय पुरुष से विशेषता बतलाने के लिये पतञ्जलि ने ईश्वर को 'पुरुषविशेष' कहा है। यही आस्तिक योगदर्शनोक्त ईश्वरसत्ता का परिस्फुट प्रमाण है। अत: योगदर्शन की आस्तिकता निर्विवाद है।

सांख्यदर्शन में ईश्वर की अवधारणा

योगदर्शन की तरह सांख्यदर्शन में भी प्रकृति की प्रधानता होने से अनादि अविवेक द्वारा प्रकृति के साथ पुरुष का औपचारिक सम्बन्ध हो जाता है। जिससे अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—इन तीनों प्रकार के दुःखों के द्वारा पुरुष विमोहित हो जाता है। तत्त्वज्ञान का उदय होने से जब पुरुष अपने नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप को समझ जाता है तभी पुरुष की मुक्ति होती है। अत: प्रकृतिसम्बन्धविच्छेद द्वारा त्रिविध दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही सांख्यज्ञानभूमि के अनुसार मुक्ति है। इसमें परमानन्दमय ब्रह्मपद में स्थिति के साथ मुक्ति का सम्बन्ध नहीं है। अत: इस दर्शन में ईश्वर की व्यापक सत्ता की उपलब्धि के साथ मुक्ति का सम्बन्ध नहीं हो सकता। जिस पुरुष की स्वरूपोपलब्धि द्वारा सांख्यभूमि में मुक्ति बतलाई गई है, वह पुरुष जीवशरीर स्थित कूटस्थ चैतन्य है। व्यापक ईश्वर की जो निर्लिप्त, निर्विकार ज्ञानमयसत्ता

प्रतिपिण्डावच्छेद से देह में विद्यमान रहती है, उसी को कूटस्थ चैतन्य या पुरुष कहते हैं। वह ईश्वर का ही देहावच्छिन्न अंश होने के कारण सदा निर्लिप्त और नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है।

सांख्यदर्शन में प्रकृति के साथ उसी पुरुष के अनादि, औपचारिक सम्बन्ध को 'स्फटिक लौहित्यवत्' बन्धन और सृष्टि का कारण माना है और तत्त्वज्ञान द्वारा उस औपचारिक सम्बन्ध की निवृत्ति को मोक्ष माना है। अत: सांख्यदर्शन के अनुसार जो मुक्ति होती है वह जीवशरीर में कूटस्थ चैतन्य की उपलब्धि के द्वारा होती है। उस समय पुरुष जान लेता है कि प्रकृति के स्थूल, सूक्ष्म-कारण किसी विभाग के साथ उसके कर्तृत्व, भोक्तृत्व का सम्बन्ध नहीं है। यह वास्तव में प्रकृति से निर्लिप्त, उदासीन और उसका द्रष्टाभाव है। यही सांख्यदर्शनोक्त मुक्ति है।

अत: स्पष्ट है कि सांख्यीय मुक्तिभूमि में प्रकृति की व्यापक सत्ता अक्षुण्ण रहती है, ईश्वर की व्यापक सत्ता विदित नहीं होती, केवल अपने शरीर में स्थित ईश्वर का चैतन्यमय भाव उपलब्ध होता है। अत: अपने शरीर के विचार से प्रतिदेह में पुरुष की भिन्न-भिन्न बहुत्वसत्ता मानना, प्रकृति को नित्य मानना और अपनी ज्ञानभूमि में मुक्ति के लिये ईश्वर की सत्ता के मानने का प्रयोजन न समझना सांख्यदर्शनभूमि के अनुसार उचित है तथापि सांख्यदर्शन ने अलौकिक प्रत्यक्ष की सहायता से जो ईश्वर के अस्तित्व को माना है, उसके द्वारा सांख्यदर्शन की विशेष आस्तिकता का परिचय प्राप्त होता है। यथा—

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ।
लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ।
ईश्वरासिद्धेः ।
मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ।
उभयथाऽप्यसत्करत्वम् ।
मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा ।।

सांख्यसूत्र १/९०-९५

इन्द्रियों की सहायता से लौकिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त योगिगण योगबल से जो अतीन्द्रिय वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं, उसका सांख्यज्ञानभूमि

में प्रयोजन न रहने पर भी ऐसे प्रत्यक्ष करने में कोई दोष नहीं है। योगिगण इस प्रकार अलौकिक प्रत्यक्षशक्ति द्वारा अतीत, अनागत, सूक्ष्म, व्यवहित वस्तुओं का भी अनुभव कर लेते हैं। जैसा कि ईश्वर अतिसूक्ष्म तथा लौकिक प्रत्यक्ष के अगोचर और इसलिये सांख्यज्ञानभूमि के अनुसार असिद्ध होने पर भी योगिगण अतीन्द्रिय अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा उनको जान लेते हैं। लौकिक विचार से सांख्यभूमि में ईश्वर सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ईश्वर न तो मुक्त ही हो सकता है और न बद्ध। मुक्त होने पर उसमें अभिमानाभाव से सृष्टिकर्तृत्व नहीं आ सकेगा और बद्ध होने पर उसमें सृष्टि की शक्ति नहीं आ सकेगी। अत: लौकिक प्रत्यक्षविचार से ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता।

इतना कहकर पुन: सांख्यदर्शन कहता है कि यद्यपि लौकिक विचार से ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं होती, परन्तु मुक्तात्मा पुरुषगण और उपासना के द्वारा सिद्ध पुरुषगण भूयोभूय: शास्त्र में ईश्वर की स्तुति करते हैं। इसलिये ईश्वर के अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए। अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा ईश्वर असिद्ध होने पर भी मुक्तात्मा और सिद्ध पुरुषों की अलौकिक प्रत्यक्षशक्ति के द्वारा सदा ही उपलब्ध होता है।

इस प्रकार आस्तिकतापूर्ण विचार द्वारा निज ज्ञानभूमि में अप्राप्य होने पर भी सांख्यदर्शन ने ईश्वर की सिद्धि की है। यह सांख्यदर्शन की विशेष आस्तिकता का ही निदर्शन है। वत्स-पोषणार्थ अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति की तरह पुरुष के भोग और मोक्षार्थ अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति हो सकती है, ऐसा साधारणरीति से कहने पर भी समष्टि और व्यष्टि प्रकृति पर जब तक चेतन पुरुष और जीव का अधिष्ठान नहीं होता है तब तक न तो जड प्रकृति में परिणामकारिणी चेतनशक्ति ही आ सकती है और न प्रकृति परिणाम द्वारा सृष्टि विस्तार ही कर सकती है, ऐसा अपने सूत्रों द्वारा प्रतिपादित करके सांख्यदर्शन ने और भी आस्तिकता का परिचय प्रदान किया है। यथा—

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ।
विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् ।।

सांख्यसूत्र १/९६-९७

जिस प्रकार अयस्कान्तमणि के समीप रहने से ही लोह में चलनशक्ति आ जाती है, उसी प्रकार 'सांख्य से अनन्त' चेतनामय पुरुष के अधिष्ठान

से समष्टि प्रकृति कार्य करती है और प्रति पिण्ड में औपचारिक बन्धन से बद्ध जीवभावापन्न पुरुष के अधिष्ठान से व्यष्टिभूत प्रकृति कार्य करती है। यह बात पहले कही गई है कि प्रकृति पर अधिष्ठित पुरुष कूटस्थ चैतन्य है जो जीव-देहावच्छेद से ईश्वर की सत्ता है और—

अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ।

छान्दोग्योपनिषद् ६/३/३

अर्थात् उसी परमात्मा ने जीवरूप में अनुप्रवेश करके नाम और रूप का विकार उत्पन्न कर दिया—इस छान्दोग्यश्रुत्युक्त सिद्धान्त के अनुसार वह चेतनसत्ता जब ईश्वर का ही भावान्तरमात्र है, तो समष्टि और व्यष्टि दोनों प्रकृतियों के साथ ईश्वर का सम्बन्ध सांख्यदर्शन द्वारा सम्यक् प्रतिपादित हुआ। केवल वेदान्तादि दर्शनों के साथ उसका इतना ही भेद रह गया कि वेदान्तदर्शन में ईश्वर की इच्छा से प्रकृति का परिणाम और सृष्टि-क्रिया मानी है और सांख्यदर्शन में कूटस्थ चैतन्य के अधिष्ठानमात्र से प्रकृति का परिणाम बताया गया है। फलतः आस्तिकता के विषय में दोनों दर्शनों में कोई विशेष विभिन्नता नहीं पाई गई। अधिष्ठानमात्र से प्राकृतिक परिणाम के विषय में स्मृतियों में भी प्रमाण मिलता है। यथा—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्त्तते ।
सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्गणः ।।
अतश्चात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने ।
निरिच्छत्वादकर्त्ताऽसौ कर्त्ता सन्निधिमात्रतः ।।

महोपनिषद् ४/१३-१४

अर्थात् जिस प्रकार इच्छारहित अयस्कान्तमणि के पास रहने से ही लोहतत्त्व में चेष्टा होती है, उसी प्रकार ईश्वर या पुरुष के अधिष्ठानमात्र से ही संसार की क्रिया होने लगती है। इस विचार से आत्मा में कर्तृत्व भी है और अकर्तृत्व भी है, क्योंकि इच्छारहित होने से वे अकर्त्ता हैं और सान्निध्य द्वारा कर्त्ता भी हैं। यही पुरुषरूप से प्रकृति पर ईश्वर का अधिष्ठान है और यही सांख्यदर्शन की परम आस्तिकता का परिचय है। मीमांसादर्शन में ईश्वर की 'विभुतया अनन्त सत्ता' का वर्णन किया गया है और अपनी ज्ञानभूमि में प्रयोजन न होने से सांख्यदर्शन में ईश्वर की 'संख्यया अनन्त सत्ता' का वर्णन किया है।

कर्ममीमांसादर्शन के अनुसार ईश्वर की अवधारणा

इसके अनन्तर मीमांसादर्शन की भूमियों में परमात्मा के ऐश्वर्य, माधुर्य और ज्ञानभाव की क्रमशः पूर्णतया सिद्धि की जाती है। ऐश्वर्यभाव में परमात्मा = ईश्वर अदृष्ट के विधाता, पुण्य के फलदाता, पापियों के शासनकर्त्ता और धर्म के प्रतिष्ठापक सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं। यज्ञ उनका स्वरूप है, वेद उनकी वाणी या निःश्वास है और देवतागण उनके आज्ञाकारी अर्थात् उन्हीं की दैवी विभूति के स्वरूप हैं। यही कारण है कि कर्ममीमांसादर्शन में वेद, वेदानुकूल यज्ञभेद कर्म और देवताओं की इतनी महिमा बताई गई है। यथा कर्ममीमांसा में कहा है—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ।

यजेत स्वर्गकामः ।

यजतेर्जातमपूर्वम् ।

अपाम सोमं अमृता अभूम ।

अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति ।

सर्वान् लोकान् जयति । मृत्युं तरति । पाप्मानं तरति । ब्रह्महत्यां तरति । योऽश्वमेधेन यजते ।

अर्थात् वेद की यज्ञप्रतिपादिका श्रुतियाँ ही मुख्य हैं। यज्ञ के द्वारा अमृतत्वलाभ होता है। यज्ञीय सोमपान करके सब अमर हो जाते हैं। चातुर्मास्ययाग करने वालों को अक्षय पुण्यलाभ होता है। अश्वमेधयज्ञ द्वारा लोकजय, मृत्युजय, पापजय और ब्रह्महत्या जैसे पाप पर भी विजयलाभ होता है।

इस प्रकार कर्ममीमांसादर्शन में यज्ञ की महिमा प्रतिपादित कर प्रकारान्तर से कर्मप्रेरक देवताओं की महिमा, यज्ञरूप भगवान् विष्णु की महिमा और यज्ञक्रिया बताने वाले वेद के कर्त्ता ईश्वर की महिमा बताई गई है। यही कर्ममीमांसा द्वारा ईश्वर के ऐश्वर्यभाववर्णन का रहस्य है।

भक्तिमीमांसादर्शन के अनुसार ईश्वर की अवधारणा

इसके अनन्तर भक्तिमीमांसाशास्त्र में ईश्वर के माधुर्यभाव का स्पष्टीकरण है। इस भाव में भगवान् दयामय, स्नेहमय, प्रेममय प्रभु हैं। इस भाव में भक्त के निकट उनके प्राण विक्रीत हैं, करुणा की धारा जाह्नवी-यमुना की

धारारूप से प्रवाहित है। जीवों का दुःख दूर करने के लिये (लोकदृष्टि से) स्वयं अनन्त दुःखभोग उनका परम व्रत है, इस भाव से भृगुपदाघात उनके हृदय का भूषण है, द्रौपदी का लज्जानिवारण परम पौरुष है और करुणा की होमाग्नि में समस्त ऐश्वर्यों का आहुतिप्रदान जीवन का महाव्रत है। इस भाव में भगवान् भक्तवत्सल प्रभु, करुणामय स्वामी, प्रीतिमय सखा, स्नेहमय पुत्र और प्रेममय कान्त हैं। इसी भाव की अलौकिक मधुरता में उन्होंने भक्तशिरोमणि प्रह्लाद से क्षमा-याचना की थी। यथा—

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत् क्वैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते ।
अलौकिकं विषममेतदभूतपूर्वं क्षन्तव्यमङ्ग ! यदि मे समये विलम्बः।।

अर्थात् कहाँ तुम्हारा यह सुकुमार कोमल शरीर और अल्प आयु, और कहाँ मदोन्मत्त निष्ठुर हिरण्यकशिपु का तुम्हारे ऊपर प्रबल अत्याचार ! इस अभूतपूर्व विषमता को मैंने भली-भाँति देख लिया है, हे प्रिय! यदि मेरे आने में कुछ देर हो गई तो मुझे क्षमा करो।

भक्तिमीमांसाशास्त्र में इस माधुर्यभाव का भूरि-भूरि वर्णन है। जैसा कि इस शास्त्र के प्रतिपादक महर्षि शाण्डिल्य और देवर्षि नारद के भक्तिसूत्रों के अध्ययन से विदित होता है। वेद में भी—

रसो वै सः । तैत्तिरीयोपनिषद् २/७
आनन्दरूपं परमं यद्विभाति । मुण्डकोपनिषद् २/२/७
रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । तैत्तिरीयोपनिषद् २/७
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन । शरभोपनिषद् १८

इत्यादि मन्त्रों के द्वारा इस भाव का पूर्ण प्रतिपादन किया गया है। भक्तिदर्शन के सूत्रकार महर्षि शाण्डिल्य के मत में **'सा परानुशक्तिरीश्वरे'** अर्थात् ईश्वर के प्रति परम प्रेम या अनुराग को भक्ति कहते हैं। देवर्षि नारद ने भी—

सा कस्मै परमप्रेमरूपा । अमृतरूपा च । यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति । स्तब्धो भवति । आत्मारामो भवति ।

इत्यादि सूत्रों के द्वारा ईश्वर के प्रति परम प्रेम को ही भक्ति का लक्षण कहा है। भगवत्प्रेम में मग्न हो जाने पर भक्त को बाह्य विषयों का भान नहीं

रहता है। वह उन्मुक्त स्तब्ध की तरह अहर्निश परमात्मा के रमण में ही संलग्न रहता है। उसका हृदयकमल सहस्रदल कमल की तरह विकसित होकर श्रीभगवान् के पवित्र चरणकमलों में विलीनता को प्राप्त हो जाता है। यही मानव-जीवन का सार लक्ष्य है और इसी सर्वोत्तम लक्ष्य की प्राप्ति कराने के लिये ही भक्तिमीमांसादर्शन का पवित्र पुरुषार्थ है।

ब्रह्ममीमांसादर्शन में ईश्वर की अवधारणा

इसके अनन्तर अन्तिम मीमांसा अर्थात् ब्रह्ममीमांसादर्शन में ईश्वर = परमात्मा के अन्यान्य भक्तों के साथ उनके ज्ञानभाव की सम्यक् सिद्धि की गई है।

ब्रह्ममीमांसादर्शन में ब्रह्म के उस अध्यात्मभाव की मीमांसा की गई है, जिस भाव के साथ माया का कोई सम्बन्ध नहीं है, जो भाव माया से अतीत है और जहाँ माया का लय हो जाता है। इसीलिये वेदान्तदर्शन में माया को मिथ्या एवं सान्त कहा गया है और जब माया की वस्तुसत्ता इस तरह से अपनी भूमि में अस्वीकृत हुई तो विश्व-जगत् को प्रकृति का परिणाम न कहकर ब्रह्म का विवर्त ही कहा जायेगा। इसलिये वेदान्तदर्शन में संसार को ब्रह्म का विवर्त कहा गया है। अर्थात् रज्जु में सर्पभ्रम की तरह मोहिनी माया के प्रताप से ब्रह्म में ही जगत् की भ्रान्ति हो रही है। वस्तुत: यह दृश्यमान् संसार ब्रह्म ही है, ऐसा वेदान्तदर्शन का सिद्धान्त है। वेदान्तभूमि के अनुसार स्वरूपोपलब्धिदशा में मायारहित तथा जगत् प्रत्यक्षरहित निर्गुण ब्रह्मभाव में स्थित होने के कारण ही उस दशा के अनुसार व्यावहारिक दशा में भी जगत् को ब्रह्म का विवर्त माना गया है। क्योंकि माया के मिथ्यात्व और जगत् के ब्रह्मरूपत्व की धारणा मुमुक्षु साधक के चित्त में जितनी प्रबल होगी, प्रपञ्च की निवृत्ति के द्वारा स्वरूपोपलब्धि उतनी ही निकटवर्तिनी हो जायेगी। अत: संसार को विवर्तित ब्रह्म का रूप कहना और उसी विवर्त को जानकर आनन्दमय ब्रह्मपद में विराजमान होना मुक्ति है। ऐसा कहना निजज्ञानभूमि के अनुसार वेदान्तदर्शन के लिये उपयुक्त ही है।

वेदान्तदर्शन में सगुण ब्रह्म ईश्वर की सत्ता पूर्णतया प्रत्यक्ष होती है, क्योंकि जब वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म माया से अतीत है, तो मायासम्बन्धी सृष्टि-स्थिति-प्रलय आदि कार्य मायाशवलित सगुण ब्रह्म ईश्वर के अधिकार

में ही होना चाहिए। इसलिये इस दर्शन में ईश्वर को जगत् का निमित्त और उपादान दोनों कारण ही माना गया है। निमित्तकारण इसलिये कि उन्हीं के द्वारा सृष्टि-स्थिति-प्रलय कार्य चलता है और उपादानकारण इसलिये कि उन्हीं पर सुवर्ण में कटक, कुण्डल की तरह माया ने समस्त विश्व की भ्रान्ति को दिखलाया है। उनकी निमित्तकारणता के विषय में वेदान्तदर्शन में अनेक सूत्र मिलते हैं। यथा—

जन्माद्यस्य यतः । ब्रह्मसूत्र १/१/२

जगद्वाचित्वात् । ब्रह्मसूत्र १/४/१६

अर्थात् संसार की सृष्टि-स्थिति-प्रलय सगुणब्रह्म ईश्वर के द्वारा ही होती है। ईश्वर ही समस्त जगत् का कर्त्ता है। उसकी उपादानकारणता के विषय में वेदान्तदर्शन में अनेक सूत्र मिलते हैं। यथा—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात् । ब्रह्मसूत्र १/४/२३

इस सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य ने लिखा है—

एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणञ्च । न केवलं निमित्तकारणमेव ।

शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र १/४/२३

सगुण ब्रह्म केवल जगत् का निमित्तकारण ही नहीं है, अधिकन्तु उपादानकारण भी है। फिर—

योनिश्च हि गीयते । ब्रह्मसूत्र १/४/२७

इस सूत्र के द्वारा भी उपादानकारणता प्रतिपन्न होती है।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः । ब्रह्मसूत्र २/१/१४

तथाऽन्यप्रतिषेधात् । ब्रह्मसूत्र ३/२/३६

इन दोनों सूत्रों में भी जगत् और ब्रह्म की एकता करके जिस प्रकार कुण्डल, वलय आदि सुवर्णालङ्कारों में वास्तविक कोई भेद नहीं, केवल नामरूप का ही भेद है। वस्तुतः सब सुवर्ण ही हैं। उसी प्रकार जगत् विविध नामरूप वैचित्र्यपूर्ण होने पर भी वास्तव में ब्रह्म ही है। ऐसा कहकर जगत् के विषय में ब्रह्म की उपादानकारणता विशेषरूप से सिद्ध की गई है। आकाश, वायु आदि भूतोत्पत्ति सगुण ब्रह्म ईश्वर का ही कार्य है, ऐसा

मानते हुए जगदुत्पत्ति के विषय में ईश्वर की निमित्तकारणता सिद्ध की गई है। अत: वेदान्तदर्शनभूमि के अनुसार ईश्वर की उभयकारणता ही प्रतिपादित होती है।

ब्रह्म सगुण है या निर्गुण—इस विषय में ब्रह्मसूत्र में कहा है—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।

ब्रह्मसूत्र ३/२/११

अर्थात् ब्रह्म सर्वत्र उभयलिङ्ग है, उपाधिसम्बन्ध होने पर भी निर्गुणभाव का विलोप नहीं होता है। ब्रह्म सगुण और निर्गुण उभय ही है। इसमें यदि यह आपत्ति हो कि ब्रह्म सगुण होने पर साकार हो जायेगा, इसके उत्तर में वेदान्तदर्शन में सूत्र है—

अरूपवदेव तत्प्रधानत्वात् ।

ब्रह्मसूत्र ३/२/१४

अर्थात् ब्रह्म निर्विकार है, उपाधिसम्बन्ध होने पर भी साकार नहीं होता है।

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।

ब्रह्मसूत्र ३/२/१५

जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश आधारभेद से सरल, वक्र आदि भाव धारण करता है उसी प्रकार निराकार ब्रह्म भी उपाधि के द्वारा नानारूप प्रतीत होते हैं। वस्तुत: उनका कोई रूप नहीं है। रूप न होने पर भी उपाधिसंयोग से यदि ससीम हो तो इस सन्देह के उत्तर में वेदान्तदर्शन बतलाता है—

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ।

ब्रह्मसूत्र ३/२/२६

अर्थात् प्रकाशरूप ब्रह्म में सगुण-निर्गुण-भेद केवल उपाधिभेद से हैं। स्वरूपगत कोई भी भेद नहीं है। इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म से स्वरूपत: अनन्त मायोपाधियुक्त सगुण ब्रह्म ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति होती है। इसलिये घटकुलालवत् निमित्तकारण ईश्वर कहा गया है।

अब इसमें प्रश्न यह होता है कि जब ईश्वर चेतन है और जगत् अचेतन है तो चेतन ईश्वर से अचेतन जगत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

इसके उत्तर में वेदान्तदर्शन में कहा है कि चेतन से अचेतन की उत्पत्ति संसार में हुआ करती है—जैसे चेतन पुरुष से अचेतन नख-लोमादि की उत्पत्ति। अत: ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति शंकाजनक नहीं है। द्वितीय प्रश्न यह होता है कि कुम्भकार दण्ड, चक्र आदि उपकरण की सहायता से घट निर्माण करता है। ईश्वर का जब कोई उपकरण नहीं है तो वह सृष्टि कैसे कर सकेगा? इसके उत्तर में वेदान्तदर्शन में कहा है—

क्षीरवद्धि...देवादिवदपि लोके ।

ब्रह्मसूत्र २/१/२४-२५

अर्थात् जिस प्रकार दुग्ध आदि उपकरण के विना ही दधि आदि रूप में परिणत हो जाते हैं और जिस प्रकार देवता आदि उपकरण के विना ही संकल्प मात्र से सृष्टि करते हैं उसी प्रकार चेतन ईश्वर उपकरण के विना ही स्वत: जगत्-सृष्टि करता है।

तृतीय प्रश्न यह होता है कि ईश्वर जब निर्विकार है तो उससे सृष्टिकार्य कैसे सम्पन्न हो सकता है? इसके उत्तर में वेदान्तदर्शन में कहा है—

विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तम् ।

ब्रह्मसूत्र २/१/३१

श्रुत्युक्त 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्यादि प्रमाण द्वारा यह सिद्ध होता है कि निराकार से भी सृष्टिकार्य हो सकता है।

पुन: यह शंका होती है कि ईश्वर जब आप्तकाम है तो उसको सृष्टि कार्य करने का क्या प्रयोजन है? इसके उत्तर में वेदान्तदर्शन ने कहा है—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।

ब्रह्मसूत्र २/१/३३

अर्थात् सृष्टि करना ईश्वर का लीलाविलासमात्र है। जिस प्रकार शिशु विना प्रयोजन ही क्रीडा करता है, उसी प्रकार सृष्टि भी उनके अधिष्ठान से प्रकृति द्वारा स्वत: होती है। पुन: यह आपत्ति होती है कि संसार वैषम्य का आधार है। इसमें कोई सुखी कोई दु:खी, कोई धनी, कोई दरिद्र इस प्रकार देखने में आता है। यदि जगत् ईश्वर की रचना है तो वह पक्षपाती या निष्ठुर प्रतीत होता है। इसके उत्तर में वेदान्त ने कहा है—

फलमत उपपत्तेः ।

ब्रह्मसूत्र ३/२/३८

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।

ब्रह्मसूत्र २/३/४२

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति ।

ब्रह्मसूत्र २/१/३४

अर्थात् ईश्वर कर्मफल का दाता है परन्तु कर्म के वैचित्र्यानुसार ही जीव को फल प्रदान करता है, ऐसा न होने से शास्त्रीय विधि-निषेध निरर्थक हो जायेंगे। ईश्वर जीवकृत कर्मानुसार ही भिन्न-भिन्न सृष्टि करता है। जिसका पूर्व सुकृत है उसे सुखी करता है और जिसका मन्द प्रारब्ध है उसे दुःखी करता है। अतः इससे ईश्वर की पक्षपातिता या निष्ठुरता सिद्ध नहीं होती। भाष्यकार पूज्यपाद शङ्कराचार्य ने ईश्वर के कर्मानुसार सृष्टिरहस्य के विषय में कहा है—

ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः । यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति । एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति । देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति । एवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनिर्घृण्याभ्यां दुष्यति ।

शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र २/१/३४

अर्थात् सृष्टि के विषय में ईश्वर को मेघ की तरह समझना चाहिए। जिस प्रकार व्रीहि, यव, धान्य आदि के विषय में मेघ साधारणकारण है। अर्थात् मेघ के जल से व्रीहि, यवादि उत्पन्न होते हैं, परन्तु उसमें प्रत्येक के मध्य जो प्रकृतिवैषम्य है उसके लिये मेघ कारण नहीं है। उसके लिये व्रीहि, यवादि के बीजगत असाधारण सामर्थ्य ही कारण हैं। उसके लिये देव मनुष्यादि सृष्टि के विषय में ईश्वर साधारणकारण है। परन्तु उसके द्वारा प्रदत्त प्रत्येक के पृथक्-पृथक् सुख-दुःख, ऐश्वर्य-दारिद्र्य आदि विशेषता के लिये जीवों के पृथक्-पृथक् कर्म ही असाधारणकारण हैं। ईश्वर उन्हीं पृथक्-पृथक् कर्मों के अनुसार प्रत्येक जीव की सृष्टि करता है। अतः सृष्टि के विषय में पर्जन्यवत् साधारणकारण होने से ईश्वर में पक्षपात या निष्ठुरता का कलङ्क नहीं लग सकता है। श्रुति कहती है—

पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन ।

बृहदरण्यकोपनिषद ३/२/१३

अर्थात् पुण्यकर्म द्वारा जीव को पुण्यलोक या सुखप्राप्ति और पापकर्म द्वारा पापलोक या दुःखप्राप्ति होती है। अब इसमें यह आपत्ति होती है कि यदि कर्मानुसार ही जीव को ईश्वर फल प्राप्त कराता है तो उसमें ऐश्वर्य कैसे समझा जाय? कर्म के अधीन हुआ वह सर्वशक्तिमान् और स्वतन्त्र कैसे कहला सकता है? यह आपत्ति अकिञ्चित्कर है। क्योंकि दग्ध वस्तु के न होने से अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, इसलिये अग्नि में दाहिका शक्ति नहीं है, ऐसा कहना मूर्खतापूर्ण होगा। दाहिकाशक्ति होने से ही अग्नि दाह्य वस्तुओं को दग्ध कर सकती है। जलादि में दाहिकाशक्ति नहीं है। इसलिये दाह्य वस्तुओं का संयोग होने पर भी जलादि उनको दग्ध नहीं कर सकते। इसी तरह से जड कर्म के नियामक सर्वशक्तिमान् ईश्वर में सर्वशक्तिमत्ता की अभाव-कल्पना नहीं हो सकती। प्रजाओं के कर्मानुसार राजा दण्ड, पुरस्कारादि प्रदान करते हैं। इसमें राजा में शक्ति या स्वतन्त्रता की अभाव-कल्पना नहीं हो सकती। इसी प्रकार से अनेक प्रमाणों तथा विचारों द्वारा वेदान्तदर्शन में ईश्वर की परमसत्ता जगच्चक्रपरिचालन के विषय में प्रमाणित की गई है। इस दर्शनसत्ता का स्वरूप क्या है, जिसको साधना के द्वारा साधकगण प्राप्त करते हैं? इसके उत्तर में वेदान्तदर्शन में लिखा है—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ।

ब्रह्मसूत्र १/१/१२

अर्थात् ईश्वर की वह सर्वव्यापक अद्वितीय सत्ता आनन्दमय है, जिसको साधना के द्वारा साधक प्राप्त कर सकते हैं। साधना के द्वारा ईश्वर कब प्राप्त होता है, इस विषय में वेदान्तदर्शन में कहा है—

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

ब्रह्मसूत्र ३/२/२४

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ।

ब्रह्मसूत्र ३/२/५

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो... हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।

ब्रह्मसूत्र ४/२/१७

अर्थात् योगिजन शक्ति, ध्यान, प्रणिधानादि द्वारा ईश्वर का दर्शन करते हैं। ईश्वर की साधना के द्वारा सिद्धि प्राप्त होने पर जीव का विस्मृत ब्रह्मभाव उसे भगवत्प्रसाद से प्राप्त हो जाता है। ज्ञानी साधक का हृदयाग्र प्रज्वलित होता है, जिसके प्रकाश से साधक को निर्गमन द्वार अर्थात् मुक्ति में प्रवेश द्वार विदित होता है। वह उपासक भगवत्कृपा से पूर्ण होकर उज्ज्वलित सुषुम्नापथ से निष्क्रान्त हो उत्तरायण या सहजगति से परमधाम को प्राप्त हो जाता है। यही ईश्वराराधन के द्वारा वेदान्तवर्णित निःश्रेयस् पदवी प्राप्ति का परम उपाय है। अतः वेदान्तदर्शन की आस्तिकता सहज सिद्ध है।

निष्कर्ष

वैदिक दर्शनों में ईश्वरसत्ताविषयक विचार के द्वारा यही सिद्धान्त निश्चित हुआ कि अपनी-अपनी ज्ञानभूमि के अनुसार सभी दर्शनों ने ईश्वरसत्ता को प्रतिपादित किया है और वह प्रतिपादन दार्शनिक भूमियों की क्रमोन्नति के अनुसार क्रमोन्नत होता हुआ अन्तिम दर्शन वेदान्त की अन्तिम भूमि में आकर पराकाष्ठा को प्राप्त हो गया है। आत्मा के इस प्रकार श्रुति-शास्त्र-विचार-सम्मत त्रिविधभाव और नित्य-शुद्ध-मुक्त निखिलकारण परम करुणामय स्वरूप की सम्यक् उपलब्धि होने पर मुमुक्षु जीव का संसाररूप बन्धन निरस्त हो जाता है। समस्त संशयजाल छिन्न-विच्छिन्न हो जाता है और राजयोगी को दुःखलवलेशविहीन नित्यानन्दमय परम पद में चिरविलीनता प्राप्त हो जाती है।

●

सांख्यदर्शन में ईश्वर : एक विश्लेषण

क्या सांख्यदर्शन ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है? इस प्रश्न का विश्लेषण यहाँ अभिप्रेत है। साधारणत: सबकी यह धारणा है कि सांख्य निरीश्वरवादी है। वह ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता है। इतना ही नहीं, वह ईश्वर के अस्तित्व को ही सर्वथा अस्वीकार करता है। इस धारणा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सांख्य के कुछ सूत्रों पर ही अवलम्बित है। उन सूत्रों के मर्म में प्रवेश न कर, केवल बाह्य दृष्टि से देखने पर यही प्रतीत होता है कि मानों वास्तविक रूप से सांख्यदर्शन ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता और जब हम यह देखते हैं कि सम्पूर्ण सांख्यदर्शन में किसी भी विषय को ईश्वर से सम्बन्धित कर समझाने की चेष्टा नहीं की गई तो हमारी यह धारणा और भी दृढ हो जाती है। परन्तु हम यहाँ यह दिखलाने की चेष्टा करेंगे कि सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में निरीश्वरता की धारणा सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। सांख्यसूत्रों की भ्रमयुक्त व्याख्या के कारण ही ऐसा हुआ है। नहीं तो, सांख्यदर्शन वेदान्तदर्शन के सदृश ही सेश्वर है, इसमें लवलेश भी सन्देह नहीं है।

'निरीश्वर' सांख्य का भ्रान्तिबीज

जिन सूत्रों के आधार पर सांख्य में निरीश्वरभाव की अभिव्यक्ति कही जाती है वे सांख्यप्रवचनसूत्र प्रथम अध्याय के ९२ से ९९ तथा पञ्चम अध्याय के २ से १२ सूत्र हैं। प्रथम अध्याय के सूत्र इस प्रकार हैं—

ईश्वरासिद्धेः । सांख्यसूत्र १/९२

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः । सांख्यसूत्र १/९३

उभयथाप्यसत्करत्वम् । सांख्यसूत्र १/९४

मुक्तात्मनः प्रशंसा, उपासा सिद्धस्य वा । सांख्यसूत्र १/९५

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् । सांख्यसूत्र १/९६

विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् । सांख्यसूत्र १/९७

सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः । सांख्यसूत्र १/९८

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ।

सांख्यसूत्र १/९९

पञ्चम अध्याय के सूत्र इस प्रकार हैं—

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः । सांख्यसूत्र ५/२

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् । सांख्यसूत्र ५/३

लौकिकेश्वरवदितरथा । सांख्यसूत्र ५/४

पारिभाषिको वा । सांख्यसूत्र ५/५

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् । सांख्यसूत्र ५/६

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः । सांख्यसूत्र ५/७

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः । सांख्यसूत्र ५/८

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् । सांख्यसूत्र ५/९

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः । सांख्यसूत्र ५/१०

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् । सांख्यसूत्र ५/११

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य । सांख्यसूत्र ५/१२

भ्रान्तिबीज का निराकरण

सांख्यदर्शन के इन दोनों अध्यायों के उक्त सूत्रों की भली-भाँति व्याख्या करने से ज्ञात होता है कि इन सूत्रों का मुख्य उद्देश्य ईश्वर के अस्तित्व को अप्रमाणित करना तो है ही नहीं, प्रत्युत ईश्वर के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है, यह दिखलाना भी नहीं है। प्रथम अध्याय के सूत्रों में जिस मुक्ति की कल्पना की गई है, उसका उद्देश्य केवल यही बतलाना है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष से ईश्वर का अस्तित्व नहीं दिखलाया जा सकता और सामान्यजन भी इन्द्रियों के द्वारा उसको नहीं जान सकते हैं।

इसी क्रम में प्रथम अध्याय के अधोलिखित—

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ।

सांख्यसूत्र १/९६

अर्थात् मणि के समान प्रकृति के साथ सान्निध्य होने से अधिष्ठातृत्व सिद्ध होता है।

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ।

सांख्यसूत्र १/९९

अर्थात् अन्तःकरण का उपचरित अधिष्ठातृत्व है, क्योंकि तप्त लोह की तरह चेतन से उज्ज्वलित रहता है।

सांख्यसूत्रों में तो स्पष्ट शब्दों में ही ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया है।

सांख्यदर्शन के उपरिनिर्दिष्ट पञ्चम अध्याय के सूत्रों का उद्देश्य स्पष्टतः ही भिन्न है। उनका उद्देश्य तो यह है कि प्रत्यक्ष सम्बन्ध से जगत् का वास्तविक कारण प्रकृति ही है, ईश्वर नहीं है। ईश्वर केवल परोक्षभाव से प्रकृति के साथ संयुक्त है और श्रुति भी यही कहती है कि साक्षात् सम्बन्ध से प्रकृति ही जगत् का कारण है। अतः ईश्वर के लिये प्रत्यक्ष सम्बन्ध से जगत् का कारण होने में कोई भी शास्त्रीय अथवा आगमप्रमाण नहीं है। अवश्य ही, ईश्वर को जगत् का गौण कारण कहा जा सकता है। क्योंकि प्रकृति ने ईश्वर सान्निध्य के कारण ही सृष्टि करने की शक्ति प्राप्त की है। परन्तु ईश्वर स्वरूपतः नित्यमुक्त और असङ्ग है।

अत एव यह अत्यधिक आश्चर्य की और हम लोगों के ज्ञान से परे की बात है कि अनिरुद्ध भट्ट, विज्ञानभिक्षु और महादेव के समान विज्ञ व्याख्याकारों ने पूर्वोक्त सूत्रों में एक ऐसे भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो केवल आश्चर्योत्पादक ही नहीं, प्रत्युत सांख्यसम्बन्धी अन्यान्य अधिक विश्वसनीय व्याख्याग्रन्थों से भी साम्य नहीं रखता है।

विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यसूत्रव्याख्या में विसङ्गति

अधिक क्या, यह व्याख्या विज्ञानभिक्षु के निम्नलिखित अपने ही वाक्यों से असम्बद्ध है। यहाँ सांख्यदर्शन की विज्ञानभिक्षुकृत भाष्य की भूमिका के दो वाक्यखण्ड उद्धृत किये जा रहे हैं। प्रथम अंश है—

तत्र श्रुतिभ्यः श्रुतेषु पुरुषार्थतद्धेतुज्ञानतद्विषयात्मस्वरूपादिषु श्रुत्यविरोधिनीरुपपत्तीः षडध्यायीरूपेण विवेकशास्त्रेण कपिलमूर्त्तिर्भगवानुपदिदेश ।

सांख्यप्रवचनभाष्य, भूमिका

अर्थात् 'कपिल मूर्त्तिधारी भगवान् ने इस विवेकशास्त्र द्वारा आत्मा-नात्मविवेक के सम्बन्ध में, श्रुति के अविरोधी इस छः अध्याय वाले ग्रन्थ का उपदेश किया था। दूसरा अंश है—

तस्य श्रुतस्य मननार्थमथोपदेष्टुं सद्युक्तिजालमिह सांख्यकृदाविरासीत्।
नारायणः कपिलमूर्त्तिरशेषदुःखहानाय जीवनिवहस्य नमोऽस्तु तस्मै ।।

सांख्यप्रवचनभाष्य, भूमिका

अर्थात् 'जीव के अशेष दु:खों को दूर करने के अभिप्राय से एवं वेदोपदिष्ट सत्य को जिसमें सब लोग प्राप्त कर सकें, इसी उद्देश्य से सम्पूर्ण शास्त्रों का उपदेश करने के लिये नारायणदेव कपिलमूर्ति धारण कर सांख्यप्रणेता के रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए, उनको मैं (विज्ञानभिक्षु) नमस्कार करता हूँ।'

इन उद्धृत वाक्यों से एक बात स्पष्ट है, वह यह कि स्वयं भगवान् ने भी यदि कपिल मूर्त्ति धारण कर सांख्यदर्शन का उपदेश किया था तो वे वेदविरुद्ध मत का प्रचार कैसे करते? क्योंकि वेद में ईश्वर का अस्तित्व अनेक स्थलों में स्पष्ट स्वीकृत है।

अन्य सांख्याचार्यों के अनुसार ईश्वर

स्मर्तव्य है कि तत्त्वसमास, पञ्चशिखाचार्यसूत्र और सांख्यकारिका में ऐसा कोई भी वाक्य नहीं है, जिससे ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार होता हो या ईश्वर के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा कहा गया हो। किञ्च देखने से सहज ही पता लगता है कि केवल उपर्युक्त वाक्यों में ही नहीं अपितु सांख्यप्रवचनसूत्र में भी ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण है। वे सांख्यसूत्र हैं—

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ।

सांख्यसूत्र ३/५६

अर्थात् क्योंकि कारण में विलीन हुआ व्यक्ति ही (सर्ववित्) अन्य सर्ग में सर्वव्यापक (सर्वकर्ता) आदि पुरुष होता है।

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ।

सांख्यसूत्र ३/५७

अर्थात् इस प्रकार के सिद्धिरूप में ईश्वर की सत्ता हमारे द्वारा सिद्ध की गई है।

यद्यपि व्याख्याकारों ने इन दोनों सूत्रों की व्याख्या भी दूसरी तरह से की है, किन्तु प्रकृत में इनका यथार्थ तात्पर्य यही है कि प्रकृति जिस आत्मा के अधीन होकर और जिसके प्रभाव से प्रभावान्वित होकर पुनः आविर्भूत होती है एवं सृष्टि करती है, वह आत्मा सर्वज्ञ और सर्वकर्ता ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।

सांख्यसम्मत ईश्वर में कर्तृत्वभाव की सङ्गति

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि श्रुतिवाक्यानुगामी सांख्य में ईश्वर को निष्क्रिय कहा है, अतः ईश्वर सर्वकर्त्ता कैसे हो सकता है? इसका साधारण उत्तर यह है कि जिस प्रकार राजा को युद्ध करने वाला कहा जाता है परन्तु वस्तुतः राजा युद्ध नहीं करता है। राजा के सैनिक ही राजा की आज्ञा के अधीन हो उसके निर्देशन में युद्ध करते हैं। उसी प्रकार प्रकृति ईश्वर के प्रभाव और उसके परिचालन में ही कार्य करती है। अतः ईश्वर को अन्ततः परोक्षरूप से सब कार्यों का और कर्तृत्व का मूल निर्झर कहा जा सकता है। यह तथ्य आगे स्पष्ट किया जायेगा कि वास्तव में ईश्वर ही प्रकृत कर्ता है, प्रकृति तो उसके हाथ का यन्त्रमात्र है।

योगदर्शन के परिप्रेक्ष्य में सांख्य की ईश्वरविषयिणी मान्यता

सांख्यदर्शनसम्बन्धी समधिक प्रामाणिक ग्रन्थ सांख्यकारिका में ही ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण मिलता है। ईश्वरकृष्ण ने दसवीं एवं ग्यारहवीं कारिकाओं में स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार जगत् में एक परमा प्रकृति है, उसी प्रकार एक परम पुरुष भी है। कारिकाएँ हैं—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ।।
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ।।

सांख्यकारिका १०-११

यदि हम सांख्यसूत्र का प्रमाण स्वीकार करें तो उसमें भी उपर्युक्त विषय पर अधोलिखित सूत्रों में इसी सिद्धान्त को निर्धारित किया है—

उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ।

सांख्यसूत्र १/१५०

उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान् । सांख्यसूत्र १/१५१

एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः ।

सांख्यसूत्र १/१५२

अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात् । सांख्यसूत्र १/१५३

नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् । सांख्यसूत्र १/१५४

इस परिप्रेक्ष्य में पातञ्जलयोगसूत्र द्रष्टव्य है। सभी विद्वान् योगसूत्र को सांख्यदर्शन का एक अत्यावश्यक परिशिष्ट मानते हैं और उसको सांख्यदर्शन ही कहते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में तीन सौ पाँच से तीन सौ सात अध्यायपर्यन्त वशिष्ट मुनि ने और तीन सौ सोलह अध्याय में याज्ञवल्क्य ऋषि ने यही बात कही है। अत एव यह कहना व्यर्थ है कि सांख्यदर्शन को भली-भाँति समझने के लिये योगदर्शन का सम्पूर्ण ज्ञानविशेष आवश्यक है और योगसूत्र का व्यासभाष्य केवल योगसूत्र समझने के लिये ही अत्यन्त आवश्यक नहीं है, परन्तु समग्र सांख्यदर्शन को आत्मसात् करने के लिये भी उसकी अत्यन्त आवश्यकता है। व्यासभाष्य योगसूत्र की सर्वोत्कृष्ट व्याख्या है।

साधारणतः पातञ्जलयोगदर्शन को सेश्वरसांख्य और कापिलसांख्यदर्शन के निरीश्वरसांख्य कहा जाता है। परन्तु ऐसा विभाग युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि यह तो पूर्व निश्चित किया जा चुका है कि कापिलसांख्य निरीश्वर नहीं है। महाभारत से भी सिद्ध होता है कि सांख्य और योगदर्शन में कोई पार्थक्य नहीं है। दोनों एक ही उपदेश देते हैं। सम्भवतः इस भेदबुद्धि का कारण सांख्यप्रवचन के कुछ सूत्रों की भ्रान्त व्याख्या ही है। अथवा कापिलसांख्य में जीव की मुक्ति के लिये ईश्वर को स्वीकार न करना और सेश्वर सांख्य में ईश्वर की आवश्यकता स्वीकार करना, यही समझना पड़ेगा। पातञ्जलयोग-दर्शन में अनेकों स्थलों पर इस प्रकार आवश्यकता से अधिक बल दिया है। वे सूत्र हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः । योगसूत्र १/३२

तस्य भूमिषु विनियोगः । योगसूत्र ३/६

इन सूत्रों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीव की मुक्ति के लिये पातञ्जलदर्शन में ईश्वर का अस्तित्व और उसकी आवश्यकता स्वीकार की गई है और यह भी स्पष्ट है कि इसमें परमपुरुष और जीवपुरुष ये दो प्रकार के पुरुष स्वीकार किये गये हैं। यहाँ यह जानने योग्य है कि पातञ्जलयोगदर्शन में कहीं यह नहीं कहा गया है कि मनुष्य की मुक्ति के लिये ईश्वर की एकान्त ही आवश्यकता है। केवल भक्तिविशेष के द्वारा ईश्वर की उपासना करने से उनकी मुक्ति निकटतम होती है। मुक्ति-प्राप्ति के अन्यान्य उपाय भी हैं, जिनमें ईश्वर की उपासना प्रधान है। इसमें समाधिपाद के दो सूत्र मुख्यरूप से द्रष्टव्य हैं—

तीव्रसंवेगामासन्नः । योगसूत्र १/२१

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ।

योगसूत्र १/२२

निष्कर्षतः इस विषय में सांख्य और पातञ्जलदर्शन में कोई विशेष पार्थक्य नहीं है।

महाभारत के अनुसार 'सेश्वर' सांख्य

महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत तीन सौ एक से तीन सौ अठारह अध्यायपर्यन्त सांख्यदर्शन पर एक सुन्दर वर्णन मिलता है। तीन सौ एक अध्याय में सांख्यदर्शन की बहुत प्रशंसा की गई है और सांख्यज्ञान का भी अतिविस्तृत वर्णन है। यहाँ तक कि सांख्यज्ञान को स्वयं ब्रह्म ही बतलाया गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि सांख्य में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकृत करना तो दूर रहा, इसमें वर्णित ज्ञान को स्वयं ईश्वर से एकीभूत किया गया है और उसे ईश्वर का मूर्त स्वरूप ही बतलाया है। यहाँ तक लिखा है कि वेद में जो ईश्वरज्ञान की बातें हैं, वे भी सांख्य से ही ली गई हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व के तीन सौ दो अध्याय के अड़तीस से बयालीस तक श्लोकों में वशिष्ठ मुनि के कथन से ऊपर का मत अधिक समर्थित हो जाता है। वे श्लोक हैं—

पञ्चविंशतिमो विष्णुर्निस्तत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः ।
तत्त्वसंश्रयणादेतत् तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ।।

महाभारत, शान्तिपर्व ३०२/३८

अर्थात् इन चौबीस तत्त्वों से परे जो भगवान् विष्णु (सर्वव्यापी परमात्मा) हैं, उन्हें पच्चीसवाँ तत्त्व कहा गया है। तत्त्वों को आश्रय देने के कारण ही मनीषी पुरुष उन्हें तत्त्व कहते हैं।

यन्मर्त्यमसृजद् व्यक्तं तत्तन्मूर्त्यधितिष्ठति ।
चतुर्विंशतिमोऽव्यक्तो ह्यमूर्तः पञ्चविंशकः ।।

महाभारत, शान्तिपर्व ३०२/३९

अर्थात् महत्तत्त्व आदि व्यक्त पदार्थ जिन मरणशील (नश्वर) पदार्थों की सृष्टि करते हैं, वे किसी न किसी आकार या मूर्ति का आश्रय लेकर स्थित होते हैं। गणना करने पर चौबीसवाँ तत्त्व है अव्यक्त प्रकृति और पच्चीसवाँ है निराकार परमात्मा।

स एव हृदि सर्वासु मूर्तिष्वातिष्ठतेऽऽत्मवान् ।
केवलश्चेतनो नित्यः सर्वमूर्तिरमूर्तिमान् ।।

महाभारत, शान्तिपर्व ३०२/४०

अर्थात् जो अद्वितीय, चेतन, नित्य, सर्वस्वरूप, निराकार एवं सबके आत्मा हैं, वे परम पुरुष परमात्मा ही समस्त शरीरों के हृदयदेश में निवास करते हैं।

सर्गप्रलयधर्मिण्या असर्गप्रलयात्मकः ।
गोचरे वर्तते नित्यं निर्गुणं गुणसंज्ञितम् ।।

महाभारत, शान्तिपर्व ३०२/४१

अर्थात् यद्यपि सृष्टि और प्रलय प्रकृति के ही धर्म हैं। पुरुष तो उनसे सर्वथा सम्बन्धरहित है तथापि उस प्रकृति के संसर्गवश पुरुष भी उस सृष्टि और प्रलयरूप धर्म से सम्बद्ध सदृश प्रतीत होता है। इन्द्रियों का विषय न होने पर भी इन्द्रियगोचर सा हो जाता है तथा निर्गुण होने पर भी गुणवान् सदृश प्रतीत होता है।

एवमेष महानात्मा सर्गप्रलयकोविदः ।
विकुर्वाणः प्रकृतिमानभिमन्यत्यबुद्धिमान् ।।

महाभारत शान्तिपर्व, ३०२/४२

अर्थात् इस प्रकार सृष्टि और प्रलय के तत्त्व को जानने वाला यह महान् आत्मा अविकारी होकर भी प्रकृति से संसर्ग से युक्त हो विकारवान् सदृश हो जाता है एवं प्राकृत बुद्धि से रहित होने पर भी शरीर में आत्माभिमान कर लेता है।

इसी शान्तिपर्व के तीन सौ पाँच अध्याय के अधोलिखित श्लोकों में भी वशिष्ठ जी ने ईश्वर के अस्तित्व को अधिकतर स्पष्टभाव से स्वीकार किया है। वे श्लोक हैं—

गुणा गुणवतः सन्ति निर्गुणस्य कुतो गुणाः ।
तस्मादेवं विजानन्ति ये जना गुणदर्शिनः ।।
यदा त्वेष गुणानेतान् प्राकृतानभिमन्यते ।
तदा स गुणहान्यै तं परमेवानुपश्यति ।।

महाभारत, शान्तिपर्व ३०५/२९-३०

अर्थात् गुण तो गुणवान् में ही रहते हैं। निर्गुण आत्मा में गुण कैसे रह सकते हैं? अतः गुणों के स्वरूप को जानने वाले विद्वान् पुरुषों का यही सिद्धान्त है कि जब जीवात्मा इन गुणों को प्रकृति का कार्य मानकर उनमें अपनेपन का अभिमान त्याग देता है, उस समय वह देह आदि में आत्मबुद्धि का परित्याग करके अपने विशुद्ध परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है।

पञ्चविंशतिनिष्ठोऽयं यदा सम्यक् प्रवर्तते ।
एकत्वं दर्शनं चास्य नानात्वं चाप्यदर्शनम् ।।

महाभारत, शान्तिपर्व ३०५/३७

अर्थात् जब यह पुरुष पच्चीसवें तत्त्वस्वरूप परमात्मा में स्थित हो जाता है, तब उसकी स्थिति उत्तम बताई जाती है। वह ठीक व्यवहार करता है, ऐसा माना जाता है। एकत्वबोध ही ज्ञान है और नानात्वबोध ही अज्ञान है।

तत्त्वनिस्तत्त्वयोरेतत् पृथगेव निदर्शनम् ।
पञ्चविंशतिसर्गं तु तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ।।
निस्तत्त्वं पञ्चविंशस्य परमाहुर्निदर्शनम् ।
सर्गस्य वर्गमाधारं तत्त्वं तत्त्वात् सनातनम् ।।

महाभारत, शान्तिपर्व ३०५/३८-३९

अर्थात् तत्त्व (क्षर) और निस्तत्त्व (अक्षर) का यह पृथक्-पृथक् लक्षण समझना चाहिए। कुछ मनीषी पुरुष पच्चीस तत्त्वों को ही तत्त्व कहते हैं, परन्तु दूसरे विद्वानों ने चौबीस जड तत्त्वों को तो तत्त्व कहा है और पच्चीसवें चेतन परमात्मा को निस्तत्त्व (तत्त्व से भिन्न) बतलाया है। यह चैतन्य ही परमात्मा का लक्षण है। महत्तत्त्व आदि जो विकार हैं वे क्षरतत्त्व हैं। और परम पुरुष परमात्मा उन 'क्षर' से भिन्न उनका सनातन आधार है।

इसी क्रम में जनक और याज्ञवल्क्य के कथोपकथन में भी सांख्य के सम्बन्ध में हम इस एक ही सिद्धान्त को समर्थित पाते हैं। यहाँ कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं—

कतीन्द्रियाणि विप्रर्षे कति प्रकृतयः स्मृताः ।
किमव्यक्तं परं ब्रह्म तस्माच्च परतस्तु किम् ।।

महाभारत, शान्तिपर्व ३१०/५

राजा जनक याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते हैं—ब्रह्मर्षे! इन्द्रियाँ कितनी हैं? प्रकृति के कितने भेद माने गये है? अव्यक्त क्या है? और उससे परे परब्रह्म परमात्मा का क्या स्वरूप है?

याज्ञवल्क्य राजा जनक को बतलाते हैं—

एवं हि परिसंख्याय ततो ध्यायन्ति केवलम् ।
विरजस्कमलं नित्यमनन्तं शुद्धमव्रणम् ।।
तस्थुषं पुरुषं नित्यमभेद्यमजरामरम् ।
शाश्वतं चाव्ययं चैव ईशानं ब्रह्म चाव्ययम् ।।

महाभारत, शान्तिपर्व ३१६/१६-१७

अर्थात् इस प्रकार सबका लय करके योगी पुरुष केवल उस परमात्मा का ध्यान करते हैं, जो रजोगुण से रहित, निर्मल, नित्य, अनन्त, शुद्ध,

छिद्ररहित, कूटस्थ, अन्तर्यामी, अभेद्य, अजर, अमर, अविकारी सबका शासन करने वाला और सनातन ब्रह्म है।

महर्षि याज्ञवल्क्य बतलाते हैं—

पृथक् पृथक् प्रपश्यन्ति येऽप्यबुद्धिरता नराः ।
वयं तु राजन् पश्याम एकमेव तु निश्चयात् ।।

महाभारत, शान्तिपर्व ३१६/३

अर्थात् हे राजन्! जो मनुष्य अज्ञानपरायण हैं वे ही सांख्य और योग इन दोनों शास्त्रों को सर्वथा भिन्न मानते हैं। हम तो विचार के द्वारा पूर्ण निश्चय करके दोनों को एक ही समझते हैं। इससे दोनों शास्त्रों की सेश्वरता सिद्ध होती है।

महाभारत में सेश्वरसांख्यविषयिणी आशङ्का का निराकरण

महाभारत में कुछ ऐसे श्लोक मिलते हैं, जिनसे सेश्वर सांख्य होने के विषय में आशङ्का होती है—

पञ्चविंशात् परं तत्त्वं पठ्यते न नराधिप ।
सांख्यानां तु परं तत्त्वं यथावदनुवर्णितम् ।।
बुद्धमप्रतिबुद्धत्वाद् बुध्यमानं च तत्त्वतः ।
बुध्यमानं च बुद्धं प्राहुर्योगनिदर्शनम् ।।

महाभारत, शान्तिपर्व ३०७/४७-४८

अर्थात् नरेश्वर! सांख्यशास्त्र के आचार्य पच्चीसवें तत्त्व से परे और किसी तत्त्व का वर्णन नहीं करते हैं। यह मैंने सांख्यों के परम तत्त्व का यथावत् रूप से वर्णन किया है।

जो नित्य ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा है, वही बुद्ध है तथा जो परमात्मतत्त्व को न जानने के कारण जिज्ञासु जीवात्मा है, उसकी बुध्यमान संज्ञा होती है। इस प्रकार योग के सिद्धान्त के अनुसार बुद्ध (नित्य ज्ञानसम्पन्न परमात्मा) और बुध्यमान (जिज्ञासु जीव)—ये दो चेतन माने गये हैं।

परतु वस्तुस्थिति यह नहीं है, ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि पच्चीस तत्त्व के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व को अर्थात् ब्रह्म या ईश्वर

के अस्तित्व को सांख्य ने स्पष्ट स्वीकार किया है। इन दोनों विरोधी बातों का सामञ्जस्य अनेक प्रकार से किया जा सकता है।

प्रथम युक्ति यह है कि इन दोनों श्लोकों में पाठभेद ही हो सकता है। द्वितीय युक्ति के अनुसार इनका प्रक्षिप्त होना भी सम्भव है। तृतीय युक्ति यह है कि पूर्वकथित श्लोकों से इनका सम्पूर्ण असामञ्जस्य भी नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त श्लोकों का यह अर्थ हो सकता है कि पच्चीस तत्त्व हैं। अर्थात् पुरुष ही परम तत्त्व है और जो इनके ऊपर है वह निस्तत्त्व है। उसी का दूसरा नाम ईश्वर या ब्रह्म है। अत एव यदि सांख्य पच्चीस तत्त्व के अतिरिक्त अन्य एक तत्त्व को न भी स्वीकार करे तो भी किसी प्रकार की विसङ्गति नहीं होती। सांख्य के पूर्व सूत्रों में यह स्पष्ट लिखा है कि सम्पूर्ण तत्त्व (यहाँ तक जीव भी) परम पुरुष का ही सर्ग है। अत: यदि सांख्य परम पुरुष को किसी भी तत्त्वरूप से न स्वीकार करे तो इसमें कोई दोष की बात नहीं है। फिर पूर्व सूत्रों में यह भी स्पष्ट कहा है कि जीव (जो पच्चीसवाँ तत्त्व है) त्रिगुणी या त्रिगुणान्वित ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, इस उपाधि के त्याग करने पर जीव की ईश्वर के साथ एकता हो सकती है। यों कहकर यदि सांख्य ईश्वर को एक अतिरिक्त तत्त्व न माने तो इससे कोई विशेष हानि नहीं होती, असामञ्जस्य की तो कोई बात ही नहीं। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि पूर्वोक्त सूत्रों में दृढता के साथ भूयोभूय: यह कहा गया है कि सांख्य और योग एक हैं। अर्थात् दोनों का एक ही विषय है। योगदर्शन में ईश्वर के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा गया है, इससे यह ज्ञात होता है कि यद्यपि सांख्य साक्षात् सम्बन्ध से ईश्वर के विषय में कुछ नहीं कहता (यद्यपि यह सत्य नहीं है) तो भी अन्तत: वह परोक्षभाव से ईश्वर को स्वीकार करता है। अस्वीकार करने की तो कोई शङ्का ही नहीं है। इस विवेचन से सेश्वरसांख्यविषयिणी आशङ्का का निराकरण हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार 'सेश्वर' सांख्य

श्रीमद्भगवद्गीता में सेश्वर सांख्य का प्रतिपादन हुआ है। इसमें जीव के स्वभाव, जीव एवं ईश्वर के सम्बन्ध में सांख्य के मत का भली-भाँति वर्णन किया गया है। भगवद्गीता के अनुसार सांख्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है और जीव ईश्वर का ही बहुधा प्रकाशमात्र है। दूसरे शब्दों

में जीव त्रिगुणी या त्रिगुणान्वित ईश्वर है। गीता के द्वितीय अध्याय से कुछ श्लोक उद्धृत किये जा रहे हैं—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।

भगवद्गीता २/२४-२५

द्वितीय अध्याय की समाप्ति में श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति आत्मसम्बन्धी उपसंहृत उपदेश है कि हे अर्जुन! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है। इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकाल में भी इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है। वचन है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।

भगवद्गीता २/७२

भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय के दो श्लोक प्रासङ्गिक हैं—

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाऽप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ।।
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।

भगवद्गीता १३/२२,२७

अर्थात् इस देह में स्थित यह आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। वही साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करने वाला होने से भर्ता, जीवरूप से भोक्ता, ब्रह्मा आदि का भी स्वामी होने से महेश्वर तथा शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा ऐसा कहा गया है।

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में परमेश्वर को नाशरहित और समभाव से स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है। भगवद्गीता के

चौदहवें अध्याय में लिखा है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।

भगवद्गीता १४/३-४

अर्थात् हे अर्जुन! मेरी महत्-ब्रह्मरूप मूलप्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और मैं उस योनि में चेतनसमुदाय रूप गर्भ को स्थापन करता हूँ। उस जड-चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।

नाना प्रकार की सब योगियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं, प्रकृति तो उन सबकी गर्भ धारण करने वाली माता है और मैं बीज को स्थापन करने वाला पिता हूँ।

श्रीमद्भागवत के अनुसार 'सेश्वर' सांख्य

श्रीमद्भागवत के कपिल और देवहूति संवाद में जो सांख्य का वर्णन मिलता है, उसमें भी हम ईश्वरास्तित्व के सम्बन्ध में यही बता पाते हैं—

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ।।
अहंममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः ।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम् ।।
तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम् ।
निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम् ।।

श्रीमद्भागवत ३/२५/१५-१७

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ।।
स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः ।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ।।

तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् ।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ।।

श्रीमद्भागवत ३/२६/३-४,७

उपनिषद्वाङ्मय में 'सेश्वर' सांख्य

उपनिषद् भी 'सेश्वर' सांख्य का समर्थन करते हैं। उपनिषद् का दर्शनतत्त्व सांख्य से ही गृहीत है। यहाँ यही कहा गया है कि सांख्य निरीश्वरवाद या अज्ञेयवाद का उपदेश नहीं करता, परन्तु ईश्वर के अस्तित्व का ही प्रत्यक्षरूप से प्रतिपादन करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से सांख्यदर्शन में सेश्वरवाद की स्थापना होती है।

●

योगविद्या का चिकित्सकीय आयाम : एक दार्शनिक चिन्तन

योगविद्या शरीर, मन, वाक् का केवल चिकित्साविज्ञान नहीं है, अपितु चिकित्सेतर समाधान भी है। यह मोक्षदायिनी नैष्ठिकी चिकित्सापद्धति है। यह वेदानुमोदित चिकित्सा विधि है। अत: योगविद्या का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष युग-युगान्त तक मानव मेधा को अनुप्राणित करता रहा है। यह कालजयी योगविद्या है। इस योगविद्या के अनुशीलन ने मानव को ऋषि-महर्षि-राजर्षि-ब्रह्मर्षि की सर्वोच्च उपाधि से समलङ्कृत ही नहीं किया है, अपितु उनकी तप:पूत लेखनी से नि:सृत शास्त्रों ने शाश्वत एवं चिरन्तन सैद्धान्तिक कीर्तिमान् स्थापित किये हैं। **'ज्योतिषां ज्योति:'** स्वरूप आदित्य की भाँति **'विद्यायां विद्या'** स्थानीय यह योगविद्या है।

विषय-विस्तार

महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र को योगविद्या का मार्गदर्शक ज्योतिस्तम्भ कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। पतञ्जलि के योगसूत्र ने ही योगविद्या को दर्शनशास्त्र की परिधि में प्रतिष्ठित किया है। उसकी अध्यात्मिक महनीयता को स्वीकारोक्ति प्रदान की है।

'योग' यत: तर्क का विषय नहीं, अपितु साक्षात्कार का विषय है, अत: इसकी व्याख्या सरल नहीं है। फिर भी हमारे ऋषि-मुनियों ने जो कुछ साक्षात्कार किया और अनुभव किया, उसे सभी के लिये ग्राह्य एवं उपयोगी बनाने के लिये क्रमिक अभ्यास की विधियों सहित इसे तार्किक एवं सुदृढ पद्धति से प्रतिपादित किया कि आज के वैज्ञानिक युग में भी योगविद्या सर्वमान्य एवं लोकप्रिय सिद्ध हो रही है। इस शास्त्र की स्पृहणीयता की वृद्धि का मुख्य कारण यह है कि आत्मज्ञान की प्राप्ति के चरम साध्य का साधन; अपने आनुषङ्गिक फलों के कारण, साध्यकोटि में पहुँच गया है। आधि-व्याधि-प्रशमन में सहायकीभूता योगविद्या को रोगप्रशमन एवं स्वास्थ्य परिरक्षण की दिशा में चिह्नित किया जा रहा है।

आज योग मात्र आश्रमों तथा साधु-सन्तों तक ही सीमित नहीं रह गया है, अपितु विगत कुछ दशकों में इसने हमारे दैनिक जीवन में अपना स्थान बना लिया है और विश्व स्तर पर इसके प्रति लोगों की जागरूकता बढ़ी है और इसे स्वीकार भी किया गया है। योगविज्ञान और उसकी विधियों को सम्प्रति आधुनिक समाज की आवश्यकताओं एवं जीवनशैली के अनुरूप बनाते हुए उनको दैनिक जीवन में समावेश करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिससे मनुष्य तनावमुक्त, कष्टमुक्त, स्वस्थ, सन्तुष्ट एवं श्रेष्ठ जीवन व्यतीत कर पायें। आधुनिक चिकित्साविज्ञान सहित औषधिविज्ञान की विभिन्न शाखाओं के विशेषज्ञों ने रोगनिवारण, रोगों से रक्षा करने एवं स्वास्थ्य के प्रति लोगों को प्रोत्साहित करने में इन विधियों की भूमिका की सराहना की है।

योगानुशीलन से रोग की प्रतिरोधक क्षमता की दृश्यता का स्तर स्फुट है। देहयष्टि ही इसका प्रबल मापक यन्त्र है। योग से शरीर की रोगप्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। योग के वैज्ञानिक प्रयोगों एवं सफलताओं को स्वयं अनुभव किया जा सकता है। भारतीय चिकित्सा पद्धति में योग-चिकित्सा मील का पत्थर सिद्ध हुई है। भोग, रोग और योग की प्रकृति भले ही पृथक्-पृथक् हो किन्तु तीनों का प्रत्यय (ज्ञान) एक है। यदि व्यक्ति का मन नियन्त्रित हो तो वह योगी कहलाता है, जब कि अनियन्त्रित मन वाले व्यक्ति को भोगी कहते हैं। भोगी को ही तरह-तरह के रोगों का सामना करना पड़ता है। रोगाधिक्य भोगी को रोगी बना देता है। योगी भोग और रोग से अप्रभावित रहता है।

योगः मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था

मानवीय मूल्यों के प्रति आस्थावान् व्यक्ति ही में 'योग' का सकारात्मक प्रभाव दृष्टिगत होता है, अन्यथा 'योग' की चर्चा भी अप्रासङ्गिक प्रतीत होती है। मानवीय मूल्यों के प्रति अनास्था अपने आप में एक समस्या है। अनैतिकता-प्रधान युग में मानवीय मूल्यों का अनुपालन कठिन हो सकता है, किन्तु असम्भव नहीं। जो व्यक्ति कोलाहल के मध्य रहकर उसके शब्दों को अर्थहीन बना देता है, उस पर कोई कोलाहल प्रभावी नहीं हो सकता। नैतिक योगियों के मध्य रहकर जो अनीति के प्रभाव को निस्तेज कर

दे, वही उस व्यक्ति के योगानुशीलन एवं चिन्तन की सार्थकता है। जो व्यक्ति जीवन्त व्यक्तित्व से जुड़ा हुआ है, वह कभी टूटता नहीं, अपितु उसके व्यक्तित्व-भङ्ग के निमित्त बनने वाली परिस्थितियाँ स्वयं शिथिल हो जाती हैं।

कल्पित सन्देह से मनुष्य जितना टूटता है, वास्तविकता उसे उतना नहीं तोड़ती। अब अपेक्षा है कि सन्देह की स्थिति को समाप्त कर यथार्थ की अनुभूति करना तथा नैतिक और आध्यात्मिक आस्थाओं की निर्मिति के लिये जागरूक रहना। नैतिक मूल्यों के आधार पर ही मनुष्य उच्चता का अनुभव कर सकता है और मानवीय प्रकाश पा सकता है। यही योग द्वारा प्रतिपादित चिकित्सकीय शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वस्थता है। सूत्र है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

योगसूत्र १/३

योग का परिचय

दर्शन की छः आस्तिक पद्धतिंयों में योग एक है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्रों में योग के विभिन्न पहलुओं को क्रमबद्ध रूप से और परिष्कृत पद्धति से इस प्रकार प्रतिपादित किया है कि योग और समाधि का कोई पक्ष अव्यक्त न रह जाय और साधकों के लिये सर्वत्र और सर्वविधि उपयोगी सिद्ध हो। उन्होंने मानव जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिये योग के आठ अङ्गों का प्रतिपादन किया, जो अष्टाङ्गयोग नाम से लोकप्रिय हैं। ये हैं—यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि। सूत्र है—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।

योगसूत्र २/२९

यम—नियमन (हिंसादि वृत्तियों पर नियन्त्रण) ।

नियम—प्रवर्तन (शारीरिक एवं मानसिक संशुद्धि) ।

आसन—शारीरिक शक्ति-संवर्धन ।

प्राणायाम—प्राणवायु का पुष्टिवर्धन ।

प्रत्याहार—इन्द्रियों को विषयाहार से पराङ्मुख कर उनकी बहिर्मुखता पर नियन्त्रण।

धारणा—चिन्तन (चित्त की ध्येयविषयिणी एकाग्रता)।

ध्यान—चिन्तन की प्रगाढ़ता (ध्याता-ध्यान-ध्येय की अनुभवता)।

समाधि—चिन्तन की परिपूर्णता (ध्याता-ध्यानविरहित ध्येयमात्र की अनुभवता)।

त्रिदण्डाधारित योगामृतकुम्भ

अष्टाङ्गयोग की प्रकृति के अनुसार योग के ये आठ अङ्ग त्रिवर्ग में विभाजित हैं—प्रथम वर्ग यम-नियम, द्वितीय वर्ग आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार तथा तृतीय वर्ग धारणा-ध्यान-समाधि। योगरूप इक्षुरस के ये तीन पर्व हैं। पर्वस्थानीय इस त्रिदण्ड पर योगामृतकुम्भ स्थापित है।

शब्दान्तर में योगरूपी ध्वजा का शुद्ध सात्त्विक श्वेतरूप यम-नियम, शारीरिक सम्प्रभुता का हरितरूप आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार तथा आत्मिक शान्ति का केसररूप धारण-ध्यान-समाधि है। ये भारतीय पताका स्थानीय हैं। पतञ्जलि की योगसंहितारूपी वैजयन्ती त्रिवर्णी है तथा मन-शरीर-आत्म-शोधन की साधनभूमि है।

योग के अष्टाङ्गों में सापेक्षता का सिद्धान्त

योग की प्रयोगशाला में परीक्षित योगाङ्गों का वैज्ञानिक क्रम सापेक्षता के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। ये परस्पराश्रित पूरक साधन हैं। प्रमाणित तथ्य है कि शारीरिक सौन्दर्य को पराजित करता है—भावसौन्दर्य। शुद्धसत्त्वस्थानीय श्रवण-मनन-निदिध्यासन को भावसौन्दर्य का स्रोत कहा जाता है। हमारे मन के भाव मुखदर्पण में प्रतिफलित होते हैं। मन की हिंस्यवृत्ति यदि मुखाकृति को विकृत करती है तो कारुण्यवृत्ति सौन्दर्याधारक भी होती है। अतः महर्षि पतञ्जलि ने चित्तभूमि को भावशुद्धि द्वारा योगोपयोगी बनाने पर बल दिया है। इस दिशा में यम-नियम की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। योग के यम-नियमादि आठ अङ्गों के अभ्यासकाल में विखण्डन अथवा व्यतिक्रम पतञ्जलि को कथमपि मान्य नहीं है। अन्यथा योगविज्ञान पर प्रश्नचिह्न लग जायेगा।

जिस प्रकार धनुर्विद्या का अभ्यासी प्रथमतः स्थूल लक्ष्य का भेदन करता है, तदनन्तर सूक्ष्म लक्ष्य का प्रतिसंधान करता है। ऐसे ही प्रायोगिक

योगविद्या का अभ्यासी मानस शुचिता एवं शारीरिक सुदृढता के क्रम से उस चिन्तनजगत् में प्रवेश करता है जहाँ योगसाधना की सर्वोच्च भूमि को प्राप्त कर उपाधि-विरहित अपने नैसर्गिक स्वरूप 'केवलता' 'स्वरूपप्रतिष्ठा', 'स्वस्वरूपावस्थिति' में प्रतिष्ठित होकर 'मुक्त' कहलाता है। अध्यात्मजगत् की यह सर्वोपरि अवस्था है, जहाँ से साधक को पुन: संसार में प्रत्यावर्तित नहीं होना पड़ता है। यहीं पतञ्जलि की योगयात्रा पूर्ण होती है। सूत्र है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।

योगसूत्र ४/३४

योगाङ्गों में अन्तर्सङ्गति

साधन के खण्डित होने से साध्य भी विखण्डित हो जाता है, यह अनुभववेद्य ध्रुवसत्य है। पतञ्जलि को योग के आठ अङ्गों की अन्तर्सङ्गति का विखण्डन असह्य है। यम-नियमरूप 'भक्ति' से अभिसिञ्चित आसन-प्राणायाम-प्रत्याहाररूप 'कर्मबीज' धारणा-ध्यान-समाधिरूप 'ज्ञानफल' का जनक होता है। शब्दान्तर में यज्ञजनित स्वर्गप्राप्ति में जैसे 'अपूर्व' (अदृष्ट) मध्यवर्ती साधन है, अनुभवजनित स्मृतिज्ञान में जैसे 'संस्कार' अवान्तरसाधन है, वैसे ही यम-नियमजनित समाधिलाभ में आसनादित्रय अवान्तरसाधन हैं। अन्यथा अवान्तरव्यापार की परिकल्पना का क्रमिक दार्शनिक पक्ष 'सोपानारोहणन्याय'-भङ्ग की भाँति विखण्डित हो जायेगा। तब दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति का सिद्धान्त भी काल्पनिक प्रतीत होने लगेगा। योग के अभ्यासियों में यम-नियम के प्रति जागरित उपेक्षाभाव ने योगविद्या के समग्र फल को प्रभावित कर योग को 'योगाभास' की अपश्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया है। यह अत्यन्त चिन्ता का विषय है। अत: इस पनपते भ्रान्तिबीज को दग्धभावापन्न बनाना अत्यन्त आवश्यक है।

योग की परिभाषा

योग एक ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी अन्तर्निहित शक्तियों को सन्तुलित रूप से विकसित कर सकता है। योग पूर्ण स्वानुभूति कराने के साधनों को प्रदान करता है।

संस्कृत में 'योग' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'जोडना' है। तदनुसार आत्मा को सर्वव्यापी परमात्मा से जोडने के साधन के रूप में योग को

परिभाषित किया जा सकता है। योग की यह परिभाषा उपनिषदों में मिलती है। उपनिषद्वाङ्मय का एक बहुत बड़ा भाग जीवात्मा-परमात्मा के वर्णन में व्यतीत होने के कारण उसका प्रभाव **'युजिर् योगे'** धातु से निष्पन्न योग के 'संयोग' अर्थ पर भी पड़ा।

दर्शनयुग में व्यक्ति को केन्द्रबिन्दु में रखकर योगविद्या को परिभाषित किया गया और **'युज समाधौ'** धातु से योग को समाध्यर्थक मानकर उसे व्यक्तिसाधना अर्थात् व्यक्ति-उत्थान की परिधि में रखा गया। पतञ्जलि की व्यष्टिपरक दृष्टि साधक को कैसे समाधिलाभ हो सके, तक केन्द्रित रही। अत: पतञ्जलि ने योग को चित्तवृत्तियों का निरोध बतलाया। सूत्र है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

योगसूत्र १/२

पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग अधिक व्यावहारिक है क्योंकि उसने मेधा के उस निषेधात्मक पक्ष को भी समीकृत किया है, जो जीवात्मा-परमात्मा तत्त्व को स्वीकार न कर केवल चित्त के विकास पर बल देता है। समाध्यर्थक योग में समस्त चिन्तनधाराओं का समावेश हो जाता है।

अथ च समन्वयात्मक दृष्टि यह निर्धारित करती है कि **युजिर् योगे** धातु से निष्पन्न औपनिषदिक योग तथा **युज समाधौ** धातु से निष्पन्न पतञ्जलिपरिभाषित योग में अन्तर्सङ्गति लगाने में कोई वचतोव्याघात नहीं होता है। क्योंकि अंश का अंशी में, स्फुलिङ्ग का अग्नि में, जीव का परमात्मा में समाविष्ट होना योगसाधना का जैसे चरम फल है, वैसे ही औपनिषद योग की साधना-पद्धति पातञ्जलयोग के अत्यन्त समीप है। दोनों शास्त्रों की एक वाक्यार्थता अखण्डित है।

योग के प्रकार

सर्ववृत्तिनिरोधरूप योग साधनाक्रम की दृष्टि से दो प्रकार का है— प्रथम सम्प्रज्ञात तथा द्वितीय असम्प्रज्ञात।

साध्यभूत योग का साधन अष्टाङ्गयोग है। किन्तु साध्य-साधन में अभेदविवक्षा होने से यम आदि को भी योग कहा गया है।

इस प्रसङ्ग में यह बतलाना अप्रासङ्गिक न होगा कि योगसूत्र के टीकाकार नारायणतीर्थ ने योगसिद्धान्तचन्द्रिका में षट्कर्म, षट्चक्र, कुण्डलिनी

शक्ति आदि नवीन विषयों की उद्भावना करते हुए साधनभूत योग के क्रियायोग, चर्यायोग, कर्मयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, ज्ञानयोग, अद्वैतयोग, लक्ष्ययोग, ब्रह्मयोग, शिवयोग, सिद्धियोग, वासनायोग, लययोग, ध्यानयोग तथा प्रेमभक्तियोग के नाम से सूत्रों को चिह्नित करते हुए राजयोग को असम्प्रज्ञात समाधि का पर्याय बतलाया है। योगदर्शन में नारायणतीर्थ के इस अवदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

एक शब्द में राजयोग, जो अष्टाङ्गयोग के नाम से लोकप्रिय है, से मनुष्य अपना सर्वाङ्गीण विकास करता है। इसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि आते हैं।

यम और नियम : भावशुद्धिमूलक

यम का अभ्यास मन की शुद्धि (स्वच्छता) और धैर्य का मार्ग प्रशस्त करता है और चित्त की एकाग्रता को बढ़ाता है। ये निम्नलिखित हैं—

अहिंसा—किसी को कष्ट न पहुँचाना।

सत्य—सत्य का आचरण करना।

अस्तेय—चोरी न करना।

ब्रह्मचर्य—काम पर संयम करना।

अपरिग्रह—आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना।

नियम पाँच हैं—

शौच—बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि।

सन्तोष—अवाञ्छित आकांक्षाओं से बचना, जो प्राप्त है उससे सन्तुष्ट रहना।

तप—अनेक विघ्न-बाधाओं के मध्य भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सतत प्रयास करना।

स्वाध्याय—आत्मा-परमात्मा के यथार्थज्ञान के लिये प्रामाणिक शास्त्रों का अध्ययन करना।

ईश्वरप्रणिधान—दिव्य शक्ति के समक्ष पूर्ण समर्पण करना।

आसन और प्राणायाम : बहिरङ्ग यौगिक अभ्यास

आसन और प्राणायाम का धैर्य और विश्वास के साथ नित्य अभ्यास हृदय, फेफड़ों, यकृत, अग्नाशय, स्नायुतन्त्र, माँसमेशियों, ऊतकों और

शरीर की ग्रन्थियों में शुद्ध और सन्तुलित रक्त-सञ्चार सुनिश्चित करता है। जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। इन्द्रियों, मन और वीर्य पर नियन्त्रण प्रदान करके साधक को जीवनी शक्ति, बल और दीर्घायु प्रदान करता है।

आसन

तत्र स्थिरसुखमासनम् ।

योगसूत्र २/४६

ये विशेष प्रकार की शारीरिक मुद्राएँ हैं जो मन और शरीर को वाञ्छित खिंचाव द्वारा स्थिरता प्रदान करती हैं। आसनों के करने के दो मूलभूत सिद्धान्त हैं—

१. सुखानुभूति और
२. स्थिरता ।

इसका तात्पर्य यह है कि आसनों की प्रवृत्ति केवल शारीरिक न होकर मनोशारीरिक है। प्रत्येक आसन सहजता के साथ क्षमतानुसार करना चाहिए। आसनों को करने में किसी प्रकार का झटका व थकावट नहीं होनी चाहिए। आसनों को १. ध्यानात्मक २. संवर्धनात्मक तथा ३. विश्रामात्मक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

ध्यानात्मक आसन

ध्यानात्मक आसन; बैठकर किये जाने वाले आसन हैं जो शरीर को स्थिर व सुखमय अवस्था में रखते हैं। हाथों और पैरों के विभिन्न संयोजनों से पृथक्-पृथक् ध्यानात्मक आसन किये जाते हैं। ध्यानात्मक आसनों में मुख्यत: सिर, गर्दन और रीढ़ को सीधा रखना चाहिए।

संवर्धनात्मक आसन

संवर्धनात्मक आसनों में स्थिर अवस्था में मांसपेशियों को खिंचाव दिया जाता है जो उनमें आवश्यक सुधार लाता है। ये रीढ़ की हड्डी व मांसपेशियों को लचकदार व पृष्ठभाग को सशक्त बनाते हैं। ऐसे संवर्धनात्मक आसन बैठकर, लेटकर या खड़े होकर किये जाते हैं।

विश्रामात्मक आसन

विश्रामात्मक आसनों की संख्या कम है। ये सब शयन की मुद्रा में किये जाते हैं जिनका उद्देश्य शरीर व मन को आराम पहुँचाना है।

प्राणायाम

श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।

योगसूत्र २/४९

प्राणायाम का अभ्यास; श्वास-सम्बन्धी आवेगों पर नियन्त्रण प्रदान करता है, जो स्वायत्त तन्त्रिका अवेगों की धारा के लिये एक मार्ग सुनिश्चित करता है। श्वास को सुविधापूर्वक अधिक समय तक रोकना प्राणायाम की अनिवार्य तकनीक है। प्रारम्भिक अवस्था के समय श्वास को १:२ अनुपात में नियन्त्रित रूप से भरने व त्यागने (पूरक व रेचक) पर ही अधिक बल दिया जाता है। रेचक को इतना नियन्त्रित किया जाता है कि अग्रिम मन्द और नियन्त्रित श्वास लेने में कोई क्लिष्टता न हो। प्राणायाम का मुख्य उद्देश्य स्वायत्त तन्त्रिका तन्त्र पर नियन्त्रण प्राप्त करना तथा इसके प्रभाव से मन का नियन्त्रण करना है। यह ध्यान के उच्चस्तरीय अभ्यास के लिये उपयोगी है।

योगसूत्रभाष्य के टीकाकार नारायणतीर्थ ने योगसिद्धान्तचन्द्रिका में प्राणायाम के अन्तर्गत षट्कर्म और मुद्राबन्ध का प्रवेश कर हठयोग का व्यापक स्वरूप प्रस्तुत किया है और उसे कर्मयोग की संज्ञा से परिभाषित किया है। इसके अभ्यास से दैहिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। यह हठयोग राजयोग (असम्प्रज्ञातयोग) का साक्षात् अङ्ग (साधन) नहीं है। इसलिये पतञ्जलि ने कर्मयोग (षट्कर्म व मुद्राबन्ध आदि) का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख नहीं किया है। नारायणतीर्थ का उद्घोष है—

स च कर्मयोगः षट्कर्मरूपो मुद्रारूपश्चेति द्विविधो निरूपित आकरे ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

हठयोगाङ्गत्वेन देहसिद्धमात्रफलत्वेन साक्षाद्राजयोगाऽनङ्गत्वात् कण्ठस्वरेण सूत्रकृता नोक्तमिति ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

षट्कर्म

शुद्धि-क्रियाओं को छः वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, अतः इन्हें षट्कर्म कहते हैं। हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, योगोपनिषद् आदि ग्रन्थों में षट्कर्म का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। योगसूत्रभाष्य के

टीकाकार नारायणतीर्थ के ग्रन्थ योगसिद्धान्तचन्द्रिका में षट्कर्म का समर्थित श्लोक मिलता है—

धौती बस्ती तथा नेती त्राटकं नौलिकं तथा ।
कपालभाती चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ।।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

ये छः क्रियाएँ हैं—धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि तथा कपालभाति। इनमें प्रत्येक क्रिया के अपने उपभाग हैं। इन क्रियाओं से उन ऊतकों का जो विभिन्न अंगों व तन्त्रों का निर्माण करते हैं, अनुकूल क्षमता का विस्तार और उनकी प्रतिक्रियात्मकता में वृद्धि होती है।

धौति-कर्म और उसका फल

धौतिकर्म में चार अंगुल चौड़ी तथा पन्द्रह हाथ लम्बी अत्यन्त मुलायम तथा आर्द्र पट्टी के एक छोर को हाथ से पकड़कर अवशिष्ट भाग को मुख के मार्ग से उदरप्रदेशपर्यन्त धीरे-धीरे प्रवेश कराकर उदर को नौलि क्रिया से घुमाया जाता है। तदनन्तर पट्टी को उसी मार्ग से शनैः-शनैः बाहर निकाला जाता है।

धौतिकर्म से खांसी, श्वास, दमा, तिल्ली के विकार, कुष्ठ, बीस प्रकार के कफविकार, फुस्फुसविकार, पित्तादि रोग नष्ट हो जाते हैं। वचन है—

कास-श्वास-प्लीह-कुष्ठ-कफ-रोगादयः क्रमात् ।
धौतीकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ।।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

बस्ति-कर्म और उसका फल

बस्तिकर्ममें नाभिपर्यन्त आपूरित जलाशय या टब आदि में उत्कटासन लगाकर विशिष्ट आकार-प्रकार से निर्मित नली की सहायता से गुदा मार्ग से जल को भीतर प्रवेश कराया जाता है और नौलिकर्म से जल को उदर में दौड़ाकर बाहर निकाला जाता है।

बस्तिकर्म से उदरसम्बन्धी वायुगोला, जलोदर तथा वात-पित्त-कफ से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं। वचन है—

गुल्मोदनं चापि वात-प्लीह-पित्त-कफोद्भवान् ।
बस्तिकर्मप्रभावेण बाध्यन्ते सकलाऽऽमयाः ।।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

नेति-कर्म और उसका फल

नेति-कर्म में एक हाथ लम्बे अत्यन्त स्निग्ध (शास्त्रोक्त विधि से निर्मित) सूत्र को गुरूपदिष्ट पद्धति से नासिका छिद्र से प्रवेश कराकर मुख से निकाला जाता है।

नेति कर्म से मस्तक प्रदेश के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और कपालशुद्धि होती है। नासिका के मल को बाहर फेंकना, दिव्य दृष्टि प्रदान करना तथा स्कन्धसन्धि के रोगसमूह को नष्ट करना नेति कर्म का प्रयोजन है। वचन है—

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
तत्रोर्ध्वजातरोगौघाञ्जरयत्याशु नेतिवित् ।।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

त्राटक-कर्म और उसका फल

त्राटक कर्म में समाहित चित्त होकर किसी सूक्ष्म पदार्थ में तब तक अपलक दृष्टि केन्द्रित करनी पड़ती है, जब तक नेत्र अश्रुपात न करने लगे।

त्राटक कर्म से दृष्टि तीव्र होकर दूरदर्शिनी हो जाती है। नेत्रविकार दूर हो जाते हैं। चित्त में तन्द्रा, निद्रा, आलस्य आदि तमोगुणी वृत्तियाँ आविर्भूत नहीं होती हैं। युक्त योगियों का कहना है कि त्राटकक्रिया को रतिक्रिया के समान गुप्त रखना चाहिए। वचन है—

मोहनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
एतच्च त्राटकं गोप्यं यथा वध्वा रतिः सदा ।।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

नौलि-कर्म और उसका फल

नौलिकर्म से घुटने के बल झुककर उदरवर्ती नाड़ियों को जलभंवर (आवर्त) के समान अत्यन्त वेगपूर्वक दक्षिण तथा वाम पार्श्वों में क्रमशः घुमाया जाता है।

नौलिकर्म से मन्दाग्नि प्रदीप्त होती है। पाचनक्रिया प्रबल हो जाती है। यह उदरसम्बन्धी रोग, उदर की स्थूलता, आतों का विकार, कब्ज, उदरपीड़ा आदि की अचूक औषधि है। धौति आदि क्रियाओं में यह मूर्धन्य क्रिया है, क्योंकि अन्य क्रियाओं में नौलिकर्म का उपयोग होता है। वचन है—

मन्दाग्निसन्दीपन-पाचकाग्निसन्धायिका-नन्दकरी तथैव ।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रिया मौलिनीयं हि नौली ।।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

कपालभाति-कर्म और उसका फल

कपालभाति क्रिया रेचक तथा पूरक प्राणायाम के समीप है। इसमें यथेष्ट आसन लगाकर अभ्यासी लोहकार की धौकनी के समान अत्यन्त शीघ्रता से रेचक तथा पूरक प्राणायाम करता है। इसमें एक नासिकारन्ध्र से वायु को भीतर खींचकर दूसरे नासिका रन्ध्र से उसे तुरन्त निकालने की तकनीक है।

कपालभाति कर्म से कफजनित दोष नष्ट हो जाते हैं। यह प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी जागरण में सहायक होता है। वचन है—

भस्त्रेव लोहकाराणां रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभाती विख्याता कफदोषप्रदाहिनी ।।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

बन्ध एवं मुद्राएँ

ये शरीर में अर्धऐच्छिक व अनैच्छिक मांसपेशियों की संकोचन स्थितियाँ हैं। ये महत्त्वपूर्ण अंगों में विसंकुलन (अधिक रक्त को कम करना), रक्त परिसंचलन में सुधार करके शारीरिक स्वास्थ्य में सहायता व भावनात्मक सन्तुलन बनाये रखती हैं।

प्राणायामों के उपयोग के आधार पर बन्ध एवं मुद्राओं में भेद किया जाता है। जो मुद्राएँ साधारणतया प्राणायाम में प्रयुक्त होती हैं, उन्हें बन्ध कहा जाता है, क्योंकि वे किसी तन्त्र की गतिविधि को एक दिशा या स्थान में बांधने व नियन्त्रित करने का कार्य करते हैं।

नारायणतीर्थ ने योगसिद्धान्तचन्द्रिका में तीन बन्ध और छः मुद्राओं का उल्लेख किया है और उनकी संख्या नौ बतलाई है।

महाबन्ध का स्वरूप और फल

दोनों पैरों को विस्तीर्ण कर एक पैर (दक्षिण चरण) को दूसरे (वाम) पैर के उरुप्रदेश पर स्थिर करे। तत्पश्चात् गुदा और योनि का आकुञ्चन करके अपानवायु को ऊर्ध्वमुखी करके समानवायु के साथ मिलाए और प्राणवायु को अधोमुखी करे। ऐसा करने से महाबन्ध होता है। इससे अपान तथा प्राणवायु ऊर्ध्वमुखी हो जाते हैं और सिद्धिप्राप्त साधक की नाडियों का रससमूह ऊपर की ओर प्रवाहित होने लगता है। वचन है—

कथितोऽयं महाबन्धः सर्वसिद्धिप्रदायकः ।
नाडीगलद्रसव्यूहमूर्ध्वं नयति योगिनः ।।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

मूलबन्ध का स्वरूप और फल

गुदामार्ग को संकुचित करके एड़ी से उसे ताडित करे। तदनन्तर अपानवायु की अधोगमनशीलता को बलपूर्वक रोककर उसे ऊर्ध्वमुखी बनाये। जिससे अपानवायु का प्राणवायु के साथ संयोग हो सके। ऐसा करने से मूलबन्ध सिद्ध होता है।

इसके अभ्यास से साधक स्वस्थ एवं दीर्घायु प्राप्त करता है। इससे अपचसम्बन्धी रोगों का प्रशमन होता है।

जालन्धरबन्ध का स्वरूप और फल

देवताओं से भी दुष्प्राप्य जालन्धरबन्ध के लिये साधक कण्ठ से शिराजाल (नाडिसमूह) को बांधकर अर्थात् कण्ठ के छिद्र को संकुचित करके चिबुक को हृदयप्रदेशपर्यन्त ले जाकर दृढरीति से स्थिर रखे। ऐसा करने से जालन्धरबन्ध सिद्ध होता है।

जालन्धरबन्ध का विजयी यौगिक ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। उक्त तीन बन्ध के साथ महामुद्रा, महावेधमुद्रा, खेचरीमुद्रा, शक्तिचालनमुद्रा, उड्डीयानमुद्रा तथा विपरीतकरणीमुद्रा ये छः मुद्राएँ योगसिद्धान्तचन्द्रिका में वर्णित हैं। कुण्डलिनीजागरण, वीर्यसंरक्षण, नाभिचक्रसंशोधन तथा विभिन्न रोगों के समूलोन्मूलन में ये मुद्राएँ सहायकीभूत हैं।

प्रत्याहार

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।

योगसूत्र २/५४

यह चित्त को नियन्त्रित करने की एक विधि है। यह इन्द्रियों को उनके विषयों से प्रत्यावर्तित करने का अभ्यास है। यह मन को अस्वस्थ विचारों से उलझने से रोकने की प्रक्रिया है। जिसे एक मनोवैज्ञानिक अभ्यास माना जा सकता है।

धारणा

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।

योगसूत्र ३/१

चित्त को शरीर के किसी आन्तरिक अथवा बाह्य वस्तु, विचार या शब्द पर एकाग्र करना धारणा है। इससे एकाग्रता, स्मरणशक्ति और मेधाशक्ति में परिष्कार होता है।

ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

योगसूत्र ३/२

चित्त की एकाग्र अवस्था में चित्त का उसी दिशा में निर्विघ्न निरन्तर प्रवाह ध्यान कहलाता है। ध्यान के लगातार अभ्यास से गहन एकाग्रता की शक्ति प्राप्त होती है जिसके परिणामस्वरूप शारीरिक ऊर्जा, मानसिक क्षमता, सृजनता, स्मृति, बुद्धिमत्ता, आत्मक्षमता और अन्तर्दृष्टि में बढ़ोतरी होती है। ध्यान का आधार आन्तरिक जागरूकता का विकास करना है।

समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

योगसूत्र ३/३

समाधि का शाब्दिक अर्थ है—'पूर्ण एकाकार'। इसे पूर्णता भी कहा जाता है। यह चेतना की वह उच्चतम अवस्था है जहाँ ध्याता, ध्यान तथा ध्येय तीनों एक रूप ही हो जाते हैं। समाधि योगाभ्यास की चरम स्थिति है। इस स्थिति में दिव्य ज्ञान की समझ आ जाती है जिससे मोक्षप्राप्ति सम्भव है। यही योगसाधना का लक्ष्य है। समाधि के विकसित होने पर आत्मज्ञान सम्भव होता है। योगी को यह ज्ञान होता है कि वह मात्र शरीर नहीं है।

दार्शनिक परिभाषा में अष्टाङ्गयोग की साधना जिस आध्यात्मिक परिदृश्य में विकसित हुई है उसका उद्देश्य सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात योगप्रतिष्ठ साधक को उसके गुणातीत रूप में प्रतिष्ठित कराना है। तदर्थ सूत्रद्वय स्मरणीय हैं—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

योगसूत्र १/३

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।

योगसूत्र ४/३४

शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जा की गङ्गोत्री योगविद्या की एक ज्ञानधारा प्राकृतिक चिकित्सा के रूप में भी प्रवाहित हो रही है, अतः उसका स्वरूपप्रतिपादन करना अप्रासङ्गिक नहीं है।

प्राकृतिक चिकित्सा

प्राकृतिक चिकित्सा स्वस्थ जीवन व्यतीत करने की एक कला एवं विज्ञान है। यह ठोस सिद्धान्तों पर आधारित एक औषधिरहित रोगनिवारक पद्धति है। वेदों व अन्य प्राचीन ग्रन्थों में हमें इसके अनेक सन्दर्भ मिलते हैं। 'विजातीय पदार्थ का सिद्धान्त', 'जीवनीशक्तिसम्बन्धी अवधारणा' तथा अन्य धारणाएँ जो प्राकृतिक चिकित्सा को आधार प्रदान करती हैं, प्राचीन ग्रन्थों में पहले से ही उपलब्ध हैं तथा इस बात की ओर संकेत करती हैं कि इनका प्रयोग प्राचीन भारत में व्यापक रूप से प्रचलित था।

प्राकृतिक चिकित्सा की परिभाषा

प्राकृतिक चिकित्सा व्यक्ति को उसके शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक तलों पर प्रकृति के रचनात्मक सिद्धान्तों के अनुकूल निर्मित करने की एक पद्धति है। इसमें स्वास्थ्य संवर्धन, रोगों से बचाव, रोग निवारण और पुनर्स्थापना कराने की अपूर्व क्षमता है।

प्राकृतिक चिकित्सा की विधियाँ

प्राकृतिक चिकित्सा हमें सिखाती है कि हमें किस प्रकार से रहना चाहिए, क्या खाना चाहिए और हमारी दिनचर्या कैसी होनी चाहिए? इसलिये प्राकृतिक चिकित्सा को 'प्राकृतिक जीवन' भी कहा जाता है।

मनुष्य के शरीर में स्वयं रोगमुक्त करने की अपूर्व शक्ति है। यह शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश का बना है जिनका असन्तुलन ही रोगों के उत्पन्न होने का कारण है। इन्हीं तत्त्वों मिट्टी, पानी, धूप, हवा और आकाश द्वारा रोगों की चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्सा कहलाती है। प्राकृतिक चिकित्सा में सामान्य रूप से आहारचिकित्सा, उपवासचिकित्सा, मिट्टीचिकित्सा, जलचिकित्सा, मालिशचिकित्सा, सूर्यकिरणचिकित्सा, वायुचिकित्सा आदि विधियाँ प्रचलित हैं।

ज्ञातव्य है कि गाँधी जी ने प्राकृतिक चिकित्सा को अपने रचनात्मक कार्यों में स्थान दिया। गाँधी जी के प्रभाव के कारण अनेक राष्ट्रीय नेता भी इस अल्पसंख्यक स्वास्थ्य आन्दोलन से जुड गये।

निष्कर्ष : वैज्ञानिक अनुसन्धान

ईशावास्योपनिषद् का वचन है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।

ईशावास्योपनिषद् ११

योगविद्या के आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक पक्ष को मूल्याङ्कित करने के लिये ईशावास्योपनिषद् के **'विद्या'** और **'अविद्या'** शब्दों का निहितार्थ सन्देश ध्यान देने योग्य है। 'विद्या' शब्द योगवाङ्मय के आध्यात्मिक पक्ष का पक्षधर है, तो 'अविद्या' शब्द उसके व्यावहारिक पक्ष का। हमारी जीवन-सरणी योग के व्यावहारिक पक्ष से अनुप्राणित होनी चाहिए तभी आधि-व्याधि-विरहित प्रशान्त मनरूप वायुयान आध्यात्मिक उड़ान की गतिमत्ता और उच्चता के लिये सक्षम बन पाता है। विना सुदृढ व्यावहारिक धरातल के यान में कैसी गतिमत्ता?

पतञ्जलि ने चित्तरूपी यान के अनावश्यक गुरुत्व; रागादिकषाय, के परिमार्जन के लिये अष्टाङ्गमार्गीय योगसाधना का व्यावहारिक पथ प्रशस्त किया है। मानस अभ्युदय ही निःश्रेयस् सिद्धि का सोपान है, जो साधक को 'केवलता' अर्थात् स्वस्वरूपावस्थिति की चरम गरिमामयी स्थिति में अवस्थित करता है। जहाँ अविद्या से मृत्यु को पारकर विद्या से अमृतत्व को पाया जाता है। यही पतञ्जलि की योगवाणी से निःसृत अमर सन्देश है।

योगविद्या का व्यावहारिक पक्ष आध्यात्मिक दृष्टि से 'अविद्या' रूप समझकर ही उसके आध्यात्मिक पक्ष को 'विद्या' रूप मानकर ही साधक अपनी जीवनयात्रा को 'अमरत्व' तक पहुँचा सकता है। यही शास्त्र का निहितार्थ है।

आधि-व्याधि-प्रशमन में सक्षम योगचिकित्सा पद्धति आज की महती आवश्यकता बन गई है। अतः योग की रोगनिरोधक, स्वास्थ्यसंवर्धक और रोगनिवारक संभावनाओं के मूल्याङ्कन हेतु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इसका योजनाबद्ध नियन्त्रित अनुसन्धान हो रहा है।

आंकड़े बतलाते हैं कि अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में हुए प्रारम्भिक अनुसन्धान योग की शारीरिक क्षमताओं पर आधारित थे। इन अध्ययनों से ऐसे सङ्केत मिले हैं कि योग का दीर्घ अवधि तक अभ्यास स्वायत्ततन्त्रिकातन्त्र पर स्वैच्छिक नियन्त्रण को विकसित करता है। अध्ययनों में यह भी देखा गया कि योगाभ्यास वातावरण के अनुसार स्वयं को बदलने और ज्ञान प्राप्त कराने वाली प्रणालियों जैसे एकाग्रता, स्मरणशक्ति, सीखने की क्षमता और सतर्कता को बढ़ाता है।

फलभिसन्धि यह है कि जिसका जीवन यम-नियम की साधुवेला, आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार के मध्याह्न तथा धारणा-ध्यान-समाधि की ब्रह्मरात्रि से ओतप्रोत हो गया, वह साधक **'न सा पुनरावर्त्तते'** मार्ग का पथिक बन जाता है और इसमें सहायता पहुँचाता है—योगविद्या का चिकित्सकीय आयाम।

योगसाधना के पथिक का लक्षण भगवद्गीता के अधोलिखित श्लोक में द्रष्टव्य है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।

भगवद्गीता २/६९

●

दर्शनशास्त्र में मोक्ष की अवधारणा

मोक्ष और मुक्ति इन दोनों शब्दों का अर्थ है—छुटकारा। किससे छुटकारा? जिससे छूटना चाहते हैं उससे। वह है दु:ख। दु:ख और बन्धन को पर्याय कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। मोक्ष का शब्दार्थ है—दु:ख से छुटकारा।

न्यायदर्शन में महर्षि गौतम ने इसी युक्ति से मोक्ष तत्त्व पर विचार किया है। उनका सूत्र अत्यन्त स्पष्ट है—

तदप्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।

न्यायसूत्र १/१/२२

सूत्र का अभिप्राय यह है कि दु:ख की अत्यन्त निवृत्ति होना ही मोक्ष है। **न्यायदर्शन** में मोक्ष के लिये 'अपवर्ग' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है। जैसे मोक्ष अथवा मुक्ति पद का अर्थ छुटकारा है, वैसे ही अपवर्ग शब्द का अर्थ भी छुटकारा है। एतावता मोक्ष का पर्याय अपवर्ग शब्द दु:ख की अत्यन्त निवृत्ति का सूचक है।

वेदान्तदर्शन के आचार्यों का मत है कि मोक्ष का न्यायसम्मत अर्थ युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि श्रुतियों में मोक्ष के विषय में कहा गया है—

अत्र ब्रह्म समश्नुते ।

यहाँ ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है। अत: दु:खात्यन्तनिवृत्तिपूर्वक जहाँ ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है, उसे मोक्ष कहते हैं। इस पर **नैयायिकों** का कहना है कि दु:खनिवृत्ति पुरुषार्थसाध्य है, किन्तु आनन्दप्राप्ति यत्नसाध्य नहीं है, वह तो आत्मा को स्वत: प्राप्त होगी, इसलिये ब्रह्मानन्द की प्राप्ति को मोक्ष का लक्षणांश नहीं कहा जा सकता है। जैसे मलिन वस्त्र का मलदोष दूर करना कष्टसाध्य है किन्तु वस्त्रगत मल की निवृत्ति होते ही वस्त्र स्वत: धवलता को प्राप्त हो जाता है, उसके लिये अतिरिक्त प्रयास नहीं करना पड़ता है। शब्दान्तर में मलशोधक साबुन, सोडा, ऊष्णजल आदि शुद्धताप्राप्त

वस्त्र के लिये अनपेक्षित रहते हैं। ऐसे ही दुःखनिवृत्ति होते ही स्वतः आनन्दप्राप्ति हो जाती है। अपने मत की पुष्टि के लिये **नैयायिक** छान्दोग्य उपनिषद् का वचन उद्धृत करते हैं—

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति ।

छान्दोग्योपनिषद् ६/१४/२

अर्थात् ज्ञानी को दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने का विलम्ब है, फिर तो सम्पत्ति (आनन्द) है। वस्तुतस्तु इसमें विचार का लवलेश भी अवकाश नहीं है किन्तु दार्शनिकों ने इसे तर्क-वितर्क का विषय बना दिया है।

महर्षि पतञ्जलि ने मोक्ष के लिये 'कैवल्य' शब्द का निर्धारण किया है। 'कैवल्य' का शब्दार्थ है—केवल वही होना अर्थात् पुरुष (आत्मा) का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना अर्थात् औपाधिक सम्बन्ध की निवृत्ति हो जाना। यद्यपि 'मोक्ष' शब्द के अर्थ के साथ जितना साक्षात् सम्बन्ध 'अपवर्ग' का है, उतना 'कैवल्य' शब्द का नहीं है तथापि भावार्थ जैसा 'कैवल्य' से व्यक्त होता है वैसा न तो 'मोक्ष' शब्द से और न ही 'अपवर्ग' शब्द से ही। वस्तुतस्तु मोक्ष और अपवर्ग शब्द दुःखनिवृत्ति पर ध्यान आकर्षित करते हैं तो कैवल्य दुःखनिवृत्ति के अनन्तर अवस्थाविशेष पर।

बौद्धदार्शनिकों ने मोक्ष के लिये 'निर्वाण' शब्द का चयन किया है। यद्यपि दुःखनिवृत्ति और निर्वाण शब्द को पर्याय कहा जा सकता है तथापि बौद्धदार्शनिक इस तथ्य का खण्डन करते हैं। **शून्यवादी माध्यमिक** का मत है कि 'निर्वाण' शब्द का अर्थ बुझ जाना है। अर्थात् जैसे दीपशिखा बुझ जाती है, ऐसे ही ज्ञानज्योति का बुझ जाना। यही शून्यवाद के शून्यसिद्धान्त का शून्यरहस्य या शून्यसार है। परन्तु 'शून्य' हो जाना तो किसी को भी अभीष्ट नहीं है, तब ऐसे मोक्ष के लिये कौन यत्न करेगा? दुःखों से निवृत्त होना प्रत्येक व्यक्ति को अभीष्ट हो सकता है, इसी प्रकार अपने स्वरूप में अवस्थिति भी बहुमूल्य सम्पत्ति कही जा सकती है। परन्तु अपने को बुझा देना उच्छेद कर डालना या नष्ट कर डालना की मान्यता अविवेकपूर्ण प्रतीत होती है।

महर्षि **गौतम** ने अधोलिखित सूत्रों में बौद्धों के शून्यवाद का खण्डन भी किया है—

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ।
न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ।
व्याहतत्वादयुक्तम् ।

न्यायसूत्र ४/१/३८-४०

महर्षि कपिल ने भी बौद्धों के शून्यवाद पर आपत्ति की है—

अपवादमात्रमबुद्धानाम् ।

सांख्यसूत्र १/४५

आगे चलकर **आचार्य शङ्कर** ने भी बौद्धों के शून्यवाद का खण्डन किया। शङ्कराचार्य के कथन का सार यह है कि यदि शून्य ही परमतत्त्व है तो उस शून्य को अथवा शून्यावस्था को कोई अनुभव करता है या नहीं? यदि शून्य को अनुभव करने वाला कोई है, तो वह शून्य से भिन्न पदार्थ सिद्ध हो गया। यदि कहा जाय कि शून्य को अनुभव करने वाला शून्य ही है, तो यह वदतोव्याघात है। जैसे कोई कहे कि 'मैं नहीं हूँ' इससे भी उसका शून्य होना सिद्ध नहीं होता है। यदि कहा जाय कि शून्य का कोई साक्षी नहीं है, तो इस प्रमाणविरुद्ध शून्य की सत्ता को कैसे सिद्ध किया जा सकेगा? यदि कहा जाय कि 'शून्य अभावात्मक' है, उससे भिन्न कोई दूसरा भावपदार्थ नहीं है, जो शून्य का अनुभव करा सके। इस पर शून्यवादी बौद्धों को इस प्रश्न का उत्तर देना पड़ेगा कि तब घटादि पदार्थों के भावाभाव किसी चेतन भावपदार्थ के ज्ञानाधीन क्यों हैं? वस्तु का भाव हो या अभाव, परन्तु उसके जानने वाले साक्षी का भाव ही मानना पड़ेगा। क्योंकि कोई भी पदार्थ साक्षिशून्य नहीं हो सकता है। यदि साक्षी है तो फिर शून्य नहीं हो सकता है। भगवती मैत्रेयी को ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् में यही बात संन्यास लेते समय उपदेश की थी। ऋषि ने कहा था—

अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ।

बृहदारण्यकोपनिषद् ४/५/१४

अर्थात् हे देवि! यह साक्षी आत्मा अविनाशी है। इसका उच्छेद कभी नहीं होता है।

जैनाचार्य आत्मा को शरीरपरिमाण का मानते हैं। हस्ती का आत्मा हस्तीशरीर जितना, अश्व का आत्मा अश्व के शरीर जितना तथा पिपीलिका

का आत्मा उसके अपने शरीर जितना है। आत्मा को शरीरपरिमाण का मानने पर उसे संकोचविकासशील कहना पड़ेगा। इससे सावयव होने से उसे घट के समान परिणामी कहना पड़ेगा। एतावता **जैनदर्शन** में भी आत्मोच्छेद दोषप्रसक्त होता है।

योगसूत्रकार पतञ्जलि इन सब बातों पर विचार करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आत्मा परिणामशून्य है और चेतन है तथा आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति ही मोक्ष है। सूत्र है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।

योगसूत्र ४/३४

अभिप्राय यह है कि कार्य-गुणों का अपने-अपने कारण-गुणों में लीन हो जाना, यथा—व्युत्थान-निरोधात्मक संस्कारों का मन में, मन का अस्मिता में, अस्मिता का बुद्धि में, बुद्धि का अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाना इसलिये कैवल्य है कि आत्मा को भोगप्रदान करने के लिये प्रवृत्त हुई प्रकृति जब गुणों को कार्यरूप में परिणत करती है तब गुणों में उत्तरोत्तर कार्यकारणभावापन्न कार्यक्षमता आविर्भूत होती है और जब ये गुण अपवर्गापन्न (चरिताधिकार) होते हैं, तब सोपान आरोहणन्याय से अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं—इस भाव को इसलिये कैवल्य कहा गया है कि ऐसा होने पर ही पुरुष (आत्मा) भोगरूप उपाधि से निवृत्त हो जाता है, फलतः कालान्तर में बुद्धि आदि करणों का आत्मा से सम्बन्ध नहीं रहता है। इस प्रकार बुद्धि के साथ निष्पादित पुरुष के औपाधिक बन्धन की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति ही पुरुष का 'कैवल्य' कहा जाता है।

प्रश्न है कि इस अवस्था में जब पुरुषार्थशून्यगुण (महदादि कार्य) अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं, तब सवृत्तिक बुद्धि के अधिष्ठाता (भोक्ता) पुरुष का क्या होता है? क्या वह नष्ट हो जाता है अथवा कुछ और बन जाता है? इस पर पतञ्जलि का उत्तर है कि—वह नष्ट नहीं होता है, उसका परिणाम नहीं होता है, वह चेतन है, उसकी चेतनशक्ति का लोप नहीं होता है। वह सदा रहने वाली अलौकिक सत्ता है, उसकी उस समय अपने स्वरूप में स्थिति होती है। जैसे दीपक अपने आप को प्रकाशित करता है,

वैसे अपने समीपवर्ती घट, पटादि पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकार मन-बुद्धि में पड़े हुए प्रतिबिम्ब को भी आत्मा प्रकाशित करता है और जब मन-बुद्धि नहीं होते हैं तब भी प्रकाशित रहता है। मन-बुद्धि के विना जो आत्मा का प्रकाशित होना है, वही आत्मा की स्वस्वरूप में अवस्थिति है। यही पुरुष (आत्मा) का कैवल्य अर्थात् केवल निर्गुण होना है। इसी को मोक्ष कहते हैं। इसी विषय में श्रुतिप्रमाण है। इसी विषय में छान्दोग्य उपनिषद् में महर्षि सनत्कुमार ने नारद को उत्तर दिया है—

स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति? स्वे महिम्नीति ।

छान्दोग्योपनिषद् ७/२४/१

अर्थात् तब वह किसमें प्रतिष्ठित होता है? उत्तर है—अपनी महिमा में अर्थात् अपने स्वरूप में।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में पुरुष की आनन्दप्राप्ति या ब्रह्माकारता के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। कारण यह है कि सुख-दुःख की अनुभूति अन्तःकरण के द्वारा ही होती है और अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध होना तथा उसके धर्मों का अपने (आत्मा) को धर्मी मानना ही मिथ्याज्ञान है। अथ च सर्वशास्त्रसम्मत सिद्धान्त है कि मिथ्याज्ञान के रहते मोक्ष नहीं हो सकता। फिर मोक्ष में आनन्द की कल्पना निराधार है। विना कारण के भोग सम्भव नहीं है और विना भोग के आनन्द की सिद्धि दुस्तर है। यदि कहा जाय कि पुरुष आनन्दस्वरूप है, तो फिर भोग या मोक्ष प्राप्ति कैसी? यह वस्तुस्थिति है। यदि कहा जाय कि पुरुष की चेतनरूपता या चितिशक्ति की स्वरूपावस्थिति भी सन्देह का विषय है कि पुरुष चेतनता को किस कारण से अनुभव करता है, क्योंकि अन्तःकरण तो वहाँ है ही नहीं? किन्तु यह शङ्का निराधार है, क्योंकि करण के द्वारा पुरुष अपने से भिन्न पदार्थों का अनुभव करता है। अपने स्वरूप के लिये अपनी सत्ता के ज्ञान के लिये किसी करण की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि बृहदारण्यक में कहा है—

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ।

.... विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ।

बृहदारण्यकोपनिषद् २/४/१४;४/५/१५

अभिप्राय यह है कि 'जिस (आत्मा) से सबको जाना जाता है उस (आत्मा) को किस (करण) से जानें, जानने वाले को किससे जानें?' इसीलिये **महर्षि पतञ्जलि** ने विना किसी करण या करण की क्रिया के 'आत्मा की स्वरूपस्थिति' को कैवल्य माना है। यह करणशून्य तथा करणक्रियाशून्य 'केवल चेतनरूप से स्थिति' किसी अन्य अवस्था या लक्षण की अपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि दुःखात्यन्तनिवृत्ति और आनन्दावाप्ति का इस कैवल्यस्थिति में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

विषय और करण से शून्य आत्मस्थिति (कैवल्य) को मोक्ष मानने पर आपत्ति करते हुए कुछ विद्वान् कहते हैं कि शिला के समान जडभाव को प्राप्त कराने वाला कैवल्य अपेशल है। परन्तु पूर्वपक्षी का यह कथन अनुभव-हीन है। दीपकवत् प्रकाशरूप स्थिति को शिलावत् जड कैसे कहा जा सकता है? वह तो स्वयं स्वतःप्रकाश अर्थात् ज्योतिस्वरूप है। दूसरी युक्ति यह कि 'केवल प्रकाशरूप निर्गुण चेतनस्थिति' महर्षि पतञ्जलि का मनःकल्पित सिद्धान्त नहीं है, अपितु यह सिद्धान्त जहाँ युक्तियुक्त है, वहाँ श्रुतिसम्मत भी है।

आत्मा को सच्चिदानन्दस्वरूप बतलाने वाले **वेदान्तदर्शन** का यह मत **योगदार्शनिकों** को स्वीकृत नहीं है। युक्ति यह है कि चित्स्वरूप और सच्चिदानन्दस्वरूप का एक अर्थ नहीं है। 'सच्चिदानन्दस्वरूप' पद का अर्थ है—सत्स्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप होना। एक ही वस्तु तीन स्वरूपों वाली कैसे हो सकती है? ऐसा तो हो सकता है कि एक उसका स्वरूप हो और शेष उसके धर्म हों। जो सत् होता है, वह चेतन भी होता है—ऐसी व्याप्ति नहीं बन सकती है। क्योंकि घट, पटादि जड पदार्थ सत् हैं, किन्तु चेतन नहीं हैं। यदि घट, पटादि को चेतन माना जाय तो उन पर प्रहार करना अपराध कहा जायेगा। इसी युक्ति से सत्तावान् पदार्थ आनन्दस्वरूप नहीं कहे जा सकते हैं। अतः यही मानना होगा कि आत्मा चित्स्वरूप है और सत्ता तथा आनन्द उसके गुण (धर्म) हैं। क्योंकि जो चेतन होता है, वह सत् होता है—इस व्याप्ति का खण्डन नहीं हो सकता है। क्योंकि कोई चेतन हो और सत् न हो ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है। किन्तु अद्वैतवाद के पोषक **वेदान्तियों** को आत्मा का गुण-गुणी, धर्म-धर्मी-सम्बन्ध मान्य न होगा, क्योंकि यह श्रुतिविरुद्ध है।

अपरतः श्वेताश्वतरोपनिषद् का वचन है—

साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/११

इस श्रुति के अनुसार साक्षी आत्मा चैतन्यस्वरूप है, वह केवल है और उसके साथ किसी भी गुण का सम्बन्ध नहीं है। यदि आत्मा का सच्चिदानन्दस्वरूप होना ही श्रुति को अभीष्ट होता तो वह आत्मा को चेता अर्थात् चिद्रूप न कहती। श्रुति आत्मा को चैतन्यस्वरूप कहकर अन्य किसी भी आनन्दादि गुण का वर्णन नहीं करती, अपितु 'केवल' कह रही है। एतावता निर्विशेष निर्धर्मक चेतन की जो स्वरूपस्थिति है, वही मोक्ष है। आनन्दादिपरक श्रुतियाँ इसी स्वरूपावस्थिति की महिमा का व्याख्यानमात्र करती हैं और कुछ नहीं।

संक्षेपतः **पतञ्जलि** का सिद्धान्त है कि 'दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति' रूप मोक्ष को अनुभव करने वाला कोई चेतन अपेक्षित है, जो दुःखाभावरूप जड नहीं हो सकता है। इसीलिये **नैयायिक** का अपवर्ग विना 'चेतनस्वरूप में स्थिति' के स्वीकार किये विना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। किञ्च यदि आनन्दप्राप्ति को भावपदार्थ माना जाय अर्थात् दुःखाभाव का दूसरा नाममात्र न माना जाय तो इस आनन्द का भी कोई भोक्ता मानना पड़ेगा, क्योंकि विना चेतन के कोई पदार्थ भोग्य नहीं कहा जा सकता है। ऐसी अवस्था में भोग के लिये किसी करण (मन, इन्द्रियादि) की आवश्यकता माननी होगी। परन्तु **वेदान्ती** को यह बात स्वीकार्य नहीं होगी। क्योंकि इससे आत्मा से भिन्न आनन्दस्वरूप कोई भावपदार्थ मानना पड़ेगा, जो अद्वैतवेदान्त के विरुद्ध है तथा मोक्ष का आनन्द नाशवान् मानना पड़ेगा।

इससे सिद्ध होता है कि आत्मा के चैतन्यस्वरूप से भिन्न कोई आनन्द पदार्थ नहीं है—इससे भी निर्गुण चेतनस्वरूप में स्थिति ही 'मोक्ष' सिद्ध हुई। इसलिये चाहे **नैयायिक** हों या **वेदान्ती** योगप्रतिपादित कैवल्य की उपेक्षा नहीं कर सकते।

चित्त और आत्मा परस्पर भिन्न तत्त्व

बौद्ध दार्शनिक के अनुसार चित्त या बुद्धि ही जानती और कर्म करती है, उससे भिन्न कोई और आत्मा नहीं है। **महर्षि पतञ्जलि** ने योगशास्त्र में **बौद्धों** के इस मत का खण्डन किया है। पतञ्जलि के अनुसार चित्त आत्मा

नहीं है और न केवल चित्त से काम ही चल सकता है। चित्त या बुद्धि से भिन्न आत्मा की पृथक् सत्ता है। सूत्र है—

सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।

योगसूत्र ४/१८

अभिप्राय यह है कि चित्त या बुद्धि में परिणाम होते हैं, आत्मा में परिणाम नहीं होता है। चित्त ज्ञेय है, आत्मा ज्ञाता है। आत्मा स्वामी है, चित्त उसके अधीन है।

चित्त की वृत्तियों को ही चित्त का परिणाम कहते हैं। चित्तवृत्तियाँ सदा एक समान कभी नहीं रहतीं। अर्थात् घटसम्बन्ध से घटाकर, पटसम्बन्ध से पटाकर, गृहसम्बन्ध से गृहाकार परिणामवाली पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ चित्त की होती रहती हैं। यही चित्त का परिणाम है। परिणाम भी तीन प्रकार का है—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम। सूत्र है—

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ।

योगसूत्र ३/१३

अभिप्राय यह है कि जैसे घट, पटादि पदार्थों में धर्म-लक्षण-अवस्था परिणाम होते हैं—मृत्तिका के चूर्ण का पिण्ड बनता है, पिण्ड का घट बनता है और पुनः घट पुरातन होता जाता है। वैसे ही चित्त में भी परिणाम होता है। चित्त में क्रमशः परिणाम चलता रहता है। परिणामी पदार्थ जड होता हुआ अनित्य होता है। इसलिये चित्त जड और अनित्य है। अनित्य वस्तु घट, पटादि की भाँति किसी ज्ञाता की अपेक्षा करती है। अतः ज्ञेय चित्त का ज्ञाता आत्मा है।

बौद्ध क्षणिक विज्ञानवादी हैं ही, अतः यह सिद्ध करना कि चित्त परिणामी है, एक प्रकार से अनावश्यक ही है। आशय यह है कि जिस चित्त में परिणाम होता है, उसकी प्रत्येक अवस्था (सवृत्तिक मन के परिणाम) को आत्मा इसलिये जानता है कि चित्त का वह स्वामी है और स्वामी अपने भृत्य पर अवश्य शासन करता है। किञ्च यदि आत्मा को परिणामी माना जाय तो उसके परिणामों का साक्षी कोई और चेतन मानना पड़ेगा। वह भी यदि परिणामी माना जाय तो उसका साक्षी कोई और मानना पड़ेगा। अतः इस अनवस्थादोष से बचने के लिये एक ही अपरिणामी नित्य साक्षी मानना आवश्यक है।

बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि नि:सन्देह चित्त परिणामी है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उससे भिन्न किसी अपरिणामी चेतन को चित्त का स्वामी माना जाय। चित्त से भिन्न इसलिये चेतन की आवश्यकता कही जाती है कि चित्त जड है और जड के लिये किसी चेतन प्रकाशक का होना अनिवार्य है। किन्तु हम **बौद्ध** कहते हैं कि जड होते हुए भी प्रकाशक हो सकता है। जैसे अग्नि घटादि को प्रकाशित करती है और स्वयं भी प्रकाशित होती है वैसे ही चित्त भी स्वयंप्रकाशक है अर्थात् वह विषय का भी प्रकाशक है और वृत्तियों का भी। अत: चित्त से भिन्न आत्मा मानने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु **पतञ्जलि** ने दृढ़तापूर्वक यह तथ्य स्थापित किया है कि चित्त को स्वप्रकाश मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। सूत्र है—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ।

योगसूत्र ४/१९

अभिप्राय यह है कि चित्त दृश्य है, इसलिये चित्त को स्वप्रकाश नहीं कह सकते हैं। जो दृश्य होता है वह घटादि के समान परप्रकाश्य होता है। चित्त भी दृश्य है, अत: वह भी पर से प्रकाशित है—स्वत: प्रकाशशील नहीं है। यद्यपि अग्नि प्रकाशशील है, तथापि उसका प्रकाश जड है। अग्नि नहीं जानता कि मैं प्रकाश कर रहा हूँ या मेरे प्रकाश से घट, पटादि प्रकाशित हो रहे हैं अथवा मेरे प्रकाश में अमुक्-अमुक् कार्य सम्पादित हो रहे हैं। यही अग्नि की दृश्यता अर्थात् जडता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि चित्त जड परिणामी है।

वस्तुतस्तु जिस प्रकार घट, पटादि के लिये अग्नि के प्रकाश की आवश्यकता है, उसी प्रकार अग्नि के ज्ञान के लिये यद्यपि अन्य अग्नि की आवश्यकता नहीं है, तथापि दृश्य होने से किसी दृष्टा की तो अपेक्षा बनी ही रहेगी, क्योंकि अग्नि में ज्ञान नहीं है।

आत्मा की चित्त से पृथक् सत्ता सिद्ध करने के लिये अन्य दर्शनों में भी विचार किया गया है और विलक्षण युक्तियों से आत्मा की सिद्धि की गई है। एतावता मोक्ष की अवधारणा के लिये आत्मा का निर्वचन तत्-तत् दर्शनों में पृथक्-पृथक् दिखलाई पड़ता है।

●

योग : एक विहङ्गम दृष्टि

देहयष्टि

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः

योगसूत्र २/४३

यह शरीर है प्रभुप्रदत्त यन्त्रालय,
इसमें विभाजित हैं अनेक मन्त्रालय।
कर्म-नियम के व्यतिक्रम का है यह दण्डालय,
पुनीत कर्मों की सुगन्धि का है यह देवालय ॥१॥

बाल-यौवन-वार्धक्य जिसके हैं तीन चरण,
संन्ध्या-वन्दन की त्रिवेला जिसके हैं तीन आरोहण ।
सत्त्वोत्कर्ष में प्रतिभासित होता है जिसका आत्मोत्कर्ष,
तमोबहुलता में केन्द्रित रहता है जिसका बुद्ध्यपकर्ष ॥२॥

यह देह है विश्वकर्मा की अमूल्य सम्पदा,
इस पुरि में निवास करती है उसकी चेतना।
जड़-चेतन का अद्भुत सङ्गम है इसकी सुन्दरता,
शिल्पकार की भावसृष्टि की झलकती है इसमें कोमलता ॥३॥

इस दुर्लभ देह के संरक्षण का दायित्व है हमारा,
इसके संवर्धन का पुनीत कर्तव्य है हमारा।
ईश्वर-प्रदत्त देह के लक्ष्य को है हमें समझना,
ज्ञान-कर्म-भक्ति के मार्ग से इसे है संवारना ॥४॥

उत्तम आहार और नीरोगिता का है अटूट बन्धन,
विकृत आहार और रोगराशि में भासित होता है भवबन्धन ।
तृप्ति ओज कान्ति सुख का आधार है उत्तम भोजन,
शक्तिह्रास निस्तेज आलस्य दुःख का आधार है अधम भोजन ॥५॥

ऋषियों का चिन्तन हितभुक् मितभुक् ऋतभुक् में है अवस्थित,
आहार की त्रिकोणात्मक विधा में मानव जीवन है विभाजित ।
वात-पित्त-कफ के सन्तुलन में स्वस्थ जीवन है प्रतिभासित,
कायिक-वाचिक-मानस स्वस्थता में है सामाजिक उज्ज्वलता प्रतिबिम्बित ।।६।।

देहपुष्टि का मार्ग है आयुर्वेद में बतलाया,
क्या खाएँ, कब खाएँ, कैसे खाएँ को है बतलाया ।
ऐसे हितभुक् मितभुक् ऋतभुक् में अवस्थित है देहयष्टि,
इसी में निगूढ है पुरुष की अपनी अवस्थिति ।।७।।

●

भावत्रय

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या-
पुण्यविषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम्

योगसूत्र १/३३

इधर-उधर भटकता मन करने लगा एक बार क्रन्दन,
महाभारत के कृष्ण-पाण्डव-कौरव का करें कैसे चिन्तन।
कहानी एक पात्र तीन का करें कैसे मन्थन,
तभी अन्तर्मन में हुआ एक दिव्य दृष्टि का प्रकाशन ॥१॥

यदि कृष्ण है **'विवेक'** और पाण्डव है **'बुद्धि'**,
तो कौरव को **'वृत्ति'** मानने में क्या है आपत्ति।
वृत्ति-बुद्धि-विवेक की परिधि में सञ्चालित होता है मन,
तभी जीवन की दशा-दिशा निर्धारित करते हैं ये तीन ॥२॥

'वृत्ति' से राग-द्वेष की पशुता का होता है अङ्कुरण,
अंधी-अंधेरी वासनाओं का होता है कुपित जागरण।
निद्रा की स्वाप्निक मृग-मरीचिका का चलता है भ्रमित व्यापार,
हिंसा आदि कलुषित भावों से ग्रसित रहता है **'कौरव-मन'** ॥३॥

'बुद्धि' में सत्यानुसन्धान की रहती है तत्परता,
इसमें मैत्री-करुणा-मुदिता की उपजती है मनुष्यता।
जीवन के यथार्थ का होता है इसमें धूमिल दिग्दर्शन,
उच्च लक्ष्य सुकीर्ति को अकुलाता है **'पाण्डव-मन'** ॥४॥

'विवेक' जीवन-यात्रा का कहलाता है दिव्य सोपान,
मानव चेतना का होता है इसमें प्रतिभान।
पूर्ण जागरित अवस्था का होता है इसमें प्रकाशन,
सत्य-शिव-सुन्दर की ओर होता है अभिमुख **'कृष्ण-मन'** ॥५॥

●

सफलता के सूत्रत्रय

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः

योगसूत्र १/४४

फलयुक्त क्रिया कहलाती है सफल,
श्रेष्ठ क्रिया से मिलता है सुफल ।
गर्हित क्रिया से उपजता है कुफल,
सत्-असत् का निर्णय करता है फल ॥१॥

सुफल क्रिया के आधार हैं तीन मित्रदल,
समवेत तीन के विना प्रत्येक होता है असफल ।
प्रदीपन्याय से मिलकर होता है उनका प्रकाशन सफल,
सफलता के आधार हैं तीन सूत्रदल ॥२॥

बल, संकल्प, विवेक तीनों का समवेत है विधेयात्मक प्रयास,
ये तीनों विघटित होकर करते हैं निषेधात्मक प्रयास ।
इन दोनों में प्रथम दृष्टि का चयन है उत्तम प्रयास,
लक्ष्यविरहित द्वितीय मार्ग करवाता है अधम प्रयास ॥३॥

टेढी कील पर जब पड़ता है **'बल'** का हथौड़ा,
बल पर जब पड़ता है **'संकल्प'** का हथौड़ा ।
संकल्प पर जब पड़ता है **'विवेक'** का हथौड़ा,
तब कील सीधी करने का प्रयास कहलाता है सफल हथौड़ा ॥४॥

एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय का करें यदि विश्लेषण,
एकोऽहं से झलकता है प्रभु का अप्रतिम बल ।
बहु स्याम में समाहित है प्रभु का दिव्य संकल्प,
प्रजायेय से प्रदर्शित होता है उनका प्रयोगात्मक विवेक ॥५॥

सृष्टि के हे मानव! सुफल क्रिया के ये तीन हैं सफल आधार,
इसके साथ जिसने की खिलवाड़ वह हो गया निराधार ।
वेणी के समान ग्रथित हैं सफलता के ये तीन सूत्र,
उत्पत्ति-स्थिति-संहार के नियामक हैं ये तीन सूत्र ॥६॥

●

एकोऽहम्

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्

योगसूत्र १/२६

जलस्रोत प्रकाशस्रोत की भाँति है एकोऽहम् ।
चिन्तनस्रोत के चार आयामों से समन्वित है एकोऽहम् ।।
व्यक्तित्व निर्माण की इस अभ्यास-यात्रा में,
अवनि से अम्बर तक की कौतुक-यात्रा में ।
प्रेय से श्रेय की इस जीवन-यात्रा में,
प्रतिभासित होता है यह चिरन्तन तत्त्व ।।१।।

जलस्रोत...

कला का प्रस्तोता होता है **'शिक्षकतत्त्व'**,
तो जीवन-शैली का प्रस्तोता है **'आचार्यतत्त्व'**।
चेतना के गहन मर्म का परिचायक है **'गुरुतत्त्व'**,
तो शिष्य को अपने में समाहित करता है **'सद्गुरुतत्त्व'** ।।२।।

जलस्रोत...

'शिक्षक' होता है अपने विषय का गहन अध्ययनकर्त्ता,
कुशलता से विषय के विविध आयामों का होता है उद्घाटनकर्त्ता।
ज्ञान-समुद्र में कला-कुशलता की उद्दाम तरंगे हैं जिसमें उफनती,
शिक्षार्थी की भी प्रसुप्त प्रतिभा के विकास की कला है उसमें झलकती ।।३।।

जलस्रोत...

शिक्षार्थी के व्यक्तित्व निर्माण का बीड़ा है उठाया जिसने,
स्वच्छ आचरण के क्रियान्वयन का सङ्कल्प लिया है जिसने ।
वाणी से मुखर है आचरण जिसका,
'शिक्षक' नहीं, **'आचार्य'** है स्वरूप उसका ।।४।।

जलस्रोत...

'शिक्षक' में आचार्यत्व नहीं पर आचार्य में भासित होता है शिक्षकत्व,
पावनज्ञान के पथ में होता है, उच्चतर स्थान का भागी **'आचार्य'**।
सत् सङ्कल्पों के गठन का त्राता होता है **'आचार्य'** ।
विचार से व्यवहार की यात्रा का सूत्रधार है **'आचार्य'** ।।५।।

जलस्रोत...

सद्विचार में सद्व्यवहार का ताना-बाना बुनता है **'आचार्य'**,
असफल प्रयास में विजय की ध्वजा फहराता है **'आचार्य'** ।
व्यक्तित्व निर्माण का सूक्ष्म सर्जन कहलाता है **'आचार्य'**,
तपश्चर्या की अग्नि से मल को शोधित करवाता है **'आचार्य'** ।।६।।

जलस्रोत...

बुझे दीपक को प्रज्वलित करता है **'शिक्षक'**,
प्रज्वलित दीपक का ज्योतिर्मय दिव्य प्रकाश है **'आचार्य'** ।
आन्तरिक चेतना के विविध आयामों को अनावृत करता है **'गुरु'**,
शिक्षक और आचार्य की सीमाओं से परे और पार है **'गुरु'** ।।७।।

जलस्रोत...

पिण्ड में समाहित ब्रह्माण्डीय चेतना का भासक होता है **'गुरु'**,
पारसमणि की भाँति दिव्य स्पर्श का बोध कराता है **'गुरु'** ।
तभी देहधारी ईश्वर का पद पाता है **'गुरु'**,
शिष्य को भवसागर के पार गोविन्द के समीप पहुँचाता है **'गुरु'** ।।८।।

जलस्रोत...

शिक्षक, आचार्य, गुरु तीनों से पृथक् भासित होता है **'सद्गुरु'**,
शिष्य को जलधारा की भाँति जो अपने में समाहित करता है।
वह गङ्गासागर में जलधारा की तरह 'सद्गुरु' की पदवी पाता है,
एकोऽहं तत्त्वमसि की अभेदबुद्धि को घर-घर पहुँचाता है **'सद्गुरु'** ।।९।।

जलस्रोत...

बाहरी यात्रा से आन्तरिक यात्रा की ओर अभिमुख होता है 'सद्गुरु',
बीज से महावट, ज्योतिषां ज्योतिः के क्रम में है **'सद्गुरु'**,
कला, ज्ञान, चेतना, महाचेतना के क्रम में है **एकोऽहम्** ।
शिक्षक, आचार्य, गुरु, सद्गुरु में भासित होता है अहं **ब्रह्मास्मि** ।।१०।।

जलस्रोत...

●

सन्देश

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयकरणे पुनरनिष्टप्रसङ्गात्

योगसूत्र ३/५१

याचक से दाता बड़ा समझ ले हे मानव !

मानव-जीवन है प्रभु का प्रसाद, सुख-दुःख है उसका प्रासाद,
जीवन की वह हार क्या, जो न बने ग्रीवा का हार ।
विपत्ति है प्रभु स्मरण का द्वार, जिससे छट जाता है अंधियारा,
सम्पत्ति है प्रभु विस्मरण का मूल, जिससे छा जाता है अंधियारा ।।१।।

याचक से...

पाण्डव की विपत्ति के आधार बने श्रीकृष्ण,
विपत्ति गई, प्रभु गये हो गया अंधियारा ।
सूरज की तपती किरणों में महका है सुरभि-गीत,
मर्माहत रिक्त वंशी से बजता है जीवन-संगीत ।।२।।

याचक से...

दीपक है जीवन का गुरुमन्त्र, साधुता है जिसकी लौ,
सदाचार की बाती बन, स्नेह से लहराये पीर पराई।
स्वयं मर मिटने को तत्पर हो, तब प्रकाश फैलायेगा,
अन्यथा मिट्टी समझकर, पैरों तले रौंदा जायेगा ।।३।।

याचक से...

हंसने से पहले रुदन गीत सीख,
खिलने से पहले मुरझाना सीख ।
दाता से पहले याचक-न्याय सीख,
मृत्यु में लहराता जीवन-दर्शन सीख ।।४।।

याचक से दाता बड़ा समझ ले हे मानव !

●

लेखनी

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः

योगसूत्र २/१

निःशब्द शब्दमयी है लेखनी,
खड्ग नहीं, खड्ग की धार है लेखनी ।
मुखर नहीं, प्रखर है लेखनी,
मौन वंश की गूँज है लेखनी ।
तमस् की प्रकाशपुञ्ज है लेखनी,
निःशब्द शब्दमयी है लेखनी ॥१॥

अन्तस् की ध्वनिपुञ्ज है लेखनी,
भक्ति की भावपुञ्ज है लेखनी ।
शब्दब्रह्म की अभिव्यक्ति है लेखनी,
व्रणों की उपचार है लेखनी ।
निःशब्द शब्दमयी है लेखनी,
खड्ग नहीं, खड्ग की धार है लेखनी ॥२॥

सुख की शीतल समीर है लेखनी,
मित्रता की अभिज्ञान है लेखनी ।
जड़ नहीं चेतन की आभास है लेखनी
चित्रकार की तूलिका की प्रतीक है लेखनी ।
निःशब्द शब्दमयी है लेखनी,
खड्ग नहीं, खड्ग की धार है लेखनी ॥३॥

मृन्मय को चिन्मय बनाने की है लेखनी,
शव में शिव को पहचानने की है लेखनी
हृद्गत भावों की मूर्तरूप है लेखनी,
कृष्ण की वंशी की तरह समर्पित है लेखनी ।
निःशब्द शब्दमयी है लेखनी,
खड्ग नहीं, खड्ग की धार है लेखनी ॥४॥

●

यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्

योगसूत्र ३८२७

तपःपूत ऋषियों का उद्घोष है, यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे ।

प्रकृति-गुणों की समानावस्था है विश्रान्ति, तो विषमावस्था है संक्रान्ति,
पहली स्थिति है प्रलयवाचिका, तो दूसरी है सृष्टि-कालिका।
यह देह सत्त्वादि गुणों के उपमर्द्य-उपमर्दक भाव का है परिणाम,
वात-पित्त-कफ-प्रधान देहयष्टि की उपचारिका है प्रकृति ॥१॥

तपःपूत...

पञ्च तत्त्वों से निर्मित यह देह पाञ्चभौतिक है कहलाता,
आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथ्वी का संस्थान है कहलाता।
शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का संधारक है कहलाता,
गन्धविषयिणी पृथ्वी की प्रधानता से पार्थिव है कहलाता ॥२॥

तपःपूत...

जहाँ पृथ्वी तत्त्व है वहीं गन्ध की होती है परीक्षा,
जलतत्त्व के कारण रसशक्ति का होता है सञ्चार ।
अग्नि की ओजस्विता का धारक कहलाता है रूप,
शरीरसञ्चारी वायु से होती है स्पर्शानुभूति ॥
आकाश के विना शब्द की अनुभूति है प्रवञ्चना ॥३॥

तपःपूत...

सच्छिद्र मृन्मय घट का उपचार भी मिट्टी में है निहित,
कारण में ही कार्य की विकृति का उपचार है निहित ।
शारीरिक विखण्डन का उपचार भी पञ्चभूतों में है निहित,
पञ्च भूतों से खिलवाड़ शरीर को बनाता है विखण्डित ॥४॥

तपःपूत...

बन्द कमरों में बैठकर यन्त्र सञ्चालन से शरीरतन्त्र होता है बाधित,
प्रकृति से तादात्म्य न करने पर होता है असन्तुलित ।
गुरुकुल-प्रणाली में प्रकृति से तादात्म्य बना रहा गुरु-शिष्य का,
शरीर-इन्द्रिय-बुद्धि को प्राकृतिक संजीवनी मिलती रही ॥५॥

तप:पूत...

अन्त:कक्षीय क्रीडा ने मानव को दूर किया है पार्थिव ऊर्जा से,
वातानुकूलित कक्ष से मानव दूर हुआ है निसर्ग समीर से ।
तथाकथित पेय पदार्थों से विमुख हुआ है मानव जलीय रसायनों से,
सूर्योपासना के उपहास से दूर हुए हैं सप्तवर्णीय आभा से ॥६॥

तप:पूत...

शब्द ब्रह्म पर अनास्था रखने वाले दूर हुए हैं आकाशवाणी से,
प्रकृति के नैसर्गिक गुणों से दूर भागता व्यक्ति पहुँचा है मृत्यु के समीप।
प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर मनुष्य ने किया है शरीर का शृङ्गार,
प्राकृतिक आरोग्य है रोगों का रामबाण उपचार ॥७॥ तप:पूत...

आत्मसंयम और आत्मशोधन का बीज हुआ है जिसमें अङ्कुरित,
आसन-प्राणायाम के द्वारा जिसका शरीर हुआ है परिवर्द्धित।
धारणा-ध्यान-समाधि से बुद्धि हुई है तैलधारावत् प्रवाहित,
ऐसे साधक में प्राकृतिक उपचारपद्धति होती है समर्थित ॥८॥

तप:पूत...

शरीर पिण्ड में आये तत्त्वों के असन्तुलन को,
प्राकृतिक चिकित्सा बनाती है तात्त्विक सन्तुलन को ।
आस्था एवं विश्वास के साथ जिसने किया है अनुसरण,
वही समाज में जागृति लाकर कराता है अनुपालन ॥८॥

तप:पूत ऋषियों का उद्घोष है, यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे ।

●

'योगविद्याविमर्श' में उद्धृत उद्धरणों की ग्रन्थ-तालिका

(अ) अद्वयतारकोपनिषद्, अमृतनादोपनिषद्, अमृतबिन्दूपनिषद् अष्टाध्यायी।

(ई) ईशावास्योपनिषद्।

(उ) उत्तररामचरित, उपदेशसाहस्त्री, उपस्कारटीका (वैशेषिक सूत्र)।

(ऋ) ऋग्वेद।

(क) कठोपनिषद्, कुलार्णवतन्त्र।

(ग) गौडपादीयकारिका (शाङ्करभाष्य)।

(घ) घेरण्डसंहिता।

(छ) छान्दोग्योपनिषद्।

(ज) जाबालदर्शनोपनिषद्।

(त) तत्त्ववैशारदी, तत्त्वार्थसूत्र, तन्त्रवार्त्तिक तन्त्रसंग्रह, तेजबिन्दूपनिषद्, तैत्तिरीयब्राह्मण, तैत्तिरीयोपनिषद्, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्।

(ध) धम्मपद, ध्यानबिन्दूपनिषद्।

(न) नागोजीभट्टयोगसूत्रवृत्ति (बृहती), नादबिन्दूपनिषद्, निघण्टु, निरुक्तशास्त्र, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, न्यायसूत्र।

(प) पञ्चशिखाचार्यवचन, पातञ्जलयोगदर्शनवृत्ति, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, प्रश्नोपनिषद् प्रस्थानत्रय (मधुसूदनसरस्वती)।

(ब) बृहदारण्यकोपनिषद्, बौद्धिचर्यावतार, ब्रह्मविद्योपनिषद्, ब्रह्मसूत्र।

(भ) भगवद्गीता, भावचूडामणि, भावागणेशयोगसूत्रवृत्ति।

(म) मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, मनुस्मृति, महानिर्वाणतन्त्र, महावाक्योपनिषद्, महाभारत, महोपनिषद्, मिताक्षरा (याज्ञवल्क्यस्मृति), मुण्डकोपनिषद्, मेरुतन्त्र, मैत्रायण्युपनिषद्।

(य) याज्ञवल्क्यस्मृति, योगकुण्डलिन्युपनिषद्, योगचूडामण्युपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगतारावली, योगदृष्टिसमुच्चय, योगप्रदीपिका, योगभेदद्वात्रिंशिका, योगराजोपनिषद्, योगवार्त्तिक, योगवासिष्ठ, योगशिखोपनिषद्, योगसारसंग्रह, योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र, योगोपनिषद्।

(र) रुद्रयामल।

(व) वराहोपनिषद्, वाक्यपदीय, विवेकचूडामण्युपनिषद्, विष्णुपुराण, विसुद्धिमग्ग, वेदान्तडिण्डिम, वेदान्तपरिभाषा, वेदान्तसार, वैशेषिकसूत्र, व्यासभाष्य। (योगसूत्र)।

(श) शाङ्करभाष्य (ब्रह्मसूत्र), शाण्डिल्योपनिषद्, शाबरभाष्य (जैमिनीयसूत्र), शिवपुराण, श्वेताश्वतरोपनिषद्, श्रीप्रपञ्चसारतन्त्र, श्रीमद्भागवत, श्रीयशोविजयकृता द्वात्रिंशिका, श्रीहरिभद्रसूरिकृता योगविंशिका।

(स) सर्वदर्शनसंग्रह, संयुक्तनिकाय, सांख्यकारिका, सांख्यप्रवचनभाष्य, सांख्यसूत्र, स्कन्दपुराण स्वच्छन्दतन्त्र।

●